

महाकवि कालिदास-कृतम्

विक्रमोर्वशीयम्

(प्रस्तावना-संस्कृतव्याख्याऽनुवादादिमहितम्)

★

व्याख्याकार

डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री

एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,

जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर

★

प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनीप्रसाद

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद-२

१म संस्करण]

१९६८

प्रकाशक

रामनरायणलाल वैनीप्रसाद

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद-२

मुद्रक :

बेसरवानो प्रैस,

इलाहाबाद

प्रास्ताविक

कविपरिवय—कालिदास संस्कृत के मूर्धन्य कवि हैं और कवि समाज में 'कविकुल-गुरु' के नाम से विख्यात है। उनकी काव्यप्रतिभा पर मुग्ध होकर अनेक कवियों ने उन पर अपने श्रद्धा-सुमन चढाये हैं। उनके विषय में यह सूक्ति तो प्रसिद्ध ही है :—

पुरा कवीना गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदासः ।

अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादानामिका सार्थवती बभूव ॥

हाथ की पाँच उँगलियों के नाम हैं, कनिष्ठिका, अनामिका, मध्यमा, तजनी आर अङ्गुष्ठ। इनमें और नाम तो सार्थक है किन्तु अनामिका नाम कैसे पड़ गया यह पता नहीं चलता। इसका उत्तर ऊपर के श्लोक में किसी कवि ने दिया है। वह कहता है कि बहुत पहले लोगो ने कवियों की गणना प्रारम्भ की। कनिष्ठिका (छोटी उँगली) से गिनना शुरू करने पर पहला नाम आया कालिदास। उसके बाद उनकी टक्कर का दूसरा नाम किसी को सूझा ही नहीं। दूसरी उँगली बिना नाम की ही रह गयी। इसलिये वह अनामिका कहलायी। आज तक उनके समान दूसरा कवि न होने से यह नाम सार्थक है।

कादम्बरि और हर्षचरित के रचयिता महाकवि बाण ने उनके विषय में कहा है —

निर्गतासु न वा कस्य कलिदासस्य सुक्तिषु ।

प्रीतिमंधुर साद्रामु मञ्जरोष्विव भुजायते ॥

मधुरस से रसीली अगूर की मजरियों (गुन्डो) जैसी कालिदास की सूक्तियों के निर्गत होने पर कौन प्रसन्न नहीं हो जाता?

मधुर काव्य के बाद पुत्र जयदेव ने तो कालिदास को कविता-कामिनी का विलास ही बतला दिया है। उन्होंने कहा है —

यस्याख्योरश्चिकुरनिकर कर्णपूरो मयूरो,

भासो हास, कविकुलगुरु कालिदासो विलासः ।

हयः हृषीं हृदयवसतिः पञ्चवाणस्तु वाणः,
केपा नैपां भवति कविता कामिनीकौतुकाय ॥

यदि कविता को कामिनी मान लें तो चोर नामक कवि उनके बेरों जैसे, भयूर कवि कर्णकूल सदृश और भास उसके हास के समान लगते हैं। कवि-कुलगुरु कालिदास उसके विलास हैं। श्रीहर्ष प्रफुल्लतातुल्य और वाण उसके हृदय में निवास करने वाले काम जैसे हैं। भला ऐसी कविता-कामिनी वैसे अच्छी नहीं लगेगी ?

जयदेव की इस प्रशस्ति से यह भी स्पष्ट है कि ग्यारहवीं सदी ईसवी के अन्त में कालिदास के लिये 'कविकुल-गुरु' यह विशेषण प्रयुक्त होता था। जयदेव से बहुत पूर्व ही कालिदास की प्रसिद्धि इतनी बढ़ गयी थी कि अन्य कवियों ने भी प्रतिष्ठा के लिये अपने-अपने के नाम आगे कालिदास, नव कालिदास या अभिनव कालिदास यह विशेषण लगाना प्रारम्भ कर दिया था। उनमें मातृगुप्त (कालिदास) तथा नवसाहस्राब्द चरित के प्रणेता पद्मगुप्त परिमल (कालिदास) से तो सब परिचित ही हैं। राजशेखर (ई० ९००) के समय तक ही कम से कम तीन श्रेष्ठ कवि कालिदास के नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे। इसीलिये राजशेखर ने कहा :—

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्,
शृङ्गारे ललितोद्गारे कलिदासत्वयो किमु।

शृङ्गार की ललित अभिव्यक्ति में जब कोई एक ही कालिदास को नहीं जीत पाता तो भला तीन-तीन कालिदासों को कैसे जीत सकेगा ?

कालिदास का समय—ऐसे श्रेष्ठ कवि और नाटककार का जन्म कब और कहाँ हुआ, इस विषय में अभी तक निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। गत कुछ वर्षों में विद्वानों ने इस विषय में बहुत कुछ ऊहापोह किया है किन्तु समस्या के समाधान से अभी तक हम उतनी ही दूर हैं जितने पहले थे। फिर भी उनके बाल को ऊपरी और निचली सीमायें निर्धारण करना कठिन नहीं है। कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक नाटक में शुङ्गवशीय राजा अग्निमित्र के चरित्र का वर्णन किया है। यह अग्निमित्र मौर्यवशीय राजा

बृहद्रथ से उनका साम्राज्य छीनकर अपना साम्राज्य स्थापित करने वाले महाराज पुष्यमित्र शुङ्ग का पुत्र था जिसका समय ई० पू० १५० वर्ष माना जाता है। अतः कालिदास इसके पहले के नहीं हो सकते। कालिदास के नाम का सर्वप्रथम उल्लेख कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन के आश्रित महाकवि वाणभट्ट के ग्रन्थ हर्षचरित की प्रस्तावना में पाया जाता है। इसका उल्लेख ऊपर ही चुका है। दक्षिण भारत के एहोले (Aihole) ग्राम के शिलालेख में भी उनका नाम आया है—“स विजयता रविकीर्ता कविताजित कालिदास-भारवि कीर्ति।” वाणभट्ट का समय लगभग ६२० ई० तथा शिलालेख का ५५६ शक सवत् (६३४ ई०) निश्चित है। कालिदास इसके बाद के नहीं हो सकते। अतः हमें इनका समय ई० पू० १५० से लेकर ६२० ई० के मध्य मानना होगा।

यों तो हम विषय में विद्वानों के अनेक मत रहे हैं किन्तु अब मोटे तौर पर दो विचार ही प्रमुख हैं। प्राचीन यौगों के विद्वान् उन्हें ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का तथा डॉ० मिरासो आदि अधिकांश भारतीय और योरोपीय विद्वान चौथी-पाँचवीं शताब्दी का मानते हैं। इनके तर्क इस प्रकार हैं—

मन्दसोर में ई० सन् ४७३ के प्राप्त वरसभक्ति के शिलालेख पर कालिदास का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। वरसभक्ति अपेक्षाकृत निम्नकोटि का कवि था और उसने कई श्लोकों में कालिदास को नकल की है। अतः कालिदास ४७३ ई० से पहले के होंगे। फिर कालिदास के वर्णनों पर तो वात्स्यायन का प्रभाव है ही, उनकी नवोत्कृष्ट मानी जाने वाली श्लोक चतुष्टयी के एक श्लोक की शब्दांशों तक वात्स्यायन से ली हुयी है। यथा—

शुश्रूषस्व गुरुन्, कुहप्रियसखीवृत्ति सपरनीजने,
भतु विप्रकृताऽपि रोपणतया मास्म प्रतीपं गम ।
भूयिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्तेकिनी,
यान्त्येव गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः । शाकु० ४-१७।
वात्स्यायन ने भा विवाहित स्त्रियों के कर्तव्य इसी प्रकार गिनाये हैं—

स्वश्रू-श्वसुर-परिचर्या, तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता ।

• भोगेष्वनुत्तेकः परिजने, दाक्षिण्यम् ।

• नायकापचारेणु किञ्चित्कलुपता । नात्यर्थं वदेत् । कामसूत्र ।

इससे स्पष्ट ही है कि कालिदास ने कामसूत्र पढ़ा था। कामसूत्र का रचना काल विद्वानों ने २५० ई० के लगभग माना है। अतः कालिदास २५० ई० से पूर्व का नहीं माना जा सकता।

इतना स्पष्ट है कि कालिदास उज्जयिनी में रहते थे। शकारि विक्रमादित्य के आश्रित थे, यह भी लोकविश्वास है। ग्यारहवीं शताब्दी के कवि अभिनन्द ने भी अपने रामचरित में कहा है—'ख्याति कामपि कालिदास-कृतयोनीताः शकारारिणा।' यदि इन सब बातों को मिलाकर देखें तो प्रतीत होता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज-दरवार में रहे होंगे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विन्नमादित्य की पदवी धारण की थी, यह उसके सिक्कों से स्पष्ट है। इसने ३६५ ई० के पास काठियावाड़ के सक्वतीय क्षत्रियों को पूरी तरह नष्ट कर उनका प्रान्त अपने राज्य में मिला लिया था। इसलिए इसे शकारि भी कह सकते हैं। यह बड़ा दानसूर था और लक्ष-लक्ष मुद्राये दान करता था। यह बात पहले कह ही चुके हैं। इसके पदाधिकारी बड़े-बड़े विद्वान् व्यक्तित्व थे। इसके कोत्सशाव नामक मंत्री ने उदयगिरि में खुदवाये लेख में स्वयं को 'शब्दार्थन्यायलोकज्ञ' और 'कवि' कहा है। यह स्वयं कवि था। राजसेखर की वाच्यमीमासा (अ० १०) के 'श्रूयते चोज्जयिन्या वाच्यकारपरीक्षा'। इह कालिदासमेण्डावनामररूपसूर-भार-वय. हरिचन्द्र चन्द्रगुप्तो परीक्षिताविह विशालायाम्।' इस कथन के अनुसार कालिदास भारवि के समान उसने भी विद्वत्सभा के सम्मुख वाच्यपरीक्षा दी थी। सम्भव है कवीन्द्र यथन समुच्चय आदि प्राचीन श्लोक सग्रह-ग्रन्थों में विन्नमादित्य के नाम से संहारित श्लोक चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही हों। कालिदास के वाच्य को यदि सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक दृष्टिकोणों से परखा जाय तो उनमें गृहकार्त्तन परिस्थिति ही प्रतिबिम्बित दिखाई देती है। कालिदास ने जानदक्ष वर रमान-रमान पर गृप्त, गोप्ता आदि गुप् धातु से निष्पन्न शब्दों का प्रयोग किया है। 'सगुप्त मूल प्रत्यन्त', 'आसमुद्र क्षितीक्षा नाम्' 'कुमार यत्प सुपुत्रे कुमारम्' आदि अनेक श्लोकों में गुप्तवशीय राजाओं के संकेत निहित हैं। यदि यह मान लिया जाय तो उनमें ग्रन्थों का जन्म निश्चित करने में सरलता ही जाती है। मालविकाग्निमित्रम् नाटक चन्द्रगुप्त की पुत्री

प्रभावती गुप्ता का बाकाटक नृपति चंद्रसेन द्वितीय के साथ विवाह के अवसर पर, मेघदूत कालिदास के बाकाटक दरवार में रहते हुये रामटेकपर, कुमारसम्भव चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्मावसर पर, विष्णुमोक्षीय स्वयं चन्द्रगुप्त के जीवन पर लिखा गया होगा। यह माना जा सकता है। रघुवश में रघु की दिग्विजय पर चन्द्रगुप्त की विजय-यात्रा की छाया हो सकती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३८० से ४१३ ई० तक राज्य किया। अतः कालिदास का समय चौथी शती का अन्त और पाँचवीं का प्रारम्भ माना जा सकता है।

निष्कर्ष—यही जो अन्तिम मत उद्धृत किया गया है वह अधिकांश आधुनिक विद्वानों का है। इसे अन्तिम और निर्णायक नहीं मानना चाहिये। अब तक संस्कृत साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का समय निश्चित न हो जाय तक तक कालिदास का काल विवादास्पद ही बना रहेगा। कालिदास की कृतियों में वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान की अदभ्य भावना स्पष्ट देखी जा सकती है। यज्ञ-याग पर उनकी असीम श्रद्धा थी और उसकी अत्यन्त सूक्ष्म और श्रेयस्य जानकारी उनके ग्रन्थों में उपलब्ध है। मुनिगो के आश्रमों में तो ऐसा लगता है, जैसे वे स्वयं रहें हों। आश्रमों का ऐसा चित्रण यथार्थ वर्णन पुराणों में पढ़कर ही नहीं किया जा सकता। उन्होंने तीन ही आश्रमों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है, चतुर्थ का नहीं। चतुर्थ आश्रम वैदिक ही नहीं, बौद्ध ने उसका प्रचलन किया है। उपनिषद्, गीता, साध्य-योग दर्शन, मनुस्मृति, कामसूत्र, बौद्धिक अर्थशास्त्र, भारतीय नाट्यशास्त्र, प्रमुख पुराण रामायण, महाभारत, अद्वययोग, भास ये सब कालिदास से पूर्व के हैं इसमें सन्देह नहीं। पुराणों में सुरक्षित प्रायः नन्दस्त प्राचीन आख्यान, विश्वास और धारणायें कालिदास के काव्यों में देखी जा सकती हैं। भाषा भी उनके समय तक काफी समृद्ध हो चुकी थी। उसमें अभिव्यक्ति-क्षमता पूरी तरह आ गयी थी। चित्र, आलेखन, संगीत, नृत्य, मूर्ति-निर्माण आदि कलायें पूर्णतया समृद्ध हो चुकी थी और समस्त इन पर शास्त्रग्रन्थ विद्यमान थे। ऋतु-रुहार से लेकर रघुवश तक उनके समस्त ग्रन्थों में शान्ति, समृद्धि और सुख-

जन्य कलाविलास मुख्य है। ये सारी बातें उनके गुप्तकालीन होने की धारणा को पुष्ट करती हैं।

यह सब होन पर भी प्राचीन विचारों के विद्वान ई० पूर्ब प्रथम शती के विश्वास को छाड़ने से हिचकते हैं। उनका विचार है कि ई० पू० ५७ से विक्रम मवत् का प्रारम्भ करने वाल शकों के उच्छेत्ता सम्राट विक्रमादित्य मालव-गणाधिपति थे। उन्होंने गण' के नाम से उनके ढलवाये अपने नाम से नहीं। इसीलिये उनके निजी नाम के उनके उपलब्ध नहीं हैं। मालव लोग मुख्यतः वर्तमान मालवा के निवासी थे और वहाँ से वे राजपूताना आदि पश्चिमी प्रदेश में गये। राजपूताना में मालवा में नहीं आये जैसा कि पाश्चात्य इतिहासकारों का मत है। गुप्त राजाओं का वंश बहुत प्रतिष्ठित नहीं था। प्राचीन साहित्य में उमला सम्मानपूर्वक उल्लेख नहीं मिलता। विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने पर भी चन्द्रगुप्त की प्रसिद्धि इस रूप में नहीं रही। उनका उल्लेख सर्वत्र चन्द्रगुप्त के नाम से ही मिलता है शकारि के रूप में नहीं। विशाख दत्त के नाटक 'देवी चन्द्रगुप्तम' तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार उत्तने अपने बड़े भाई रामगुप्त ने राज्य हथिया कर उनकी पत्नी ध्रुवस्वामिनी से विवाह भी कर लिया था। इ दृष्टि में चन्द्रगुप्त कुछ बहुत उदात्त चरित भी नहीं माना जा सकता। देविक महत्कृति का पुनरुत्थान तथा अन्य परिस्थितियों कारण विक्रमादित्य (ई० पू० ५७) में भी पैगी ही थी। अतः य लाग चतुर्थ शती को स्वीकार करने का संसार नहीं है।

दास जन्म में ब्राह्मण थे, अतः उनकी शिक्षा-दीक्षा उनी वातावरण में हुई। उनके ग्रन्थों के अध्ययन से प्रकट है कि उनका अध्ययन-क्षेत्र बहुत विद्याल था। उनकी कृतियों में निम्नलिखित ग्रन्थों या विषयों के उल्लेख मिलते हैं—ऋग्वेद, अतस्य तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थ, गृह्य, धर्म और धर्मसूत्र, उत्तिपद्, गीता, निरुक्त, व्याकरण, वैश्व छन्द-शास्त्र, ज्योतिष, साह्य योग, वेदान्त महानाथ्य, पुगण, अंगशास्त्र, कामसूत्र, मनुस्मृति युक्तीति, नाट्यशास्त्र, संगीत शास्त्र, चित्रकला रामायण, महानारत अरवधोप, भास, सौमिल्लकविभुव आदि के ग्रन्थ। कालिदास के समय में तजमिला, नालन्दा बलमी और उज्जैन जैसे बड़े-बड़े विद्यापीठ वर्तमान थे जिनमें राजदन्वय स्मृति के अनुसार निम्नलिखित विचारों पटावी जाती थी—

पुराण ग्वाय-मोमाना-धर्मशास्त्राङ्ग मिश्रिताः ।

वेदा स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश ॥

चित्रकला, नगीन और नृत्य का उन्हें बहुत सूक्ष्म ज्ञान था। भारत के पर्वतों, नदियों प्रान्ता, नगरों, फसल दृश. लता, पशु-पक्षी आदि का जितना शुद्ध और व्यापक वर्णन उन्होंने किया है, उने देवकर आश्चर्य होता है। हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक अफगानिस्तान-बलख से लेकर ब्रह्मदेश तक के प्रदेश की बहुत सूक्ष्म और प्रत्यक्ष जानकारी उन्हें थी। बान्हीक में बसु के किनारे केसर के पौधों का, बगाल में कालिघान्न का और दक्षिण में ताम्रपर्णी नदी के किनारे मोतियों का वर्णन उन्हीं ने किया है। अपने देश के भूगोल की इतनी व्यापक जानकारी अन्य क्विती कवि को नहीं थी। इससे मान्य होता है कि उन्होंने बहुत अधिक अध्ययन किया था।

कालिदास का जीवन—गृहस्थाश्रम की पवित्रता पर उनकी बड़ा श्रद्धा थी। उन्होंने उनकी प्रथमा 'सर्वोदकार क्षम' यह वर का है। बौद्ध-विहारों में भ्रमण से सीधे भिक्षु भिक्षुनी बनने वाले युवकों की दुर्दशा के देख चुके थे। वे मानते थे कि ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम आवश्यक है। उनकी शकुन्तला वचन में आश्रम में पल वर जीवन के प्रथम क्षणों में ही गार्हस्थ्य का वरण कर लेनी है। कवि ने जान-बूझ कर यह स्थिति योजित की है। प्रेम की उदात्तता में उनका विश्वास था। निम्नकोटि के काविक आकर्षण से ऊपर

उठ कर तप-तप कर आलोकित होने वाले प्रेम पर उनकी आस्था थी। इस सम्बन्ध में बल्लल सेन के भोजन प्रबन्ध ने जनसाधारणमें बड़ी भ्रान्ति फैलायी और समाज में इस तरह का विश्वास सा जमा दिया कि कालिदास चारित्रिक दृष्टि से ऊँचे न थे। इस प्रकार की सारी बातें—जिनमें किसी राजकुमारी से प्रताडित होकर उनके विद्याध्ययन और बाद में उसके 'अस्ति-कश्चिद् वाग्बिधोष' इस वाक्य के प्रत्येक शब्द पर एक एक काव्य रचने वाली बात भी शामिल है—कोरी गप्पे हैं। बल्लल सेन के समान जैनाचार्य मेघनुग के प्रबन्धचिन्तामणि में कालिदासविषयक दन्तकथाओं का समावेश है जो कालिदास के लगभग हजार वर्ष बाद गढ़ ली गयी हैं।

राज दरबार में सम्मानित कवि के रूप में रहने के कारण वे सरस्वती और लक्ष्मी दोनों के कृपापात्र थे। उनका जीवन निश्चिन्तता के साथ बीता। वे खान पान एवं रहन सहन में बलाप्रिय थे। सुन्दरता के प्रति उन्हें अनुरक्ति थी। उनका विश्वास था कि सुन्दरता में सद्गुण निवास करते हैं। 'न ही दृशा आवृत्तिविशेषा गुणव्यभिचारिणो भवन्ति।' इस बात को उन्होंने अनेक बार कहा है।

कालिदास आस्तिक थे। वे मुख्यतः शिवोपासक थे किन्तु वे स्मार्त। ब्रह्म, विष्णु और शिव तीनों का वे एकरूप मानते थे और एक मानकर पूजते थे। उनकी रचनाओं से उनके दीर्घजीवी होने का अनुमान होता है। ऐसा लगता है कि सतुष्ट मुखी जीवन के बाद वृद्धावस्था में उनकी मृत्यु हुई।

यह भी प्रवाद है कि जीवन के अन्तिम दिनों में अपने मित्र और सहल द्वीप के शासक कुमारदास के आमन्त्रण पर वे लका गये। वहाँ उन्होंने एक वेश्या से मुना कि 'कमले कमलोत्पत्ति श्रूयते न तु दृश्यते' इग समस्या की पूर्ति पर कुमार दास बहूत बडा पुरस्कार देने वांछे हैं। कालिदास ने शट समस्या की पूर्ति कर दी।

वाले तप मुग्धाभोजे कथमिन्दीवरद्वयम् ?

वदया ने यह पूर्ति करके धन के लालच में उतारा बंध करा दिया। इस वदया में कुमार दास भी बिलिप्त हो गये और वे कालिदास की ही पिता

में कूद कर मर गये। सिंहल के माटर नामक प्रदेश में किरिन्दी नदी के मुहाने पर अभी भी कालिदास का चिता स्थल बताया जाता है। यह बात भी सत्य नहीं है क्योंकि जानकी-हरण का कवि, जिस पर कालिदास का बहुत प्रभाव है, सिंहल का राजा नहीं था और न वह कालिदास का समकालीन हो। कुमारदास का समय अष्टम शताब्दी है और कालिदास का चतुर्थ।

रचनायें—कालिदास की रचनाओं के सम्बन्ध में अतीत काल में विद्वानों में काफ़ी मतभेद रहा है। किसी किसी विद्वान ने तो उनके तीस-मेंतीस ग्रन्थों तक का निर्देश किया है जिनके ज्योतिष, रत्नपरीक्षा और देवस्तोत्र तक शामिल थे; किन्तु अब पर्याप्त छान बीन के बाद विद्वान उनके बनाये गये मात्र ग्रन्थ स्वीकार करते हैं जिनमें ऋतुसंहार और मेघदूत दो गीतिकाव्य, कुमारसम्भव और रघुवश ये दो महाकाव्य तथा मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञानशाकुन्तलम् ये तीन नाटक हैं। कुन्तलेश्वर दौत्य को क्षेमेन्द्र ने कालिदास की कृति बताया है किन्तु आजकल वह उपलब्ध नहीं है। काव्य-मीमांसा और शृंगार-प्रकाश (भोजवृत्त) में उसके उद्धरण अवश्य उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि प्रभावती गुप्त के पति का देहान्त हो जाने पर और उनके पुत्रों के छोटे होने पर चन्द्रगुप्त ने वहाँ के सामन की देख-रेख के लिये जिन विश्वस्त लोगों को विदर्भ भेजा था उनमें कालिदास भी थे। विदर्भ के वाकाटकों की राजधानी नन्दिवर्धन में रह कर ही उन्होंने कुन्तलेश्वर दौत्य लिखा। यह कुन्तलेश्वर चन्द्रगुप्त का नाती, वाकाटक प्रवरसेन द्वितीय अर्थात् प्रभावती गुप्त का छोटा पुत्र था। यह बात अजन्ता के एक शिलालेख और श्रीकृष्ण कवि के भरतवर्ति (लोकेश्वरान्तमपूर्व सेतुबन्ध कीर्त्या रुह कुन्तलेश्वर) से सात होती है कि वाकाटक कुन्तलेश्वर उपाधि का प्रयोग करते थे क्योंकि प्रवरसेन के पितामह पृथ्वीसेन ने कुन्तलाधिपति को हराया था। कुन्तलेश्वर दौत्य के अतिरिक्त कालिदास ने सेतुबन्ध के निर्माण में या तो प्रवरसेन की सहायता की थी या उसका ससोधन किया था।

कालिदास का महत्त्व—संस्कृत कवियों में जितना यश कालिदास को प्राप्त हुआ है उतना अन्य किसी कवि को नहीं। मम्मट ने काव्यप्रकाश में यश-

प्राप्ति को भी काव्य का उद्देश्य बतलाते हुये उदाहरण के रूप में कालिदास का नाम लिया है। ध्वन्यालोक की टीका में आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है—

अस्मिन्नति विचित्र कवि परम्परावाहिनि ससारे कालिदासप्रभृतयो
द्वित्रा पञ्चपा वा महाकाव्य इति गण्यन्ते ।

अर्थात् अत्यन्त विचित्र कवि परम्परा वाले इस ससार में कालिदासादिक दो-तीन या अधिक से अधिक पाँच-छ. महाकवि माने जाते हैं। तब प्रश्न उठता है कि कालिदास के काव्य में ऐसी कौन-सी बात है जो उन्हें अन्य कवियों से ऊँचा उठाती है? उनके काव्य की धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक शिव-माधना की बात छोड़ कर विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखें तो उनका आशिक उत्तर ऋष्य कवियों द्वारा लिखी गयी उनकी प्रशस्तियों में भी मिल जायगा। जयदेव ने उसे सर्वाधिक रमणीय (विलास) कहा है। इस रमणीयता ने ही कालिदास को कविकुरु गुरु बनाया है। दण्डी के मत से उनकी वाणी में माधुर्य बहुत अधिक है और वे वैदर्भी शैली के मार्गदर्शक हैं—

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिर ।

तेनेद वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ।

वाण उनको उक्तियों को मधुरम से भोगी कहते हैं। राजशेखर के मत से भी वे ललित उद्गार वाले शृङ्गार रस के कवि हैं। श्रीकृष्ण कवि ने इसके अतिरिक्त भा उनकी कविता के कुछ गुण बतलाये हैं। उनके मत में वह दास रहित है, गुणो स युक्त है और जितना ही उसे रगडो अर्थात् बार-बार पढा उन पर विचार करो, उतनी ही आषक हृद्य भासूम होती है। इस बात का उहाने बड़े सुन्दर शिल्प ढग से कहा है—

अस्पृष्टदोषा ननिनी व दृष्टा, हारावलीव ग्रथिता गुणीधे ।

प्रियाङ्गु पालीव विमर्दं हृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

गोटद्वय कवि उनकी वाणी की शुद्धता, मृदुता और रमयता पर मुग्ध हैं और रघुवग को विगपत उनकी ख्याति का कारण मानते हैं —

रयान धवि कोऽपि च कालिदास शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य-
वाणी मिषाचचण्ड मरीचि गोत्रसिन्धो परपारमवाप वाणी ।

एक सुभाषित के अनुसार उनका शाकुन्तल सारे नाटकों में श्रेष्ठ है और उसमें भी चतुर्थ अङ्क के चार श्लोक जिनमें वात्सल्य और स्नेह मुखरित हुआ है। यथा—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यां शाकुन्तला ।
तत्राऽपि चतुर्थोऽङ्कस्तत्रश्लोकं चतुष्टयम् ।

किन्ती नमीशंकर के अनुसार कालिदास उपमा में अन्य कवियों से बढ कर हैं। महाकवि पेट (जर्मनदेशीय) के मत से उनके शाकुन्तल में स्वर्ग और पृथ्वी का नारा बंधन और वन्दन का नारा नौन्दर्य दिखमान है—

वासन्त कुसुम फलं च युगपत् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्,
यच्चान्वमनसो रसायन मतं सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा न्वर्लोनूलोकयो ।

कालिदास की विशेषताएँ—ऐश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियन्खे शाकुन्तल सेव्यनाम् । अखिर कालिदास के भाष्य का कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कोई एक बात कह सकना कठिन है। दूसरे काव्य-नौन्दर्य के कारण भिन्न हो सकते हैं और नाटक-नौन्दर्य के भिन्न। काव्य में भी गीति-काव्य और महाकाव्य की नमीजा के मापदण्ड अलग-अलग होते हैं। फिर कोई एक गुण चाहे वह कितना ही महत्वपूर्ण या अधिक हो, काव्य का शोभादायक नहीं हो सकता। अनेक छोटी-बड़ी बातें मिल कर ही किन्ती रचना को श्रेष्ठ बनाती हैं। इस दृष्टि से देखें तो कालिदास के काव्य में अन्य कवियों की अपेक्षा निम्नलिखित वैशिष्ट्य हैं।

कालिदास मानवीय प्रकृति के सूक्ष्म ज्ञाता और भर्त्सक विवेचक हैं। वे सीधे उन स्थलों का स्पर्श करते हैं जो कोमल और मधुर हैं। उन्होंने हृदय की कोमल प्रकृतियों का उद्घाटन अधिक किया है। उनके वीर रत्न के वर्णनों तक में (यथा रघु-इन्द्र युद्ध) कोमलता का पुट है। उन्होंने वर्णन के लिये ऐसे प्रसंगों और परिस्थितियों को चुना है जिनमें मानव-मन रसता है और जिनके

प्रति पाठक को सहानुभूति पहले से ही रहती है। दूसरे वे अत्यधिक सहानुभूति और ममता के कवि हैं। नायक, नायिका ही नहीं पशु-पक्षी वृक्ष, वनस्पति के प्रति भी उनके मन में स्नेह है और वे एक प्रकार से उनके परिवार के अंग बन कर काव्य में उपस्थित होते हैं। तीसरे, कालिदास ने प्रकृति का अवलोकन इतनी निकटता से किया है कि वह उनके जीवन का अंग बन गयी है। विश्व के किसी कवि की प्रकृति के साथ इतनी घनिष्ट मैत्री नहीं है। जिस प्रकार माता बालक के रोम-रोम से परिचित तो होती ही है उसके मन की नीरव भाषा, और आँखों के संकेत को पढ़ लेती है उसी प्रकार कालिदास धन, वृक्ष, वारिध, नदी, पर्वत, आकाश, ऋतु, वन्य जगत सब के रोम रोम से परिचित हैं। वे प्रकृति की भाषा समझते हैं। वे हर फूल, पल्लव से वार्तालाप कर सकते हैं। चौथे वे अपने पाठक के साथ औपचारिकता नहीं बरतते, उससे सीधे-सीधे बात करते हैं। भाषा, अलंकार आदि शैलीगत सजा उनके पीछे-पीछे चलती है, वे उसके लिये रुकते नहीं। पाँचवें, वे ऐसी कोई बात नहीं कहते जो सिर्फ कहने के लिये कही गयी हो। उतना ही कहते हैं जितना आवश्यक है। काव्यगत पाण्डित्य या प्रभावोत्पादकता से प्रेरित उनका कोई काव्य नहीं है। छठें, वे जिम प्रकार जीवन में मुरचि और परिष्कार के व्यक्ति थे उसी प्रकार के कवि भी हैं। उनके काव्य में सर्वत्र आभिजात्य मुखरित है—भाषा में भी और भाव में भी। मृदुता, कोमलता, सरलता, स्पष्टता और सौन्दर्य को छोड़ कर वे एक पग भी नहीं चले। वे हर सड़ी-गली वस्तु से उसका सौन्दर्य सार खींच लेने में सिद्धहस्त हैं। सातवें, वे आशा, उत्साह और आस्था के कवि हैं। उनके मधुमुख उदात्त लक्ष्य रहा है जिससे उनकी रचनाएँ संप्रान हुई हैं और शिव की ओर प्रेरित करती हैं। कालिदास निर्गुण, विनत, बहुश्रुत, और स्वाभिमानों हैं। इसका प्रभाव उनके काव्य पर बहुत अनुकूल पड़ा है। इससे उनमें गम्भीर चिन्तन और लचक दोनों साथ-साथ पाये जाते हैं।

उपर्युक्त गुणों का प्रभाव उनकी वर्णनशैली पर स्पष्ट है। सूक्ष्म निरीक्षण के कारण वे कहीं से समान प्रभावोत्पादक सादृश्य लेकर वर्णन वस्तु का प्रभाव दुगुना कर देते हैं। ये सादृश्य या उपमान इतने निश्चय के होते हैं कि पाठक उनमें सुरन्त आत्मीयता स्थापित कर लेता है। कालिदास का सायद

ही कोई उपमान अनरिचित या दूर से लाकर खड़ा किया हुआ हो। जहाँ उपमान अनूर्ण होने हैं वहाँ भी व मूर्तिवत् सामने विद्यमान-से प्रणीत होते हैं। जैसे—

ता देवतापित्रतियि क्रियार्थमन्वगययी मध्यलोकपालः।

वभ्रौ च सा तेव सता मनेन श्रद्धेव वा साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥

राजा नन्दिनी के पीछे-पीछे चल रहे हैं। उनके साथ चलने से गाय की ओभा और बढ गयी है। कालिदास उपमा देते हैं—जैसे विधि के साथ श्रद्धा हो। श्रद्धा के साथ यदि विधि (शास्त्र-पम्मत क्रिया) न हो तो निरर्थक हो जायगी अथवा अन्धविश्वास का रूप ग्रहण कर लेगी। कवि ने विधि का विशेषण दिया है—पता मतेन जो दोनों ओर बडे सुन्दर ढग से लागू होता है। इसी प्रकार गी का विशेषण है 'देवता पित्रतियि क्रियार्थ' जो श्रद्धा पर भी उसी प्रकार लागू होता है। श्रद्धा के पात्र और अधिकारी भी ये ही होते हैं। इसी प्रकार 'मार्गं मनुष्येवर धर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।' जैसी उपमाये हैं। ये सब उपमायें वर्ण्य का भव्य रूप खडा कर देती हैं और उनके प्रभाव को बढाती हैं। उनका शायद ही कोई उपमान अधूरा हो। लिङ्ग या वचन भेद भी उनके उम्मानों में नहीं होता। इन कारण वे उपमेय पर पूरी तरह चिक्क जाते हैं। वे कभी अकारण उपमा नहीं देते और न सुपरिचित वर्ण्य के लिये अन्पपरिचित उपमान खोजते हैं। ममप्रभावी और सुपरिचित होने के कारण उनकी उपमायें और कवियों से अधिक सुन्दर बन पडो हैं।

आवश्यकता से अधिक न बोलने और बात को सकेत से कह देने के स्वभाव के कारण उनके काव्य में ह्वन्यात्मकता आ गयी है। कुमारलम्भव का यह उदाहरण तो प्रसिद्ध ही है—

• एवं वादिनि देवर्षी पार्श्वेपितुरघोमुखी ।

लीला कमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

इस दशोक में अलङ्कार एक भी नहीं है तो भी 'कमलपत्र की गणना' से पार्वती को लज्जा, सकोध, प्रेम और आनन्द इन सब की अभिव्यक्ति कितने सुन्दर ढग से हो गयी है।

विनादप्रियता और प्रमदावतता न कालिदास के हा गुण का ही निस्कार दिया है। यह बात नहीं कि कालिदास का रचनाश्रम शायद नहीं। वही उनमें अदलीलाता भा आ गया है। यथा—ज्ञानव्यासो विवृतदण्डो यो विहातु गमयं ।

कुमारसम्भवम् म तो इसका परिमाण और भा अधिक है। कदा-कदा अनौचित्य भी है और रस-दाप भी है। प्युनामृति दाप को न्याय क्व विनी कवि में उनसे बढ़ कर हा। व्याकरण का दृष्टि में सूचित प्रयोग यथा—प्रियम्बदम् वाग्याप्तान्, आः, पातया 'प्रथम मान आदि तदा यजमनं समासो का प्रयोग उन्हा सूच दिया है किन्तु कालिदास के हा गद्यों में हद कह सकते हैं—

एको हि दोषा गुण-मन्निपाने निमज्जनान्दो किरणव्याङ्क ।

कालिदास ने नाटक—कालिदास का रचनाश्रम उनके काव्य उत्कृष्ट तर हैं य नाटक अर्थात् कवि कालिदास का अधिक उत्कृष्टतर है यह नाटककार इस प्रश्न पर कई बार विद्वानों में विचार हा जाना है। कई लोग उन्हें नाटककार को दृष्टि से परिष्ठ मानते हैं यद्यपि काव्य-ज्ञान में उनका स्थान कहा है जो नाटको के क्षेत्र में। दोनों जगह मूढ न हैं। उनके काव्य भा प्रौढता की दृष्टि से प्रथम, द्वितीय और तृतीय काटिया में रखे जा सकते हैं और नाटक भी। सब प्रश्न यह रह जाता है कि सादृष्टि में किस उत्कृष्ट माना जाय—काव्य को या नाटक को? संस्कृत साहित्यशास्त्रियों ने काव्य के क्षेत्र श्रव्य और नाटक के श्रव्य और दृश्य दोनों हाने के कारण नाटक को अधिक उत्कृष्ट बतलाया है—'काव्येषु नाटक रम्यम्'। इन प्रश्न का यह उत्तर नहीं है। दोनों के दो अलग क्षण हैं। सामान्य जन नाटक में अधिक रुचि लेते हैं और विकसित बौद्धिक चेतना के लोग काव्य में। व नाटको में उतनी ही रुचि लेते हैं जितनी उनमें कलात्मक उत्कृष्टता होती है। संस्कृत में तो नाटक भी काव्य के ही अन्तर्गत माने गये हैं और नाटककार को भी कवि की सजा ही दी गयी है।

कालिदास ने तीन नाटक लिखे हैं—मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञान शाकुन्तलम्। प्रथम में शुगवशीय सम्राट् पुष्यमित्र के पुत्र

अग्निमित्र और मालविका की, विक्रमोर्वशीयम् में पुरुरवा और उर्वशी की तथा अभिज्ञानदाकुन्तलम् में दुष्यन्त और दकुन्तला की प्रणय-कथा वर्णित है।

विक्रमोर्वशीयम्

रचना-क्रम तथा कला-सौष्ठव दोनों की दृष्टि से विक्रमोर्वशीयम् का स्थान मालविकाग्निमित्रम् और द्वाकुन्तलम् के बीच में है। इसमें पुरुरवा और उर्वशी की प्रणय-कथा वर्णित है जो इस प्रकार है :—

अंक १—एक बार प्रतिष्ठानपुर का सोमवशीय राजा सूर्य की पूजा करके हेमकूट शिखर के पास से लौट रहा था कि उसके बान में स्त्रियों का आतंनद पडा। पूछने पर पता चला कि केशी नामक दैत्य उर्वशी और उसकी सुखी चित्रलेखा को पकड ले गया है इसलिये उनकी सखियाँ दुःख से चीख रही हैं। यह सुन्ते ही राजा शेष अप्सराओं को हेमकूट शिखर पर ठहरने का निर्देश कर उन दोनों की रक्षा के लिये दौड पडता है। थोडी देर बाद वह चित्रलेखा तथा मूर्च्छित उर्वशी को लेकर लौट आता है। शीघ्र ही उर्वशी होश में आ जाती है किन्तु राजा उसका सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो जाता है। उर्वशी का मन राजा के शौर्य और सद्व्यवहार से उसके प्रति आकृष्ट होता है। वे आपस में बात-चीत करते ही होते हैं कि चित्ररथ नाम का गन्धर्व आकर सूचना देता है कि उर्वशीहरण का समाचार पाकर इन्द्र ने गन्धर्व सेना को वापिस लाने का आदेश दिया था किन्तु मार्ग में आपके पराक्रम का समाचार सुनकर मैं आपके पास चला आया हूँ। आपने इन्द्र का बडा उपकार किया है। अब आप उर्वशी को लेकर इन्द्र के पास चलिये। पुरुरवा कहता है कि हम लोग तो इन्द्र के ही प्रभाव से विजयी होते हैं किन्तु अभी इन्द्र के पास चलने के लिये मुझे अवकाश नहीं है, अतः आप ही इन्हें लेकर जाइये। सब लोग आकाशपान से चल देते हैं। उर्वशी लता में अटकी हुई अपनी मोतियों की माला छुडाने के वहाने एक बार राजा को देखने के लिये रुक जाती है। बाद में दोनों अपने-अपने गन्तव्य को चले जाते हैं।

अंक २—राजा अपने प्रेम की बात विदूषक को बतला देता है किन्तु उसे गुप्त रखने की आज्ञा भी दे देता है। राजा के व्यवहार में पहले जैसा माधुर्य न

देखकर रानी औशानरी अपनी बेटी निपुणिका को राजा के पास भेजना है और चतुराई से विदूषक से सारा रहस्य जान लेता है। उधर राजा राज-कार्य रखने के बाद मनोविनोद के लिये विदूषक के साथ प्रमदवन म जाता है। वहाँ वह उर्वशी के समागम का कोई उपाय ढूँढने के लिये विदूषक से कहता है। इतने में उर्वशी और चित्रलेखा भी वहाँ आती हैं किन्तु व उनकी बातचीत सुनने के लिये तिरस्करिणी-विद्या से अपने को छिपाये रखती हैं। उर्वशी राजा के मुख से उसकी प्रेमकथा सुनकर भोजपत्र पर दो श्लोको म अपन प्रेम की त प्रता लिखकर भोजपत्र उनके पास फेंक देती है। राजा भोजपत्र पढ़कर आनन्द में मग्न हा जाता है और सँभाल कर रखने के लिये भोजपत्र विदूषक को दे देता है। उर्वशी और चित्रलेखा प्रकट हो जाती है। अभी बातचीत चल रही होती है कि इन्द्र की आज्ञा से भरत द्वारा अभिनीत किये जाने वाले नाटक में भाग लेने के लिये उर्वशी को बुलाने के लिये देवदूत आ जाता है। उर्वशी चली जाती है। तब राजा मन बहलाने के लिये विदूषक से भोजपत्र माँगता है किन्तु भोजपत्र विदूषक के हाथ से छूटकर उड़ जाता है और निपुणिका के साथ उधर ही आती हुई रानी औशानरी के तुरुर में जा अटकता है। निपुणिका पत्र पढ़कर रानी को समझाती है। रानी राजा के पास पहुँच कर जब उसे भोजपत्र ढूँढने में व्यस्त देखती है तो भोजपत्र उसे दे देती है। राजा क्षम से रानी के पैरो पर गिर जाता है किन्तु रानी आवेश में उसे छोड़कर चली जाती है। विदूषक कहता है, 'अच्छा हुआ चली गयी,' तो राजा उसकी बात काट कर कहता है कि मेरे मन में रानी के लिये आदर है, भले ही मैं उर्वशी से भी प्रेम करता हों।

अंक ३—गालव के दो शिष्य आते हैं और परस्पर वार्तालाप करते हुये वतलाते हैं कि इन्द्र-सभा में सरस्वतीद्वारा 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नाटक खेला गया था। उसमें मेनका ने वारुणी और उर्वशी ने लक्ष्मी का अभिनय किया था। उसमें वारुणी ने पूछा कि विष्णुसहित सब लोकपाल यहाँ आये हैं। तुम उनमें से किसे पसन्द करती हो। इसके उत्तर में उर्वशी को कहना था 'पुरुषोत्तम को' किन्तु ध्यान वहीं और होने से यह कह गयी 'पुरुखा' को। तब भरत मुनि ने गूढ़ होकर उसे शाप दे दिया कि वह स्वर्ग से भ्रष्ट हो जाय। किन्तु नाटक

अन्त में उर्वशी को उदास देखकर इन्द्र ने कहा कि पुरूरवा मेरा मित्र है। इस-
लिये तुम उसके पास जाकर रहो किन्तु जब वह पुत्र का मुख देख ले तो तुम
उसे छोड़कर फिर स्वर्ग चली आना। दूसरी ओर, रानी पुरूरवा के पास सन्देश
भेजती है कि आज मणिहर्म्य की छत्र पर चन्द्रमा बहुत सुन्दर है अतः उसका
रोहिणी के साथ सयोग होने तक मैं वहाँ आपके साथ बैठना चाहती हूँ। राजा
छत्र पर जाता है। इतने में अभिसारिका का वेश धारण कर चन्द्रलेखा के साथ
उर्वशी वहाँ प्रकट होती है किन्तु औसीनरी को आता देख छिप जाती है।
राजा जब 'देवी' कहकर रानी को बुझता है तो उसके रूप को देखकर उर्वशी
कहती है कि यह सवमुव इस सवोपन के योग्य है। यह इन्द्राणी से किस तरह
कम नहीं है। रानी चन्द्र विष्णो की पूजा कर राजा से सविनय कहती
है कि मैं रोहिणी-चन्द्र की जोड़ी को साक्षी करके कहती हूँ कि जिसका
आपके प्रति प्रेम है और जिसके प्रति आम्हो प्रेम है उसके साथ मैं भी प्रेम
का व्यवहार करूँगी। रानी चली जाती है तब उर्वशी प्रकट होती है। कुशल-
प्रश्न के बाद चित्रलेखा यह कहकर कि मुझे वमन ऋतु पूर्ण होने पर गर्मी
में सूर्य की पूजा करनी है, उर्वशी को राजा के पास छोड़कर चली जाती है।

अंक ४—उर्वशी के आने के बाद राजा राज्य का भार मंत्रियों पर
छोड़कर स्वयं मिहार के लिये गन्धमादन पर्वत पर चला जाता है। वहाँ एक
दिन नदी के तट पर वानू के ढहे वाक खेती हुई किसी विद्याार कुमारी
की ओर वह दबने लगता है। इस पर उर्वशी क्रुद्ध होकर चली जाती है और
अनजाने वारिकेय के वन में, जहाँ मित्रों को जाना बर्जित था, घुस जाती है।
वहाँ घुसते ही वह लना बन जाती है। अब राजा उर्वशी को ढूँढता हुआ सारे
वन में विलाप करता फिरता है। बहुत विलाप करने पर उसे वन में एक रक्त
वर्ण की मणि मिलती है। एक ऋषि के कहने से कि यह सगमनीय मणि है
और प्रिय-सयोग करा सकती है, राजा उसे ले लेता है और जैने ही पास में
स्थित एक सुन्दर लता का आलिङ्गन करता है कि वह उर्वशी के रूप में
परिणत हो जाती है। इसके बाद वे दोषा राजधानी को लौट आते हैं।

अंक ५—एक दिन राजा गंगा धनुन के मगम पर रानी के साथ स्नान
कर करड़े पहन रहा था कि एक वृत्र उसे मात समस्त कर उठा ले गया।

राजा गृध्र को, जैसे भी हो पकड़ने का आदेश देता ही या कि कञ्चुकी ने उसे वह मणि और एक बाण लाकर दिया। बाण पर 'उर्वशी और पुरुरवा का पुत्र आयु' ये अक्षर खुदे थे। राजा यह देखकर आश्चर्यमग्न हो जाता है। इतने में ही प्यबनाश्रम से एक सापसी एक कुमार को लेकर आती और बतलाती है कि इस कुमार को पैदा होते ही उर्वशी ने मेरे संरक्षण में दे दिया था। महर्षि ध्यवन ने इसके सारे संस्कार किये और धनुर्विद्या सिखायी। आज इसने मास-खण्ड लिये शृंग को बाण मारा तब ऋषि ने इसे आप के पास लौटा देने के लिये भेज दिया है। उर्वशी आती है और भावी वियोग की कल्पना कर रोने लगती है। राजा भी कुमार को, जिसका नाम 'आयुप्' है, राज सौंप कर वन चला जाना चाहता है कि नारद आते हैं और इन्द्र का संदेश देते हैं कि अभी देवासुर संग्राम होने वाला है। तुम शस्त्र-त्याग मत करो। यह उर्वशी आजीवन तुम्हारी सहचरी रहेगी। आयुप् का राज्याभिषेक होता है और उसी के साथ नाटक समाप्त होता है।

विक्रमोर्वशीयम् का कथा-स्रोत

विक्रमोर्वशीयम् की कथा का मुख्य स्रोत कौन-सा ग्रन्थ है, यह बता सकना कठिन है। उर्वशी और पुरुरवस् का संवाद सर्वप्रथम ऋग्वेद के दशम मण्डल के १९५वें सूक्त में मिलता है। इसके बाद शतपथ ब्राह्मण, बृहद्देवता, बृहगुरु शिष्य की वेदार्थ-दीपिका, मत्स्य, भागवत, विष्णु, पद्म और हरिवंश पुराण तथा कथासरित्सागर में उर्वशी-पुरुरवा की कथा मिलती है। ऋग्वेद के संवाद में परस्पर वार्त्तालाप को छोड़कर अन्य किसी प्रसंग का उल्लेख नहीं है। वार्त्तालाप का सारांश इस प्रकार है:—

पुरुरवा कहता है—हे कठोर जायें ! ठहरो। हम लोग प्रेम के साथ परस्पर बातें कर लें। परस्पर न बहने पर भी हमारी रहस्यमयी बातें बड़ी सुखद हैं। उर्वशी उत्तर देती है—मुझे तुम्हारी बातों से क्या लेना-देना ? जैसे अग्रिम उषा सूर्य को छोड़कर चली जाती है वैसे ही मैंने तुम्हें छोड़ दिया है। तुम अपने घर जाओ। मैं वामु के समान पकड़ में नहीं आऊँगी। तब पुरुरवा

चोळता है—तुम्हारे वियोग में मुझसे कोई काम नहीं होत।—न वाण बनाया जाता है न शत्रुओं का वध किया जाता है, न तो राज-काज ही बनता है और न शौर्यकार्य ही। उर्वशी प्रतिवाद करती हुई कहती है—मैं तुम्हारे घर पत्नीरूप में रह चुकी हूँ। तुमसे मेरा दाम्पत्य-सम्बन्ध रहा है। तुम मेरे शरीर के स्वामी रह चुके हो। अन्य अप्सरायें भी तुम्हारे साथ रहती रही हैं। पुरुरवा—किन्तु अब वे अप्सरायें मुझसे ऐसे दूर भागती हैं जैसे व्याघ्र से मृगी या रथ में जुड़ने से नये घोड़े। उर्वशी मेरी कामनाओं को पूर्ण करती हुई विद्युत् की तरह चमकती थी। उर्वशी—तुम पृथ्वी की रक्षा के लिये उत्पन्न हुये हो। तुम्हारा तेज मेरे उदर में स्थित है। मैंने तुम्हें समझाया। मैंने सन्तान होने तक साथ रहने का वचन दिया था। पुरुरवा—कब तुम्हारे उदर से उत्पन्न पुत्र मुझे प्यार करेगा? कब मुझे पहचान कर चिन्ताता हुआ आँसू नहीं गिरायेगा? कब वह तुम्हें और मुझे समनस्क मिला देगा? उर्वशी—तुम्हारा पुत्र यदि रोयेगा तो तुम्हारे पास भेज दूंगी। तुम घर चले जाओ। मैं तुम्हें नहीं मिलूंगी। पुरुरवा—तुम्हारे साथ रमण करने वाला पुरुरवा आज मर जाय अथवा दूरतम प्रदेश को चला जाय अथवा पृथ्वी में समा जाय अथवा मुझे भेड़िये खा जायें।

इस पर अन्य अप्सरायें उसे आश्वासन देती हुई कहती हैं—तुम मरोगे मत, पृथ्वी पर मत गिरो और तुम्हें भेड़िये न खायें। स्त्रियों का हृदय विश्वासघाती भेड़ियो जैसा होता है। उर्वशी—मैं चार वर्ष तुम्हारे साथ रही। चार वर्ष की रातें तुम्हारे साथ बितायी। जो थोड़ा घृत दिन में खाया उसी से तृप्त घूमती हूँ। ह ऐल। देवों ने तुमसे कहा है—तुम्हारी सन्तान हविष् से देवों का पूजन करे। इससे तुम्हारी मृत्यु न होगी। तुम स्वर्ग में मेरे साथ रमण करोगे।

इस प्रसंग में अप्सराओं का यह कथन प्राय उद्धृत किया जाता है—

“न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणा हृदयान्येता।”

इसी प्रकार सवाद का अग्निम वाक्य महत्त्वपूर्ण है :—

“प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उत्तमपि मादधासे।”

शतपथ ब्राह्मण में इस सवाद का पृष्ठभूमि दा हुई है जो इस प्रकार है—

उर्वशी ने जब इला के पुत्र पुरुरवस् से प्रेम प्रारम्भ किया तो उससे तीन वचन ले लिये : १—मुझे वेतस दण्ड से दिन में तीन बार मारना (मुझे तीन बार भोग करना) २—मुझमें कामेच्छा न हो तो मेरे पास न आना और ३—कभी मुझे नग्न न दिखना। राजा ने वचन दे दिये। उर्वशी उसके साथ रहने लगी और गर्भवती हो गयी। तब गर्भावस्था के कारण साक्षात् ज्योति-सी दिखने लगी। ऐसी उर्वशी को देख कर गन्धर्वों ने कहा—उर्वशी ज्योति है। वह मनुष्यों में जा बसी है। देखो, यदि किसी प्रकार यहाँ वापिस लाया जा सके। उनके शयन-कक्ष में दो भेड़े बँधे रहते थे। गन्धर्वों ने उनमें से एक को खोल लिया। तब उर्वशी चिल्लायी—अरे! ये मेरे बेटे को चुराये लिये जा रहे हैं जैसे मेरा कोई अपना आदमी ही न हो। तब तक उन्होंने दूसरे को भा खोल लिया। राजा ने कहा कि मेरे रहते उर्वशी वीर-विहीन और अजन कंस हो सकती है? वह उसकी चिल्लाहट सुन कर नगनावस्था में हो बचाने के लिये दौड़ पड़ा। इस समय गन्धर्वों ने खूब जोर से विजली चमका दी जिससे उर्वशी राजा को नग्न देख ले। यह देख उर्वशी राजा को छोड़कर चल दी। तब राजा ने बड़ा कष्ट विलाप किया। इस पर उर्वशी ने उसे समझाया बुझाया और वर्षों के अन्त में एक रात्रि उसके साथ रहने का वचन दिया। पीछे पुरुरवा ने गन्धर्वों को मना कर उनकी सलाह से दिव्य अग्नि ला कर यज्ञ किया और गन्धर्वस्वरूप प्राप्त किया।

विष्णु और भागवत पुराण में उर्वशी को मित्रावरुणों के शाप के कारण पृथ्वी पर रहना बाध्य हुआ बतलाया गया है। कथातरित्सागर में, जो कि बृहत्कथा पर आश्रित है, कहा गया है कि पुरुरवा विष्णु का भक्त था। विष्णु ने उर्वशी को उसे दे देने के लिये इन्द्र को आज्ञा दी थी। एक दिन राजा इन्द्र के साथ सभा में बैठा रम्भा का नृत्य देख रहा था। नृत्य में कुछ भूल देखकर राजा को हँसी आ गयी। इस पर नृत्याचार्य तुम्बरु ने क्रुद्ध होकर राजा को उर्वशी-वियोग का शाप दिया। बाद में राजा ने अपनी भक्ति से विष्णु को प्रसन्न कर उर्वशी को फिर से प्राप्त कर लिया।

बृहद्देवता में भी पुरुरवा की कथा आयी है किन्तु वहाँ बतलाया गया है कि उन दोनों के सहवास से इन्द्र के मन में अग्न्या उत्पन्न हुई और उसने

अपने समीपस्थ वज्र से उनकी प्रीति भंग करने के लिये कहा । वज्र ने अपने मायाजाल से उनकी प्राति भंग कर दी । तब राजा उन्मत्त की तरह घूमने लगा । एक बार घूमते हुये उसने एक सरोवर पर पांच सखियों में घिरी हुई उर्वशी को देखा और अपने पास आने के लिये प्रार्थना को किन्तु उसने उत्तर दिया कि अब तुम मुझे स्वर्ग में ही पा सकते हो (७-१४०-७)

सर्वानुक्रमणी की वेदार्थदीपिका नामक व्याख्या में पङ्गुह शिष्य ने ऋग्वेद की कथा का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—मित्र और वरुण यज्ञ में दीक्षित थे किन्तु उर्वशी को देखकर उनका चित्त चंचल हो गया और कुम्भ में उनका शुभ्रपात हो गया । तब उन्होंने उर्वशी को शाप दिया कि तू मनुष्य-भोग्या बन कर पृथ्वी पर रह । इसी बीच राजा इल मनुषुत्रों के साथ शिकार खेलता हुआ देवी के क्रीडावन में घुस गया । वहाँ पार्वती शिव की सेवा कर रही थी । उन्होंने मर्यादा कर दी कि जो पुरुष इस स्थान में प्रवेश करेगा वह स्त्री बन जायगा । सो राजा स्त्री बन गया । तब अत्यन्त लजित होकर उसने शिव से फिर पुरुषरूप प्रदान करने की प्रार्थना की । शिव ने कहा कि देवी को प्रसन्न करो । तब राजा ने देवी की छः महीने तक शुभ्रपात कर उनके प्रसाद से फिर पुरुषरूप प्राप्त कर लिया किन्तु जब राजा इल स्त्री के रूप में था तब एक बार सोम का पुत्र बुध उस पर आसक्त हो गया और उसके समागम से इला के पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । पुरूरवा को राजधानी प्रतिष्ठानमुर थी । उर्वशी पुरूरवा पर मुग्ध हो गयी किन्तु उसने रमण के पूर्व दो प्रतिज्ञायें करा ली । प्रथम यह कि यदि मैं शय्या को छोड़ कर अन्यत्र तुम्हें नग्न देखूंगी तो मैं जैसे आयी हूँ वैसे ही चली जाऊँगी और दूसरी यह कि मेरे दो भेटे पुत्र के समान रदा मेरे पास रहेगे । चार वर्ष बीत जाने पर एक बार रात्रि में दवताओं ने भेटों को मारा । उनका श्रन्दन सुन कर राजा उन्हें बचा कर तुरन्त लौट आने के खयाल से नग, ही बिस्तर से उठ कर दौड़ पडा । विद्युत् ने पुरूरवा का वह नग्न रूप उर्वशी को दिखा दिया । तब वचन भंग के कारण वह राजा को छोड़कर स्वर्ग चली गयी । राजा उसकी तराश में पागल की तरह इधर-उधर घूमने लगा । अन्त में उसने मानस सरोवर पर अम्सराओं के साथ घूमती हुई उर्वशी को देखा और उर्वशी से साथ चलने के

लिये कहा किन्तु तब तक शाप से मुक्त हो जाने के कारण उर्वशी ने कहा कि तुम चले जाओ ।

शतपथ, बृहद्देवता और वेदार्थदीपिका में अग्नि यह कारणक वस्तुतः ऋग्वेद के पुरूरवा-उर्वशी सवाद की भूमिका के रूप में है जो केवल यह स्पष्ट करने के लिये है कि उन दोनों के बीच वह नवाद किस परिस्थिति में हुआ । इनमें निम्नलिखित बातें समान हैं—(१) उर्वशी इन्द्र के साथ रहा थी, (२) देवताओं ने पड़पन्न करके उसके पुरूरवा का वियोग करवाया, (३) संयोग से पूर्व उसने पुरूरवा से दो प्रतिज्ञायें करा ली थी और वे ही उसके वियोग का कारण बनी, (४) वियोग के बाद उसका पुनः भेंट हुई और वार्त्तिलाप भी हुआ । शतपथ ने इसमें यज्ञ का माहात्म्य प्रतिपादन करने के लिए ही जोड़ दिया है कि बाद में अग्नि के प्रसाद से स्वर्ग में उनकी भेंट हुई । इन सब कारणों की सामान्य बातें कालिदास ने ले ली हैं फिर भी वेदार्थदीपिका का आशय उन्होंने विशेषतः लिया है । उर्वशी के शापित होने की बात उन्होंने यहीं से ला है और पुरूरवा के पूर्वजों के विषय को सारा क्या का, जिसकी ओर कालिदास ने कई बार संकेत किया है । यही से ली गयी जान पड़ती है । उसके विलापों का प्रेरणा कालिदास को ऋग्वेद से मिली है किन्तु विद्याप या स्वरूप उन्होंने वाल्मीकि के राम-विलाप के आधार पर निर्मित किया है । उर्वशी की सृष्टियों का उल्लेख भी वेदार्थदीपिकादि के अनुसार ही किया है । हाँ, प्रतिज्ञाओं का स्वरूप उन्होंने बदल कर अधिक स्पष्ट बना दिया है और बंदिब होन से इन्द्र के प्रति स्वाभाविक थड़ा रखने के कारण उसे ईष्यायु के बदले मित्र बना दिया है जो उर्वशी को छीनता नहीं उलटे उन्हे प्रदान करता है । ये परिवर्तन कथा को नाटकानुसूल स्वरूप प्रदान करते हैं ।

सम्भवतः कालान्तर में उर्वशी का कथा मर्मसार्थी होने के कारण अतिरिक्त प्राक्प्रिय बन गया थी और जन-सामान्य ने अपनी भावना का परितृप्ति के लिये उसमें इपर-उपर से भी कुछ मित्रात्मकता पायी । उर्वशी और उर्वशी कथा के साथ भावना ही हुआ है । कथा का यह परिवर्तन, परिष्करण और पुराणा में मिलता है जो इस प्रकार है

मत्स्य पुराण २४ के अनुसार बृध ने इला के गर्भ से एक घमिष्ठ पुत्र उत्पन्न किया जिसने सौ अश्वमेध यज्ञ करके लोह में बड़ी स्याति अजित की। वह प्रतिदिन इन्द्र से निकले जाता था। एक दिन जब वह राय पर सवार होकर सूर्य के साथ दक्षिण आकाश की ओर जा रहा था तो उसने केशी नामक दानव-राज द्वारा चित्रकेवा के साथ उर्वशी को पकड़े देखा। उसने शीघ्र ही वायव्य अस्त्र छोड़कर केशी से उड़े मुक्त कला किया और उर्वशी ला कर इन्द्र को दे दी। इनसे पुरूरवा के साथ इन्द्र तथा देवताओं ने और भी घमिष्ठ मैत्री स्थापित कर ली। एक बार भरत द्वारा प्रयुक्त लक्ष्मी स्वयंवर नाटक में मेतका, रम्भा और उर्वशी से नृत्य करने को कहा गया। उर्वशी लक्ष्मी का रूप धारण कर नृत्य कर रही थी। पुरूरवा सामने बैठा हुआ था। उर्वशी उसे देखकर कामार्त्त हो उठी और भरत के सिखाये हुये अभिनय को भूल गयी। तब भरत ने उसे शाप दिया कि तुम लता बन कर पचन्न वर्ष तक भूतल पर रहोगी और पुरूरवा भी पिशाच बन कर वहीं रहेगा। इस प्रकार भूतल पर जाकर उर्वशी ने पति रूप में उसका वर्ण किया और शाप की अवधि समाप्त होने पर पुरूरवा से आयु, दृढायु, अश्वायु, घनायु, धृतिमान, वसु, शुचिविद्य और शतायु नामक आठ पुन उत्पन्न किये।

भागवत (९-१४) में कथा का रूपा इस प्रकार है—सहस्रशीर्षंरुष के नामि-कमल से घाता (ब्रह्मा) और उससे अग्नि उत्पन्न हुये जो गुणों में सब प्रकार पिता के समान थे। अग्नि के नेत्र से अमृतमय सोम हुआ। सोम के पुत्र का नाम ब्रह्मा ने बृध रखा। बृध से इला में पुरूरवा का जन्म हुआ। एक बार इन्द्र की समा में नारद के मुख से पुरूरवा के गुणों का वर्णन सुनकर उर्वशी उस पर मुग्ध हो गयी। वह मित्रावर्ण के शाप से नरलोक को प्राप्त हुई और पुरूरवा के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसके पास पहुँची। राजा ने स्वयं उस पर आसक्त होकर अपने साथ रहने के लिये कहा किन्तु उर्वशी ने दो उरणों का त्याग रूप में रखने और उसे कभी निर्वस्त्र न दिखनी देने के वचन माँग लिये। बाद में जब इन्द्र ने स्वर्ग में उर्वशी को न देखा तो गन्धर्वों का प्रेरित कर उरण चुरवा लिये। तब उर्वशी ने दुःखा हाकर व्यग्य कसे और राजा उरणों के लेने, जैसा था वैसी नग्न अवस्था में चल दिया। इसी बीच

विजलो चमकी और राजा नग्न दिख गया और उर्वशी तुल्य अन्तर्धान हो गयी। पागल की तरह उसकी तलाश में पृथ्वी का चक्कर लगाते-लगते राजा ने सरस्वती के किनारे कुरुक्षेत्र में उर्वशी को पाँच सखियों के साथ देखा और तब बोला। तुम मेरे साथ चलो अन्यथा मेरी देह का पात यही हो जायगा और इसे गीघ भेड़िये खा जायेंगे। राजा ने बहुत से व्यग्य बाण उर्वशी पर छेंटे। तब उर्वशी ने कहा कि वर्ष भर बाद मैं एक दिन तुम्हारे साथ रहूँगी। तुम्हारे और भी सन्तान होगी। राजा उर्वशी को गन्धर्वी देखकर लौट आया। साल भर बाद वह वहाँ गया और पुनर्वती उर्वशी के साथ रात भर रहा। अन्त में उसे विरहातुर देख कर उर्वशी ने कहा कि गन्धर्वों से प्रार्थना करा। वे ही मुझे तुमको प्रदान करेंगे। तब राजा ने स्तुतिसे गन्धर्वों को प्रसन्न किया। उन्होंने राजा का एक अग्निस्थाली दी। राजा उस अग्निस्थाली का उर्वशी मानता हुआ वन में घूमने लगा। एक बार वह स्थाली को वन में रख कर चला गया। बाद में त्रेता युग आ गया। अग्निस्थाली जहाँ रखी थी वहाँ शमीगर्भ अश्वत्थ बन गया। राजा ने उसकी अरणियों का मन्थन कर उत्पन्न अग्नि में यज्ञ किया और अग्नि की वृषा से सन्तान के साथ गन्धर्व लोक का प्राप्त हुआ।

कथा सरित्सागर (३-३) में भी पुरूरवा की कथा आयी है। पुरूरवा नाम का एक बड़ा विष्णु-भक्त राजा था जो स्वर्ग तक बेरोक विचरण करता था। एक दिन नन्दन वन में घूमते हुये उसका उर्वशी से साक्षात्कार हुआ। तब गदानो परस्पर आसक्त होकर वियोग-पीडित रहने लगे। विष्णु ने यह बात जानकर नारद को बुलाया और कहा कि आप मेरी ओर से इन्द्र को समझा-बुगाकर उर्वशी पुरूरवा को दिला दीजिये। नारद पुरूरवा को लेकर इन्द्र के पास गये और उर्वशी उसे दिला दी। इससे उर्वशी को तो नव-जावन मिला किन्तु स्वर्गलोक निर्जीव हो गया। एक बार इन्द्र का अमुरों से युद्ध हुआ जिसमें उसने सहायतायें पुरूरवा को बुलाया। युद्ध में मायापद नामक असुर राजक्षन्धा बनाया गया और इम निर्मित इन्द्र ने उत्सव मनाया जिसमें अप्सराओं का नृत्य आयोजित हुआ तब वहाँ आचार्य तुम्बुरु की उपस्थिति में अब रम्भा नृत्य कर रही थी तब उसने कोई भूल हो गयी। पुरूरवा उस भूल पर हँस

पडा। इस पर रम्भा ने कहा कि तुम मनुष्य देव नृत्य क्या जाना। राजा ने कहा कि उर्वशी के सग के कारण मैं इतना जानता हूँ जितना तुम्हारे गुरु तुम्बुरु भी नहीं जानते। तब तुम्बुरु ने क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया कि तुम्हारा उर्वशी से वियोग हो जायगा। गन्धर्व लोग उर्वशी को अदृश्य होकर उड़ा लाये। पुरूरवा ने इसे शाप का प्रभाव मानकर बदरिकाश्रम में जाकर हरि की आराधना किया। इधर उर्वशी वियोग के कारण सूखकर काँटा बन गयी किन्तु हरि के प्रसाद से गन्धर्वों ने उर्वशी को छोड़ दिया और पुरूरवा उर्वशी के साथ दिव्य भोगों को भोगने लगे।

उपर्युक्त कथाओं से स्पष्ट है कि विक्रमोर्वशीयम का कथा का आधार इन सब ग्रन्थों के होते हुये भी कालिदास ने मूलरूप में वेदार्थदीपिका और फिर मत्स्य पुराण का आश्रय मुख्यतः लिया है। मत्स्य पुराण का समय निश्चित न होने से यह भी कहना सम्भव है कि मत्स्य पुराण ने ही विक्रमोर्वशीयम का आश्रय लिया है। जो हो कथानक की कुछ बातें पूर्वप्रसिद्ध कथा से लेकर भी कालिदास ने अपना प्रतिभा में उसे नाटकीय बना दिया है। उन्होंने उसमें से अरुचिपूर्ण अंश—एल की उत्पत्ति, उर्वशी को दिये वचन आदि—हटा दिये हैं और नवीन चमत्कारक प्रसंग जोड़ दिये हैं। इन्द्र और पुरूरवा की मैत्री उपकार एवं शौर्य द्वारा उर्वशी के मन को जीतना, चित्ररथ और चित्रलेखा का प्रवेश, रानी औशीनरी का प्रसंग, उर्वशी का कोप, कुमारवन प्रसंग, सगमनीय मणि, आयुष की घात्री तापसी और अंत में नारद का प्रवेश ये सब बातें कालिदास ने अपनी कल्पना द्वारा नाटक को अधिक आकर्षक एवं सुरुचिपूर्ण बनाने के लिये जोड़ी हैं जिससे एक सामान्य कथा की लोकोत्तर सी रयें एवं चमत्कार से भव्य और दिव्य बन गयी है।

विक्रमोर्वशीयम में नाटकीय साष्ट

कथावस्तु का सुगठन तथा अन्य नाटकीय तत्वों की दृष्टि से विक्रमोर्वशीयम का संस्कृत नाटकीय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालिदास की रचनाओं में शाकुन्तलम, तथा अन्य रूपकों में मृच्छकटिक तथा उत्तररामचरित के बाद इसकी ही गणना की जाती है। यह संस्कृत के गिने चुने भोक्तव्यों में है। इस भोक्तव्य

मे कालिदास ने जिन मनोरजक पात्रों पर परिस्थितियों की मृष्टि की है वे उनकी मौलिक नाट्य प्रतिभा के प्रमाण हैं। यद्यपि ऊपर से देखने में इसकी कथावस्तु झीली, लचर दिखती है और द्वितीय तथा तृतीय अंक में कथ्य की गति शिथिल दिखायी देती है। कथावस्तु को आगे बढ़ाने की दृष्टि से इन अंकों का विशेष महत्त्व नहीं प्रतीत होता किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। ये सारे अंक एक-दूसरे से सूक्ष्म तन्तु द्वारा जुड़े हुये हैं और चाहे उर्वशी का चित्ररथ के साथ इन्द्र के पास जाना हो। चाहे उर्वशी का भोजपत्र पर प्रेमकथा लिखना या अचानक औशीनरी का आना या राजा का औशीनरी के आग्रह पर रोहिणी सयोगयुक्त चन्द्र का पूजन, या उवशा का छिप कर रानी को देखना प्रत्येक बात एक-दूसरी से सम्बद्ध है और एक स्थान तन्तु के विच्छिन्न हो जाने पर सारी कथा विच्छिन्न हो सकती है। प्रत्येक घटना ठीक स्थान पर है और अगली घटना की प्रेरक है। छोटे से छोटा वाक्य भी, भले ही वह प्रथम दृष्टि में बंसा प्रतीत न हो, अगली घटना के लिये पृष्ठभूमि तैयार करता है। राजा का उपकार द्वारा उर्वशी का मन जीतना ही पर्याप्त होता, पर चित्ररथ के सामने उसका इन्द्रसखा ज्ञात होना उर्वशी के मन में प्रेम की और अभिवृद्धि करता है और उसका यह कहना कि—

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद् विजयन्ते द्विपदोय दस्य पक्ष्या ।

उर्वशी के मन पर उसके गुणों के विषय में भी प्रभाव उत्पन्न करता है। ये तीनों बातें मिल कर उसे इतना प्रेमाभिभूत कर देती हैं कि वह उसी के ध्यान में डूबी रहने लगती है। यह सन्मयता नाटक में उसकी भूल का कारण बनती है। और वह भूल उसके पुरुषवा से मिलन का निमित्त बन जाती है। अतिशय प्रेम के कारण वह राजा का अन्य किसी स्त्री को स्नेह दृष्टि से देखना सहन नहीं कर पाती और विद्याधरी की ओर उसे देखता देख कर क्रुद्ध होती है। यह क्रोध उसके रुठ कर अकेले चल देने का कारण है और अकेले अज्ञात प्रदेश में चले जाना लता बनने का निमित्त होता है। लता बनना विरहोद्गारों को जन्म देता है। यही स्थिति सगमनीय गणि से मिलती है। गणि न केवल उर्वशी को पूर्व रूप में लौटाती है अपितु उसके पुत्र 'आयुष्' के मिलन का भी कारण बनती है। इस प्रकार प्रत्येक छोटी घटना अगली घटना से जुड़ी हुई है।

औशीनरी की उपस्थिति प्रेम में तीव्रता तो उत्पन्न ही करती है राजा और उर्वशी के चरित्र को विकसित करने में भी सहायक होती है। इस प्रकार इस नाटक में कालिदास ने पूर्व-प्रचलित कथानक के रुचिमय अंशों को हटाकर उसे अपनी प्रतिभा द्वारा अत्यन्त सुगठित और कलात्मक बना दिया है।

नाटक में परिस्थितियों का चुनाव बड़ा स्वाभाविक हुआ है और उससे पात्रों के चरित्र विकास को बड़ी सहायता मिली है। जिस परिस्थिति में पुरूरवा ने उर्वशी की रक्षा की वह बड़ी स्वाभाविक है। राजा का प्रतिदिन सूर्योपासना के लिये विमान द्वारा हेम-नूट पर जाना और उपासना के बाद जबकि हृदय निर्मल होता है, सहायता के लिये दौड़ना जितना सात्विक है, उतना ही स्वाभाविक भी। यह परिस्थिति शकुन्तला की भ्रमर पीड़ा से कई गुनी भयावह है क्योंकि यहाँ उर्वशी पर जो शकुन्तला से कई गुना कोमल थी, प्राणों का ही सकट उपस्थित हुआ था, अतः उसका वृत्तन होना अधिक स्वाभाविक है। उर्वशी अप्सरा थी, आश्रम कन्या नहीं; उसकी प्राण-रक्षा की गयी थी, केवल भ्रमर-बाधा का निवारण नहीं। अतः यह प्रेम अभिज्ञान शकुन्तलम की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। अतः स्वाभाविक ही था कि वह जाते-जाते एक बार पूरी दृष्टि-भर राजा को देख लेने के लिये लता में अटकी हुई एकावली को छुड़ाने का बहाना लेती। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में कवि ने यह परिस्थिति उत्पन्न की है—

दुर्भाङ्ग रेण अगण मयन दग्गकाण्ठे तन्ती मिशता क्वचिचिन्ते
पदानि दत्त्वा।

विदूषक को रहस्य बतलाकर उसे गुप्त रखने की बात भी अभिज्ञान शाकुन्तलम् में मिलती है। वहाँ भी दुष्यन्त विदूषक को प्रेम की बात बतला कर अन्त में कह देता है—परिहास विजल्पित सखे परमार्थेन न गृह्यता वच । औशीनरी का निपुणिका द्वारा विदूषक से भेद जान लेना, राजा का मनोविनोद के लिये प्रमद वन में जाना, वहाँ औशीनरी और उर्वशी का परस्पर बिना एक-दूसरी को देखे भी सब देख लेना, भोजन का खो जाना और औशीनरी के हाथ लगना ये सब बातें नाटक में दर्शक की रुचि बनाये रखती हैं। इस प्रकरण पर वात्स्यायन का प्रभाव है। कालिदास के पूर्ववर्ती भास और परवर्ती श्रीहर्ष में स्वप्नवासवदत्ता, प्रियदर्शिका, रत्नावली आदि इन परिस्थितियों का खुल कर

उपयोग हुआ है। उर्वशी का भोजनत्र पर सन्देश लेखन शकुन्तला के पद्मपत्र पर प्रणय-सन्देश लिखने से मिलता जुलता है। विक्रमोर्वशीयम् की इन चतुराइयों का ही प्रयोग और परिष्कृत रूप में कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में किया है। नाटक की सारी परिस्थितियाँ इसी प्रकार पाशा के चारित्रिक विकास, उत्सुकता और कौतूहल की वृद्धि करने और मुख्य वस्तु का आगे बढ़ाने के लिये प्रयुक्त हुई हैं। प्रारम्भ और मध्य के समान नाटक की परिणति भी स्वाभाविक है। गृध्र द्वारा सगमनीय मणि को लेकर भाग जाना, आयुष् के मिलन का कारण बना है। इसमें उर्वशी के वियोग की समस्या भी सुलझ गयी है।

नाटक दृश्यो की दृष्टि से भी समृद्ध है। प्रारम्भ में ही हेमकूट पर उर्वशी और पुरूरवा का मिलन होता है। फिर स्वर्ग में लक्ष्मी-स्वयंवर का अभिनय कौमुदी स्नात मणिहर्म्यं पृष्ठ पर नायक नायिका का पुनर्मिलन, फिर गन्ध-मादन और कुमारवन में सारे दृश्य प्रणय-कथा के लिये अत्यन्त हचिबर्धक हैं। साथ ही, उनकी विविधता भी दर्शक के मन को आकृष्ट करती है। प्रत्येक दृश्य जीवन से संपर्क रखने वाला और आकर्षक है।

काव्य सौष्ठव—विक्रमोर्वशीयम् की सब से महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है उसका काव्य-सौष्ठव। कालिदास प्रकृति के अद्वितीय चित्तेरे थे। वे जानते थे कि प्राकृति वातावरण प्रेमियों को कितना अधिक प्रभावित करता है। इसीलिये उन्होंने मेरुदूत अभिज्ञान शाकुन्तलम् और विक्रमोर्वशीयम् तीनों की रचना प्रकृति की पृष्ठभूमि पर की। पुरूरवा के प्रेम का प्रारम्भ प्रकृति के खुले वातावरण में होता है और विरह-तान वे द्वारा उसका परिष्कार भा प्रकृति के ही बीच हुआ है। चतुर्वर्ग में प्रकृति का वैभव चरमोत्कर्ष पर है। उन्होंने प्रकृति के प्रत्येक रूप और प्रत्येक चेष्टा का उपयोग नाटक में किया है। वे जानते थे कि प्रकृति की कौन सी क्रिया प्रगयी हृदय पर क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। वियोगी पुरूरवन् पर वन्य-श्री कंसा वध-मधुर प्रभाव डालती है। काव्य सौष्ठव आर सौन्दर्य ग्रहण की उपेक्षा नायक का विशिष्ट मस्तिष्क भी नहीं कर सता—

अग्रे स्त्री नाव पाटल कुरवक श्याम द्वयोर्भागयो-
यन्ना शोकमुपोट राग मुभग भेदोन्मुखतिष्ठति ।

ईपद् वद्ध रज कणाप्र कपिशा चूते नवा मजरी,
मुग्धत्व च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्री स्थिता ।

हिन्दी सूक्ष्म और व्यापक सौन्दर्य ग्राहिणा दृष्टि है कवि की । व मानव मन पर प्रकृति के पडने वाल प्रभाव के अद्वितीय चित्रकार हैं । डॉ० रायडर (Ryder) ने ठीक ही कहा है कि कालिदास का प्रकृति-सम्बन्धी ज्ञान केवल सहानुभूति या संवेदन तक ही सीमित नहीं है अपितु वह वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णतः शुद्ध या निर्दोष भी है । व हर्म्य और कानन मे समान रूप से प्रसन्न दिखते हैं । शकम्पियर को प्रकृति के अन्तःकरण मे गहरे प्रविष्ट होने की सामर्थ्य थी, फिर भी वे मूलतः मानव हृदय के कवि थे किन्तु कालिदास को प्राकृतिक सौन्दर्य और मानव-मन पर समान अधिकार है । इसीलिये वे एक ओर चतुर्थ अक्ष के मनोरम दृश्य-पटो की सृष्टि कर सके हैं और दूसरी ओर औशीनरी तथा उर्वशी के अन्तस्तम मे छिपी ईर्ष्या का चातुर्यपूर्ण उद्घाटन भी । उर्वशी के प्रथम प्रसंग मे ही प्रेम था, बिना झेंपे प्रकटीकरण, राजा से सट कर बैठ जाना जिसके लिये उसे विदूषक की डाँट तक खानी पडी, अपने सुखभोग के लिये पुत्र तक का परित्याग, ये बातें स्पष्ट करती हैं कि जो कवि शकुन्तला के भाल हृदय के मर्म को समझ सकता था वह स्वर्देश्या की अन्तर्कृति को भी उसी प्रकार चित्रित कर सकता था । इस नाटक की अनेक उपप्रकायों, कल्पनायों और स्वाभाविक प्रकृतिनिरीक्षण सस्कृत साहित्य के अमूल्य अंश हैं । चतुर्थ अक्ष के 'तरङ्गभ्रू भङ्गा' (४-२८) 'कृष्ण सारच्छविर्योऽसौ' (४-३१) "उष्णालु शिशिर" (२ २३) "निपिञ्चन् माघवीभेताम्" (२-४) "अस्या सर्गं विधो प्रजापतिःपूत" (१-४) आदि श्लोक इसके प्रमाण हैं । "कुसुमशयन न प्रत्यग्रम्" (३ १०) जैसे श्लोक कवि के भावव मयोत्पत्ति-ज्ञान के निदर्शन हैं ।

कालिदास का शला

/किमी प्राचान/सवा/समलोजक का १५१ ६—

वाल्मीके हृजनि प्रकाशित गुणा व्यासेन लीलावती,
वैदभी कविता स्वय वृत्तवती श्री कालिदास वरम् ।

या सूताऽमरमिंहमाघधनिकान् शेषं जगनीरमा,
शून्यालङ्कारणा स्पलन् मृदुपदा वं वाजनं नाश्रिता ।

“वैदर्भी षड्विधा पात्मीयि से उत्पन्न हु* और भास द्वारा पाठ्योक्त कर यडी की गयी । उसने स्वयं कालिदास का वरण किया । सुगन्दे अमरसिंह, माघ और धनिक पुत्र उत्पन्न हुये । अथ वह दृढावस्था के कारण सौन्दर्यविहिन होकर तथा अलङ्कार शून्य गिरती-पडती जिस-तिस का सहारा पकड़ रहा है ।” यह कथन अक्षरशः सत्य है कि कालिदास के काव्य में वैदर्भी शैली अपने चरम सौन्दर्योत्कर्ष पर है । वैदर्भी के प्रमुख गुण हैं—समास से रहित अथवा अल्प समासो वाली शब्दावली, प्रमादगुण, सरल, सीधे अर्थानुसारी शब्द । जैसा कि काव्यादर्श में कहा है—

श्लेष प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता,
अर्थव्यक्तिरदारत्वमोज कान्तिसमाश्रयः ॥

साहित्य-दर्पण के मत में माधुर्य शब्दक वर्णों द्वारा ललित रचना, जिसमें कम समास हो या बिल्कुल समास न हो, वैदर्भी रीति कहलाती है ।

माधुर्यव्यञ्जकैर्वशी रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्प वृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

काव्य की समस्त शैलियों में वैदर्भी उत्तम है और काव्य में उसका सर्वोत्तम रूप उपलब्ध होता है । विन्नमोर्वशीयम् में भी इसका अपवाद नहीं है । इस सम्पूर्ण नाटक में अभिव्यक्ति की स्पष्टता, प्रवाह, प्रभावोत्पादकता और संगीतमयता के दर्शन होते हैं । साथ ही इन सब से आगे बढ़ कर सकेतात्मकता की कमी इस भोटक में नहीं है । ‘अनुत्सेक विक्रमालङ्कारः’ जैसे कथन सकेतात्मकता से नाटकीय सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक हुये हैं । उनकी उपमायें विन्नमोर्वशीयम् में भी उतनी ही प्रभावशाली हैं जितनी अन्य कृतियों में । इन उपमाओं का प्रयोग सदा चित्र की प्रभावोत्पादकता की अभिवृद्धि में सहायक हुआ है—

- (१) वायव्यमस्त्रं शरधि पुनस्ते महोरग स्वभ्रमिव प्रविष्टम् ।
 - (२) सखी भिर्याति संपर्क लताभिः श्रीरिवार्तकी ।
- ऐसे उदाहरणों से नाटक भरा पड़ा है—

काव्य में चित्र उपस्थित करने में कालिदास उज्ज्वल हैं। उनके काव्य के आधार पर अब तक न जाने कितने चित्र बनाये जा चुके हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के "श्रीवाभङ्गाभिरामम्" आदि श्लोक के समान ही विक्रमोर्वशीयम् का यह वर्णन कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है ही भावानुकूलपद प्रयोग का भी सुन्दर उदाहरण है—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवी चूष्णीं भवन्ती घना ।

चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु जनयत्यन्यामिवारावलीम् ।

चित्रन्यस्तमिवाचल / ह्यशिरम्यायामवच्चामर ।

यष्टयग्रे च समं स्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वोपनिलात् ॥१॥

कालिदास भवभूति के समान कठिन शब्दों या लम्बे समासों में विश्वास नहीं करते। वे बात को घोंटे में शब्दों में इस प्रकार कह देते हैं कि उनका प्रभाव कई वाक्यों से भी अधिक होता है—यथा 'तस्यानुरागस्य ? तादृश आनुराग ? या "सखी वनस्ते किमुनाद्र' सौहृद ।" आदि। कालिदास की शैली पानानुकूल बहलती रहती है इसलिये उसमें एकरसता या उबाने का दोष पैदा नहीं होने पाता। उदाहरणार्थ 'विक्रमोर्वशीयम्' के कथनों में पौराणिक सन्दर्भों या पाण्डित्य प्रदर्शन का बाहुल्य है। वह प्रायः अपनी योग्यता की छाप बैठाने के यत्न में उपहास का पात्र बन जाता है। उनके नारी-पात्र सरल, सामान्य और रोजमर्रा की भाषा बोलते हैं। इस कारण उनके नाटक यथार्थ से दूर नहीं जाने पाते। उनके अलंकार भी यथार्थ के अत्यन्त समीप रहते हैं। उपमान जैसे उनके दायें-बायें प्रयुक्त होने की प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं। उनके लिये उन्हें कतई प्रयास नहीं करता पड़ता। उरमा के लो वे सिद्धहस्त कलाकार हैं। "महोत्पलं प्रत्युपमीव पद्मिनी (१-५)", "सूत्र मृगालादिव राजहंसी (१-१८)" "सगमे पूर्वदृष्टेव यमुनगङ्गाया विन्ता" (२-१५) "वृक्षस्य वैद्युत् इवाग्निरूपस्थितोऽयम् (५-१६)। इस प्रकार उत्प्रेक्षा स्वभाषोक्ति और अर्थान्तरन्यास के बड़े सुन्दर उदाहरण विक्रमोर्वशीयम् में मिलेंगे। विक्रमोर्वशीयम् की सूक्तियाँ भा सस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

कालिदास का ध्येय और हास्य भी सस्कृत के अन्य नाटककारों की अपेक्षा अधिक सिष्ट और प्रभावकारी है। उसमें ग्राम्य दोष या पेटूपन का प्रदर्शन

महीं है। उनका विदूषक का अवश्य यश-करा चंद्र को देव चौड न लडाऊ की याद आ जाती है—'भो एप मोदक खड सथोको राजा उदिनो द्विजानी नाम्' उनकी वेदियाँ विदूषक को उल्लू बनाने म रडा प्रयोग हैं। व अरना चतुरता से प्रयास मनोरजन भा करता है। विदूषक स्वय आना उहास करके (वानर से अपनी उपमा देकर) तथा तत्काल नति से वानर का उत्तर देकर ('दुरागतमिदानी सवृत्तम्' आदि) दर्शकों का ध्यान आगे ओर खोचना है।

कालिदास की परिष्कृत एव सुनस्कृत प्रसादमयी शैली, जिनका परिशील उनको स्वाभाविक उपमायें तथा उत्प्रेक्षाये एव अंगीकारिणो परावना करना है, छन्दों की विविधता जो मोरसता को दूर कर सकती है, विषय एव चित्रमय वर्णन, प्रकृति के मनोरम एव श्रेष्ठतर का अ कठन, मनोवृत्तियों एव अन्तर्द्वन्द्वों का यथार्थ निरूपण, साकेतिकता, सरम तथा तथ्या का सयना इन सब बातों ने इस कलाकार को 'कविहुठ गुह' उपाधि को स य सिद्ध करके दिखा दिया है।

चरित्र-चित्रण

सस्कृत नाटकों की कथावस्तु इतिहास या पुराणों से ली गयी होती है और उसका कथा-बन्ध सीधा सादा होता है। अब उनमें पानों क चारित्रिक विकास के लिये प्रकरणादि की अपेक्षा का अभाव रहता है। विकनीर्व गोषम् के विषय में तो यह कठिनाई और भा अधिक है क्योंकि इसके कई पान दिव्य हैं और दृश्य तथा परिस्थितियाँ भा अशोकिक हैं यहाँ तक कि उर्वती, जिस पर सारा भोटक टिना हुआ है, स्वय अ सरा है जिसे अतिनाशयोग शक्ति प्राप्त है जिसके बल पर तिरस्करिणों का प्रयोग कर सकती है—स्वय अदृश्य रह कर दूसरा को देख सकती है, स्वय अग्रथ्य रह कर दूसरों को बात सुन सकता है, बिना गर्भ के लक्षण प्रकट किये पुत्र को जन्म दे सकती है और जन्म देते ही उसे बन्ध को सौंप निश्चिन्त रह सकती है। किन्तु इन सोमाओं के भोतर रह कर भी कालिदास ने चरित्रों के स्वाभाविक विकास का पर्याप्त ध्यान रखा है और उन्हें प्रतीक (type) और षठपुतरी बनने से बचा लिया।

पुरुखा—भोटक का नाम पुरुखा घोरोदात्त प्रेमी है। वह बडा बोर

और परदुःख कातर है। इन्द्र जब तब उसकी सहायता मांगता है और उसका हाथ में अपनी सेना की दागडोर देकर निःश्रित हो जाता है। वह उर्वशी को केशों के बटोर पक्षे से छुड़ाता है किन्तु अपनी विजय का सारा श्रेय महेन्द्र के प्रभाव को दे देता है। वह विनयी और निर्भयानवी है। इसीलिये चित्र-रथ कहता है “अनुत्सेकः खलु विद्ममालङ्कारः”। वह अत्यन्त मृदुभाषी है और अन्यों को प्रसन्न करने वाले वाक्य बोलने में निपुण है। “यदृच्छवा त्वं सकृ-दप्पवन्ध्यो” (१-९) आदि वाक्य इसके प्रमाण हैं। वह उर्वशी से प्रेम करता हुआ भी पूर्व पत्नी का सम्मान करता है। अंगर जब वह औरंगानरो से कहता है—

दातुं वा प्रभवसि माममन्यस्यै कतुमिव वादासम् ।

नाहं पुनस्तथा त्वं यथाहि मा शङ्कने भीरु ।

तो उसके कथन पर दर्शक को अविश्वास नहीं होता। औरंगानरो को उसका व्यवहार कभी अशिष्ट नहीं होता। इसके परिणामस्वरूप उर्वशी भी रानो का सम्मान करती है। वह शुद्ध अर्थ में प्रेमी है और एक स्थान पर दिवाघर कन्या की ओर देखने के अतिरिक्त उसमें अन्यत्र कहीं चारित्रिक दुर्बलता लक्षित नहीं होती। इस दुर्बलता का कल्क उसने चतुर्थ अंक के अनवरत अश्रुप्रवाह से षो डाला है। इस अंक में दिव्याग्नि के ताप ने उसके स्नेह को और भी उज्ज्वल बना दिया है। वह त्यागी है और ‘आयुष्’ के लिये तुरन्त राज्य छोड़ने को प्रस्तुत हो जाता है।

इतना हृदय पर भी वह विनोय क्रियाशील नहीं दिखाने देता। प्रथम अंक को छोड़कर अन्यत्र कहीं उसके पराक्रम को प्रदर्शन का अवसर नहीं मिला है। चतुर्थ अंक में वह अज्ञेय व्यक्ति की तरह केवल विलाप करता रहता है। उर्वशी को दुँदने का कोई उपाय नहीं करता। कालिदास के सभी नायकों में यह दोष पाया जाता है। शृंग द्वारा सामनीय मणि के हरण किये जाने पर अधिकारियों को आज्ञा देने के बदले वह अपने पद को भूल कर धनुष उठा कर दौड़ पड़ता तो अधिक स्वाभाविक दिखता है।

किन्तु भी अपने निम्न और सरस स्वभाव तथा सच्चे प्रेमी के नाते वह दर्शक की सहानुभूति और प्रशंसा प्राप्त कर लेता है।

उर्वशी—उर्वशा इस रूपक का नायिका है। वह स्ववेश्या है, अतः यह कहने का आवश्यकता नहीं कि वह अप्सराओं में सर्वाधिक सुन्दरा थी। इस लिये पुनरवत् उसे वेदाभ्यास-जड पुराण मुनि को रचना मानने को तैयार नहीं है। उसका सहेलियाँ उसे “सुकुमार प्रहरण महेन्द्रस्य प्रत्यादेशो रूप-गविताया श्रिय, अलकार स्वर्गस्य” मानता हैं। न केवल रूप अपितु उसका स्वभाव भी मृदु है। उसको सहजन्याये, रम्भा, चित्रलेखा शब्द उसे जो जान से प्यार करते हैं। कृतज्ञता तथा गुण प्राहकता उसके विशिष्ट गुण हैं। राजा के पराक्रम और उपकार के वशाभूत हो वह स्वयं, मातृप्रेम और सब कुछ छोड़कर पृथ्वी पर आकर रहने लगता है। वह वश्या होता हुई भी यथार्थ प्रमिणी है। यदा-कदा वश्यावत् साहजिक कदम उठा लेता है। यदा राजा से सटक कर बैठ जाता है, प्रेम भी व्यक्त करता है किन्तु अन्तः दुःखिता के प्रति जागरूक भी है। इसलिये वह उठता है “अपहस्तितलज्ज एष मे व्यापार” प्रेमातिदाय में उसका यह व्यवहार विशेष अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। पत्नी का शालीनता और मर्यादा का वह सदा पालन करती है। औशीनरा के प्रति वह उदात्त सम्मानयुक्त व्यवहार करता है। ध्या का कहीं नाम तक उमम नहीं है। तमो वह कहती है—“हला स्थाने खल्विय देवी शब्देनोपचरते। न किमपि परिहीयते शक्या ओजस्विता या अन्तिम अक्ष मे जव क्तिः का भा स्मरण नही रहता ता भा पुत्र को बड़ा माता को प्रणाम करने भेजता है—‘एहि वत्स ज्येष्ठ मातरमभिवन्दस्व।’ फिर भी वह एकनिष्ठ नारा के समान पति का नेत्र चाञ्चल्य ग्राह्य नहीं करता और राजा द्वारा विद्याधर कन्या का कामुक दृष्टि से देखने पर हठ कर चला जाता है। कई मन्त्रालोक्यों ने उसके पुनःत्याग का अलोचना का है। राजा के विद्याग का भय उगे ऐसा करन का बाध्य करता है। वास्तव में तिरस्कार का उपमाग इस रूपक का दुःखिता है। नाट्य साहित्य के अनुसार भी दिव्य पाना का मनुष्या के सयोग में भाग्य के समान है। व्यवहार रत्ना भाटिय ।

प्रेम के कारण उर्वशा ने अनेक कष्ट उद्योग परिवार और स्वयं का त्याग-घटलिया का वियोग, एतारूप में परिणति, पुत्र वियोग। सत्यता त्यागमया

प्रेमिका के सारे गुण उममे विद्यमान हैं और वह विवाहिता पत्नी के समान ही दर्शक का सम्मान प्राप्त कर लेती है।

विदूषक—विक्रमोवंशायन् का विदूषक विद्वान् किन्तु बुद्धू ब्राह्मण है। शास्त्रों के उदाहरण उसे ज्ञात है, सन्दर्भों से उसका परिचय है फिर भी 'निपुणिका उमे मूर्ख बनाकर उससे सारा रहस्य निकाल लेता है। वह असावधान भा है और भूर्जपत्र खाकर राजा के लिये सकट खड़ा कर देता है। अपने ब्राह्मण के प्रति वह सदा हावधान है और जब उर्वशा राजा से बात करता हुआ उ का ओर ध्यान नहीं दे पाता तो स्वयं उससे कहता है "भवति राज्ञः प्रियवयस्यो ब्राह्मणं किं न वन्द्यते।" इसी प्रकार वह अपनी मर्कटाकृति तथा विचित्र वेष से भी परिचित है। इसीलिये जब राजा कुमार से कहता है—"वत्स इतस्तव पितुः प्रियसखं ब्राह्मणमभिवन्दस्वे" तो वह बालक का सकोच दूर करने के लिये उपहान में कहता है—"किमिति शङ्किष्यते। आश्रमवास परिचित एव शाखामृग" राजा उसका सम्मान करता है। किन्तु क्रोध आने पर डाटने से भी नहीं चूकता। भूर्जपत्र खो जाने पर वह कहता है—अहो सर्वत्र प्रमादी वैधेय' यद्यपि विदूषक किसी बात को गम्भीरता से नहीं ग्रहण करता। भूर्जपत्र के बारे में राजा के पूछने पर उपहास में कह देता है "गतमुर्वश्यामार्गेण।" यद्यपि यह कथन सत्य ही सिद्ध होता है। यह बात आकस्मिक है। विदूषक भी राजा को बनाने से नहीं चूकता। राजा द्वारा विह्वल्यया के दूरीकरण का उपाय पूछने पर बहुत देर तक समाधिपूर्वक चिन्तन के बाद वह यह उपाय बतलाता है—"स्वप्न समागमकारिणी निद्रा सेवता भवान्। अथवा तत्र भवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिमालिखप्रावलोक यस्तिष्ठं।" वह उर्वशा से भी परिहास का अवसर हाथ से नहीं जाने देता। जब चित्ररेखा राजा से कहती है—"तद् यथेय मे प्रिय सख। स्वर्गस्य नात्कण्ठते तथा वयस्येन कर्तव्यम्" तो वह तुरन्त बात काट देता है—"किंवा स्वर्गे स्मर्तव्यम्। न वा अश्यते। न वा पीयते केवलमनिमिपैर्नयनै मोना विडम्बयन्ते।" औगानरो द्वारा राजा को प्रेम के विषय में छूट दिये जाने पर वह ताना मार हो देता है—"छिन्नहस्तो मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति धर्मो मे भविष्यतीति"। भोजन-पान की चिन्ता उसे

भी अन्य विदूषको के समान रहती है। यद्यपि वह रूढ़ नहीं है तो भी उसे ध्यान रखने का रस्ता है। पूर्ण चंद्र उसे खाए का रश्मि प्रतल होता है। उसे समाश्वासन रक्षयं बुभुक्षितेन वास्वितवायनमुपलब्ध भवता समाश्वासनम्।" औशीनरी से मंथक पाकर वह गद्गद हा जाता है। विदूषक के ध्यय और प्रत्युत्पन्न उत्तर नाटक भर में बिखरे है। दास्तव में दिशमोर्वशयम् वा मण-वक विदूषक प्रतिप (Type) नहीं है। वह सूतन्त्र ध्यत्तिव वला सशक्त-पात्र है और इस अर्थ में वह ससृष्ट नाटको से प्रय विदूषको से भिन्न है।

अन्य पात्र—अन्य पात्रों में औशीनरी और चित्रलेखा दो ही महत्वपूर्ण हैं। शेष केवल स्थानपूर्ति के लिये हैं। कथानक को जोड़ने और उसे आगे बढ़ाने के लिये उनकी उपस्थिति अनिवार्य है किन्तु उनमें कोई चारित्रिक विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। औशीनरी राजमहिषी है और वह अपने पद के अनुकूल ही गौरव, गरिमा एवं औदार्य का प्रदर्शन करती है। अपने पति के प्रति उसके मन में असीम अनुराग है। इस दृष्टि से वह विशुद्ध पत्नी है। पति को अन्वयमानस्क देखकर वह प्रियवयस्य से इसका कारण जानना चाहती है और जब निपुणिका विदूषक को मूर्ख बना कर रहस्यभेदन कर लेती है "कृतं मया भेदनं भर्तुं रहस्यं दुर्गस्य।" तो भी वह राजा पर शोध नहीं प्रकट करती किन्तु जब राजा को रंगे हाथ उर्वशी के साथ एकड लेती है, प्रेमपत्र भी उसके हाथ पड जाता है तो अवश्य हलके कटाक्ष के साथ बहती है, "नारितभदतो-ऽपराधः। अहमेवात्रापराधधाया प्रतिवृल दर्शना भूत्वाऽग्रतस्ते तिष्ठामि।" फिर भी वह अपने शेष को भीतर दबा लेती है और पति को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये 'पतिप्रसादन'व्रत का अनुष्ठान करती है। उसके शास्त्रीय व्यवहार के कारण पुरुषका उरुका इतना सम्मान करता है कि उसे देखकर उर्वशी को भी कहना पड़ता है, 'महान् खल्वैतरयाब्दुमान' वह अपने गुरुतापूर्ण व्यवहार से उर्वशी का भी सम्मान अर्जित कर लेती है। वह रक्षय उर्वशी के मार्ग से हट जाती है। इतना ही नहीं, वह राजा को उसकी प्रियसी के साथ मुक्त-प्रणय की अनुमति दे देती है और स्वयं उसकी प्रियसी के साथ प्रेमसूत्र्यं रहने का वचन देती है। विदूषक को उसकी इस प्रतिक्रिया पर

विक्रमोर्वशीयम् के पात्र

पुरुष

- सूत्रधार : रगमच और भोटक निर्देशक
पारिपाइर्वक : सूत्रधार का सहायक अभिनेता
पुरूरवस् : प्रतिष्ठानपुर का राजा और भोटक का नायक
माणवक : राजा का विश्वास-पात्र, विद्वान्
आयुप् : पुरूरवा का पुत्र
नारद : ब्रह्मा के पुत्र देवर्षि
चित्ररथ : गन्धर्वों का राजा
कञ्चुकी : राजमहल के अन्त पुर का प्रमुख कर्मचारी व ब्राह्मण
पल्लव : भरत मुनि का शिष्य
गालव : भरत मुनि का शिष्य

नारी

- उर्वशी : भोटक की नायिका, दिव्य अप्सरा
चित्रसेला : उर्वशी की सखी अप्सरा
महजन्या : अप्सरा
रम्भा : अप्सरा
मेनका : अप्सरा
अप्सरमः : अप्सरा
ओशीनरी : पुरूरवस् की राजमहिषी
निपुणिवा : रानी ओशीनरी की परिचारिका
तापसी : सपरिव्रती ब्रह्मवादास्तविक नाम तापवती है
परिजन : रानी की अन्य परिचारिकाएँ
यदनी : राजा की परिचारिका

अन्य पात्र

- इन्द्र : स्वर्ग का स्वामी
केतो : शत्रुओं का राजा
भरत : मादयाचार्य देव-मुनि

विक्रमोर्वशीयम्

प्रथमोऽङ्कः

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।

अन्तर्यञ्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्नृग्यते

सः स्थाणुः स्थिर-भक्ति-योग-सुलभो निःश्रेयसायाऽस्तु वः॥१॥

अन्वयः—य वेदान्तेषु रोदसी व्याप्य स्थितम् एनपुरुषम् आहुः, यस्मिन् अनन्यविषयः ईश्वर इति शब्दः यथार्थाक्षरः, यः च नियमितप्राणादिभिः मुमुक्षुभिः अन्तः मृग्यते, सः स्थिर-भक्ति-योग-सुलभः स्थाणुः वः निःश्रेयसाय अस्तु ।

व्याख्या—महाकविः कालिदासः ग्रन्थस्य निर्विघ्नसमाप्त्यर्थम् आदौ इष्टदेवतास्मरणपूर्वकम् आशीर्वादात्मकं मङ्गलं प्रयुङ्क्ते वेदान्तेष्विति । य शिव वेदान्तेषु उपनिषत्सु रोदसी द्यावापृथिव्यौ व्याप्य आपूर्य स्थितं विद्यमान एकपुरुषम् एकश्चासौ पुरुष इति एकपुरुषः, तम् अद्वितीय सर्वव्यापिन च आहुः कथयन्ति, यस्मिन् शिवे अनन्यविषयः एतन्मात्रत्राचकः न अन्यः विषय अस्ति यस्य सः शिवातिरिक्तार्या प्रतिपादको वा ईश्वरः ईष्टे इति ईश्वरः प्रभुः सर्वातिशायी वा इति शब्दो यथार्थाक्षरः अर्थम् अनतिक्रम्य विद्यन्ते अक्षराणि यस्मिन् सः सत्कार्यबोधकः, यः शिवः च नियमितप्राणादिभिः नियमिताः प्राणादयः यैस्तैः रुद्रप्राणादिवायुभिः, प्राणायामपरायणैर्वा मुमुक्षुभिः सारान्मुक्ति कामयमानैः जनैः अन्तः स्वात्मनि मृग्यते अन्विष्यते; सः स्थिरभक्तियोगसुलभः भक्तिश्च योगश्च इति भक्तियोगौ, स्थिरौ च तौ भक्तियोगौ इति स्थिर-भक्तियोगौ तान्या सुलभः अथवा भक्ति-रूपो योगः भक्तियोगः स्थिरश्चासौ भक्ति-योग इति स्थिर-भक्ति-योगः तेन सुलभः अव्यभिचारिण्या-भक्त्या निश्चलैर्न च चित्तसयमरूपेण योगेन प्राप्तुं शक्यः किं वा स्थिरेण भक्तिरूपेण योगेन

प्राप्य । स्थाणु शिव य युष्माक नि श्रेयसाय कल्याणाय मोक्षाय वा
अस्तु प्रभवतु ।

व्याकरणम्—रोदसीति रोदस् शब्दस्य द्वियचनान्त रूपम् । उक्तचामर
कोशे “भूधायी रोदस्यौ रोदसी च ते” इति । ईश्वर —इष्टे इति ‘स्येशमास
पिसकसोवरच् (३२ १७५) इति सूत्रेण वरच् प्रत्यय । अथवा अश्नुत व्या
प्नोतीति औणादिको वरट्, उपधाया ईत्व च । स्थाणु —सदा तिष्ठतीति
स्थाणु ‘स्थो णु’रित्यौणादिकोणु प्रत्यय । उक्तचामरकोशे “व्योमकेशो
भवो भीम स्थाणु रुद्र उमापति” । नि श्रेयसाय—निश्चित श्रेय नि श्रेयसामति
“अचतुर विचतुर” (५ ४ ७७) इत्यादि सूत्रेणाच् प्रत्ययान्त निपातितम् ।
“मुक्ति कैवल्यनिर्वाणश्रेयो नि श्रेयसामृतम्” इत्यमर । अत्र “तुमर्याच्च भाव
वचनादिति” (२३-१५) चतुर्थी । नि श्रेयस ददातु इत्यर्थ । चतुर्थ्या निमित्त
त्वमर्थ ।

छन्द —अत्र शार्दूलविक्रीडित छन्द । तरुलक्षणञ्च ‘सूर्याश्वेमसजस्तत
सगुरव शार्दूलविक्रीडितम् ।’ यस्य पादेषु मकारसकारौ, जकारसकारौ तनारी
गकारश्च भवन्ति, द्वादशभिः सप्तभिश्च वर्णैर्वर्तिर्भवति सद्घृत्त शार्दूलविक्री
डितम् ॥१॥

अनुवाद—उपनिषद् ग्रन्थ जिसे पृथ्वी और आकाश को व्याप्त रहने
वाला सर्वप्रधान पुरुष बतलाते हैं, जिसके लिये प्रयुक्त होने वाला ईश्वर यह
शब्द अन्य किसी के लिये प्रयुक्त न होने के कारण यथार्थ (सार्थक) है, मोक्ष की
कामना करने वाले लोग प्राणायामादि साधनों के द्वारा जिसे अपने हृदय
में टूँदते हैं, और जो निश्चल भक्ति योग द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा
सकता है, वह शिव तुम सबको नि श्रेयस (कल्याण या मोक्ष) प्रदान करे ॥१॥

निष्पत्ती—अनन्य—न अन्य विषय अस्ति यस्य स । बहुवाहि समास ।
यथार्थाक्षर—अर्थम् अनतिक्रम्य इति यथार्थम् । अव्ययीभाव । यथार्थम्
अक्षराणि यस्य स । बहु० समास ।

स्थिरभक्ति०—भक्तिश्च योगश्च इति भक्ति-योगौ । स्थिरौ च तौ भक्ति-
योगौ इति स्थिरभक्तियोगौ । ताम्बा मुलभ अथवा भक्तिरूपो योग भक्तियोग ।
स्थिराधी भक्तियोग इति स्थिरभक्तियोग तेन मुलभ ।

छन्द—इस श्लोक में शार्दूलविम्बोदित छन्द है। जिसके प्रत्येक पाद में मगण, समण, जगण, सगण, तगण और एक गुरु होता है तथा बारह और सात बर्णों पर यति होती है उसे शार्दूलविम्बोदित कहते हैं।

वेदान्तेषु—सामान्यतया आज्ञरत्न वेदान्त शब्द का अर्थ शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाट समझा जाता है किन्तु कालिदास शंकर से पूर्ववर्ती थे। अतः उनके द्वारा प्रयुक्त वेदान्त का तात्पर्य भारतीय दर्शन की एक शाखा (वेदान्त) नहीं हो सकता। प्रतिपाद्य विषय तथा शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसका अर्थ वेदों का अतिम भाग (उपनिषद्) मानना ही उचित है।

एकपुरुषम्—शरीर में निवास करने वाले या अन्तः को पूरण करने वाले को पुरुष अथवा आत्मा कहते हैं। “पुरिषः पुरिषादः पुरिषयः पूरयतेवा । पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिमेत्य” निरुक्त २-३-१ तथा “बृह इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्” तैत्ति० आर० १०-११-३१। ‘स एको य एकः स स्रो यो स्रः स ईशानो य ईशानः स भगवान् महेश्वरः’ अथर्वशिर उपनिषद्।

व्याप्य...रोदसी—“स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्” ऋग्० १०-६०-१।

स्थायुः—स्थायु शब्द का अर्थ है स्थिर अर्थात् न चलने वाला, शाश्वत। इसी अर्थ में यह शब्द शिव का वाचक है। कुछ लोगों के मत में वपश्चर्या में सदा सड़े रहने के कारण शिव का यह नाम पडा। पुराणों में कहा है—

ततः प्रभृति विश्वात्मा न प्रसूते शुभाः प्रजाः।

स्थायुवन्निश्चलो यम्मात् स्थितः स्थाणुरतः स्मृतः ॥

तथा तैत्तिरीयोपनिषत् में—‘बृह इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः’ तथा कठवल्ली में ‘ईशानो भूत मव्यस्य स एवाद्य सउश्वः’ बतलाया है।

स्थिरभक्ति०—वेदबोधितफलावश्यंश्रद्धामाव निश्चयःश्रद्धा अर्थात् वेद के द्वारा बतलाये हुए फल की अग्रश्यभाविता पर विश्वास श्रद्धा है और श्रद्धापूर्वक शिव का स्मरण भक्ति। जोग की परिभाषा कैवल्योपनिषत् ने इस प्रकार दी है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमं गतिम् ।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमति विस्तरेण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) मारिष !
इतस्तावत् ।

(प्रविश्य)

पारिपार्श्वकः—भाव ! अयमस्मि ।

सूत्रधारः—मारिष ! परिपदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्ट-रसप्रबन्धा ।
अहमस्यां कालिदासप्रथितवस्तुना विक्रमोर्वशीयेन नाम नवेन त्रोटकेन
उपस्थास्ये । तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु स्वेषु पाठेषु अवहितैर्भूवितव्यम् ।

पारि०—यथाज्ञापयति भावः (इति निष्क्रान्तः)

सूत्र०—यावदिदानीमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि (प्रणिपत्य)

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्-यस्तु-पुरुषयद्गुमानात् ।

शृणुत मनोभिरवहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य ॥२॥

व्याख्या—नान्द्यन्ते—नान्दीपाठानन्तरमित्यर्थः । नान्दी च “आशीर्न-
मस्क्रियारूपः श्लोकः षाव्यार्थसूचकः ।”

सूत्रधारः—सूत्रं नाटकीयशयारूपं धारयतीति सूत्रधारः नटप्रधानः ।
उक्तञ्च सङ्गीतसर्वस्वे “वर्णनीयतया सूत्रं प्रथमं येन सूच्यते । रङ्गभूमिं समा-
प्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ।” अलमति०—एतावानेव नान्दीप्रयोगः समीचीनः
नास्त्यानिश्चितः वार्यः । विस्तर इति विपूर्वकात् स्तृधातोर्प् प्रत्ययः ।

नेपथ्याभिमुखमवलोक्य—नेपथ्यस्य वचनिकायाः संमुखं दृष्ट्या नेपथ्य
लक्ष्यन्तु ‘बुधोत्तमकुटुम्बस्य स्थली नेपथ्य उच्यते ।’ सा च अवनिवान्तर्वेप-
थारिप्रभूमिः ।

मारिषः पारिपार्श्वकः सूत्रधारस्य समीपवर्ती नटविशेषः । स च सूत्रपारेण
मारिष इति वाच्यः । उभोक्तम् ‘श्री नटेन भावेति तेनाशौ मारिषेति च ।’
इतः अस्मिन् स्थाने । सायदिति पाक्यालङ्कारे । आगच्छेति शेषः ।

पारिपार्श्वकः—परिपार्श्वं वर्तते इति पारिपार्श्वकः सूत्रधारात् किञ्चिन्-
न्यूनो नटः । भाव इति सूत्रधारस्य बहुमानसूचक संबोधनम् । तथाहि 'सूत्रधारं
वदेद्भावः इति वै पारिपार्श्वकः ।' अयमस्मि भवदाज्ञामनुष्ठातुमुपस्थितो-
ऽमीत्यर्थः ।

सूत्र०—मारिषेति-एषा परिषद् कलाविदा सभा पूर्वेषा भास-सौमिल्लादीना
कवीना दृष्टरसप्रबन्धा दृष्टाः अवलोकिताः रसमयाः प्रबन्धाः काव्यवन्धाः नाट्य-
प्रयोगाश्च यथा तादृशी विद्यते । रसप्रबन्धेति मध्यम पद-लोपी समासः । अह-
मस्या परिषदि कालिदासेन ग्रथित निबद्ध वस्तु कथाप्रबन्धः यस्य तेन कालिदास-
विरचितेन नवेन त्रोटकाख्यरूपकेण उपस्थास्ये सज्जो भूत्वोपस्थितो भविता ।
त्रोटकञ्च 'सताष्ट नव पञ्चाङ्ग दिव्यमानुषसश्रयम् । त्रोटक नाम तत्प्राहुः
प्रत्यङ्ग सविदूषकम् ।' तत् उच्यता पात्रवर्गो नटीनटसमूहः स्वेषु पाठेषु नेपथ्य-
रचनोक्तिप्रत्युक्तिव्यवहारेषु अर्वाहितैः सावधानैः भवितव्यम् ।

पारि०—यथाऽऽज्ञापयति भावः । प्रस्तुतोऽह् भावस्य वचनमनुष्ठातु-
मित्यर्थः । (इति निष्क्रान्तः—रङ्गभूमितो गतः ।)

सूत्र०—(प्रणित्य विनतभावेनामिवाद्य प्रेक्षकान्) यावत् पात्रवर्गः सज्जो
भवति तावदित्यर्थः । आर्याः श्रेष्ठजनाः विदग्धाः कलाकोविदाश्च मिश्राः पूज्या-
स्तान् सर्वान् विज्ञापयामि निवेदयामि ।

प्रणयिषु इति—प्रणयः अस्ति येषामिति प्रणयिनः प्रीतिपात्राणि तेषु
प्रार्थनासहितेषु । स्वविद्याविशेष पश्यतेति प्रार्थ्यमानेष्वध्मासु वा इत्यभि-
प्रायः । दाक्षिण्यात् दक्षिणस्य भावः दाक्षिण्य परस्मैन्दातुवर्तनम्, तस्माद् वा
सद्वस्तु पुरुषबहुमानाद् सद्वस्तु च पुरुषः नायकश्चेति सद्वस्तुपुरुषौ तयो-
र्बहुमानः आदरस्तस्मात् प्रशस्तकथानायकगौरवाद् जनाः प्रेक्षकाः कालिदा-
स्य कवेः इमा क्रिया कृति प्रयोक्ष्यमाणाः अर्वाहितैः सावधानैः मनोभिः शृणुत
श्रवणविषयी कुस्त ।

सुधत्कृपाकाक्षिषु अस्मासु आनुकूल्यप्रदर्शनाय, विक्रमोर्वशीयप्रीतिकथा
प्रत्यादरप्रकटनाय वा भवन्तः सावधानतया कालिदासकृतमिदं त्रोटकमस्माभिः
प्रयोक्ष्यमाणं श्रोत्रपथमानीय मनोरञ्जनं कुर्वन्वित्यभिप्रायः ।

आर्याञ्छन्द इदम् । तल्लक्षणन्तु “यस्या प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थये पञ्चदश साऽऽर्या ।” इति । २।

(नान्दी समाप्त होने पर)

अनुवाद—

सूत्रधार—बस, बहुत अधिक की आवश्यकता नहीं । (नेपथ्य की ओर देख कर) मारिष, इधर आओ ।

पारिपार्श्विक—श्रीमन्, यह आया ।

सूत्र०—मारिष ! इस परिषद ने पूर्ववर्ता कवियों के रसमय नाटक देखे हैं । मैं इस न सम्मुख कालिदासविरचित विक्रमोर्वशीय नामक नवीन श्रेष्ठ लेखक लेकर उपस्थित होने वाला हूँ । इसलिए पात्रों से कह दो कि अपने अपने पाठों में सावधान रहें ।

पारि०—जैसी आपकी आज्ञा (जाता है) ।

सूत्र०—(विनयपूर्वक मुककर) मैं तब तक आप महानुभावों से निवेदन करता हू कि आप लोग अपने प्रेमी पात्रों के प्रति स्नेह के कारण अथवा श्रेष्ठ कथानस्तु और नायक के प्रति आदर भावना के कारण कालिदास का इस कृति का सावधान चित्त से श्रवण कीजिये । २।

टिप्पणी—नान्दी—आशीर्वाद, नमस्कार और मंगल से युक्त वाक्य या श्लोक जो नाटक की कथा की ओर भी संकेत करे, नान्दी कहलाता है । मातृ गुताचार्यना मत है—

आशीर्नमस्काररूप श्लोक काव्यार्थसूचक ।

नान्दीति कथ्यते—

बन्द हो गया और केवल नान्दी (मगलपाठ) की प्रथा शेष रह गयी ।
विश्वनाथ भट्ट ने कहा है—

तत्र पूर्वं पूर्वरङ्ग मभापूजा ततः परम् ।
कथनं कवि-संज्ञादेर्नाटकस्याप्यथामुत्तमम् ।

—साहित्यदर्पण-६-२१

अर्थात् सर्वप्रथम पूर्वरङ्ग, उसने बाद सभा (प्रेक्षस्वर्ग) की प्रशंसा, तब कवि और नाटक के नाम की सूचना तथा आमुख होता है ।

सभापतिः, सभा, सभ्या, गायका, वादका अपि ।
नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुसञ्जनात् ॥
अतो रङ्ग इति ज्ञेयं पूर्वं यत् स प्रकल्प्यते ।
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते ॥

—भावप्रकाश-७वाँ अधिकार

अर्थात् सूत्रधार, नट, नटी, दर्शक, गायक, वादक, राजा एवं परिपद के प्रमुख सदस्य ये सब परस्पर एक दूसरे का मनोरजन करते हुए जहाँ स्वयं भी प्रसन्न होते हैं उस स्थान को रङ्ग कहते हैं । उस रङ्ग में जो कार्य सर्वप्रथम किया जाता है वह पूर्वरङ्ग कहलाता है ।

यन्नाट्यप्रस्तुतः पूर्वं रङ्गविश्रोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गं स उच्यते ॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यत्रपि ।
तथाप्यघश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥

—साहित्यदर्पण ७-२२-२३

भाव-प्रकाशन के सप्तम अधिकार में नान्दी शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं । प्रथम नन्दी नामक शिव के वाहन बैल से सम्बन्धित । जगत् के प्रारम्भ में नृत्य करते हुए वृषभध्वज शिव का कल्पना में उनका नन्दी वृष आया और उन्हें उत्फुल्लित बना गया । उस रूप में उसकी पूजा नान्दी कहलाती है ।

दूसरे जो क्रिया नाटक के प्रारम्भ में देवतादिकों की स्तुति या मगन के पाठों द्वारा नन्दित (अभिनन्दित) होती है वह नान्दी कहलाती है—

आर्याञ्छन्द इदम् । तल्लक्षणन्तु “यस्या प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ।” इति । २।

(नान्दी समाप्त होने पर)

अनुवाद—

सूत्रधार—बस, बहुत अधिक की आवश्यकता नहीं । (नेपथ्य की ओर देख कर) मारिष, इधर आओ ।

पारिपार्ष्विक—श्रीमन्, यह आया ।

सूत्र०—मारिष ! इस परिषद ने पूर्ववर्ता कवियों के रसमय नाटक देखे हैं । मैं इस सम्मुख कालिदासविरचित विक्रमोर्वशीय नामक नवीन त्रोटक लेकर उपस्थित होने वाला हूँ । इसलिए पात्रों से कह दो कि अपने-अपने पाठों में सावधान रहें ।

पारि०—जैसी आपकी आज्ञा (जाता है) ।

सूत्र०—(विनयपूर्वक मुक्कर) मैं तब तक आप महानुभावों से निवेदन करता हूँ कि आप लोग अपने प्रेमी पात्रों के प्रति स्नेह के कारण अथवा श्रेष्ठ कथास्तु और नायक के प्रति आदर भावना के कारण कालिदास का इस कृति का सावधान चित्त से श्रवण कीजिये । २।

टिप्पणी—नान्दी—आशीर्वाद, नमस्कार और मंगल से युक्त वाक्य या श्लोक जो नाटक की कथा की ओर भी संकेत करे, नान्दी कहलाता है । मातृ गुप्ताचार्या मत है—

आशीर्नमस्त्रियारूप श्लोक काव्यार्थसूचक ।

नान्दीति कथ्यते—

प्राचीन काल में रत्न अर्थात् प्रेक्षाएह और मञ्च सम्बन्धी विमों की शान्ति क लिये नट लोग कुछ मंगलकारी गायन-व्यादन आदि का आयोजन करते थे । इस क्रिया के प्रत्याहार (तन्त्री, भाषण आदि को लेकर जमाना) आदि १२ अंग थे । नान्दी इनमें से एक था । इन गारी बातों को पूर्वरङ्ग कहते थे । धीरे धीरे पूर्वरङ्ग की शेष बातों (तैयारी सम्बन्धी बातों) का उल्लेख

बन्द हो गया और केवल नान्दी (मंगलपाठ) की प्रथा शेष रह गयी ।
विश्वनाथ भट्ट ने कहा है—

तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः सभापूजा ततः परम् ।

कथनं कवि-संज्ञादेर्नाटकस्याप्यथामुखम् ।

—साहित्यदर्पण-६-२१

अर्थात् सर्वप्रथम पूर्वरङ्ग, उसके बाद सभा (प्रेक्षकवर्ग) की प्रशंसा, तत्र कवि और नाटक के नाम की सूचना तथा आमुख होता है ।

सभापतिः, सभा, सभ्या, गायका, वादका अपि ।

नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात् ॥

अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत् स प्रकल्प्यते ।

तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिस्सूच्यते ॥

—भावप्रकाश-७वाँ अधिकार

अर्थात् सूत्रधार, नट, नटी, दर्शक, गायक, वादक, राजा एवं परिषद् के प्रमुख सदस्य ये सब परस्पर एक दूसरे का मनोरंजन करते हुए जहाँ स्वयं भी प्रसन्न होते हैं उस स्थान को रङ्ग कहते हैं । उस रङ्ग में जो कार्य सर्वप्रथम किया जाता है वह पूर्वरङ्ग कहलाता है ।

यत्राश्रयवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।

कुशीलवाः प्रकुर्यन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥

प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।

तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥

—साहित्यदर्पण ७-२२-२३

भाव-प्रकाशन के सप्तम अधिकार में नान्दी शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं । प्रथम नन्दी नामक शिव के वाहन बैल से सम्बन्धित । जगत् के प्रारम्भ में नृत्य करते हुए वृषभध्वज शिव की कल्पना में उनका नन्दी वृष आया और उन्हें उत्फुल्लित बना गया । उस रूप में उसकी पूजा नान्दी कहलाती है ।

दूसरे जो क्रिया नाटक के प्रारम्भ में देवतादिकों की स्तुति या मंगल के पाठकों द्वारा नन्दित (अभिनन्दित) होती है वह नान्दी कहलाती है—

नन्दी वृषो वृषाङ्कस्य जगदादौ जगत्पतेः ।
 नृत्यत. कल्पना योगाञ्जगाम किल रङ्गताम् ॥
 देवतादि-नमस्कार-मङ्गलारम्भ पाठकैः ।
 सा क्रिया नन्द्यते नाट्यारम्भे नान्दीति सा स्मृता ॥

साहित्य दर्पण में भी कहा है—

आशीर्वचनसयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
 देवद्विजन्तृपात्रीना तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
 माङ्गल्य-शङ्ख-चन्द्रावज-कोक-कैरव-शसिनी ।
 पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैस्त ॥

मंगलसूचक शंख, चन्द्र, कमल, कोक, कैरव आदि का उल्लेख करने वाली, आशीः या मंगल की आशंसा करने वाली नान्दी ८ या १२ पदों की होनी चाहिये ।

नान्दी के पदों की गणना के कई प्रकार हैं । श्लोक के पाद को भी पद कहते हैं और मुबन्त या तिङन्त को भी । कुछ लोग श्लोक के भीतर के वाक्यों को पद मानते हैं—

श्लोकपादपद केचित् सुप्तिङन्तमथापरे ।
 परेऽथान्तरवाक्यं च पदमाहुर्विशारदाः ॥

—नाट्यशास्त्र

यह नान्दी दो प्रकार से की जाती थी । नाटक के उल्लेख से पूर्व नटों द्वारा । यह नटों की अपनी बनायी हुई होती थी । उसके बाद ही सूत्रधारदि नट दर्शकों के सामने आते थे । इसीलिए पुराने नाटकों में “नान्द्यते सूत्रधारः” देखा लिखा मिलता है । बाद में नाटककार स्वयं भी नाटक के प्रारम्भ में नान्दी लिखने लगे और तब नट लोग अपनी नान्दी करने के बाद दर्शकों के सामने आकर मन्वक्तों द्वारा लिखित नान्दी का भी पाठ करने लगे । इसीलिए बाद के नाटकों में नान्दी के बाद “नान्द्यन्ते सूत्रधारः” लिखा जाने लगा । नाट्यदर्पण में चतुर्थ विधय में कहा है—

“नान्दी च पूर्वैरङ्गाङ्गानां द्वादशमङ्गं सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपलक्षिका । तेन ‘नान्द्यन्ते सूत्रधारः’ इत्यस्य सकलपूर्वरङ्गाङ्गानि तु तेषाम्बिल्लोक-प्रसिद्धतात्,

केषाञ्चिन्निष्फलत्वात्, केषाञ्चिदवश्यभावित्वाच्च न लक्ष्यन्ते । नान्दी तु अवश्य भावित्वान्मङ्गलाभिधानपूर्वकत्वाच्च शुभकृत्यारम्भस्येति लक्षिता । अतएव ऋषयो रूपकारम्भे 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इति पठन्ति । यत्र तु क्वचित्कृता नान्दी न दृश्यते तत्रापि रङ्ग सूत्रणा कर्तुं कृता द्रष्टव्या ।

सूत्रधार, स्थापक और पारि पार्श्वक आदि नान्दी पाठ करते हैं ।

प्रस्तुत नान्दी में देवस्तुति के साथ नाट्यवस्तु का भी संकेत है । पृथ्वी और आकाश को व्याप्त कर अर्थात् दोनों जगह चलने वाला एक पुत्र पुत्रवा ईश्वर (राजा) है जिसे समुद्र (राक्षस के चगुल से छूटने की इच्छा करने वाली अप्सरायें) दूँढती हैं और स्थिर भक्ति से अन्त में पा लेती हैं । ऐसी कथावस्तु-सूत्रक नान्दी पत्रावली कहलाती है—

यस्या वीजस्य निन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुन ।

श्लेषेण वा समासोक्त्या नाम्ना पत्रावली तु सा ।

—नाट्यदर्पण

सूत्रधारः—'नाट्यस्य यदनुष्ठानं तत् सूत्रं स्यात् सर्वाङ्गम्' सूत्र सर्वाङ्गक नाट्यानुष्ठानं धारयति प्रवर्तयतीति सूत्रधारः ।

सम्पूर्ण नाट्यानुष्ठान का प्रवर्तक । कुल्ल लोगों के मत से कठपुतलियों के नृत्य के सूत्र से और कुल्ल लोगों के अनुसार नाट्यरङ्ग के निर्माण में सूत्र (मापक सूत्र) के आधार पर यह नाम पड़ा है । दोनों ही प्रयोगों में सूत्र-धार प्रमुख व्यक्ति होता था । मातृगुप्त ने सूत्रधार के गुण ये बतलाये हैं—

चतुरातोद्य-निष्णातोऽनेक-भाषा-समाधृत ।

नाट्य-प्रयोग-निपुणो नानाशिल्पकलान्वित ॥

अप्रधाय प्रयोक्ता च योक्तृणांमुपदेशक ।

एव गुण-गणोपेत सूत्रधारो निगद्यते ॥

नेपथ्याभिः—नेपथ्य शब्द के अनेक अर्थ हैं । १—“आकल्पवेपी नेपथ्य प्रतिभर्म प्रसाधनम्” इस अमरकोशीय अर्थ के अनुरार नेपथ्य वेश तथा सज्जा को कहते हैं । २—“नेपथ्य तु प्रसाधने रङ्गभूमौ वेपथदे” इस हेमचन्द्रीय मत से रङ्गभूमि को भी नेपथ्य कहते हैं । “रङ्गभूमौ तु नेपथ्य स्यात् प्रसाधने” से विश्वलोचन भी रङ्गभूमि और प्रसाधन दोनों के समर्थक हैं । “नेपथ्य स्या-

उज्ज्वलिका' के अनुसार यह शब्द पदों का वाचक है। वास्तव में यहाँ इसका अर्थ है पदों के भीतर वेद परिवर्तन का स्थान। "अन्तर्जयनिकामाहुर्नेपथ्यम्।"

मारिप—स्थापक नामक सूत्रधार के समकक्ष नट होता है। इसे पारि-
पार्श्वक भी कहते हैं क्योंकि यह सूत्रधार के परिपार्श्व (समीप) में ही रहता है।
रगमञ्च पर काव्यवस्तु (नाटक) की स्थापना करने के कारण ही इसका नाम
स्थापक पडा है—

पूर्वैर्ज्ञ त्रिधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।
प्रतिशय तद्वदपर काव्यमास्थापयेन्नट ॥
दिव्यमर्त्ये न तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयो ।
सूत्रयद् वस्तु दीन वा मुख पात्रमथापि वा ।

—साहित्यदर्पण

जब सूत्रधार पूर्वैर्ज्ञ (नान्दी आदि) करके चला जाता है तब स्थापक या
पारिपार्श्वक का प्रवेश हाता है और वह कथावस्तु, उद्देश्य अथवा पात्र की
सूचना देकर नाटक को जमाता है। यदि नाटकीय वस्तु दिव्य होती है तो वह
दिव्य भूमिका में और यदि अदिव्य हो तो मानव वेद में और यदि दिव्या-
दिव्य हा, दोनों में से किसी का भी वेद बनाकर आ सजता है। भरत ने भी
कहा है—

सूत्रधारस्य पार्श्वे च प्रवदनं कुरुतऽर्थनाम् ।

काव्याय-सूचनालाप स भवेत् पारिपार्श्वक ॥

अन्यत्र कहा है—मान्यो भात्र समुद्दिष्ट किञ्चिद्गुणस्तु मारिप ।

बड़ नट (सूत्रधार) का भाव और उससे कुछ कम (पारिपार्श्वक) को
मारिप कहकर सम्बोधन किया जाता है।

मारिप शब्द का व्युत्पत्ति 'मृप्' धातु से की जाती है। 'मर्पणात् सद्गना-
न्मारिप टिमा निवारणाद्।' "शब्दाश्व" कोष में उसे 'मारिप' भी कहा
है। 'सूत्रधारो नर्तौ मूलेभार्यं वाऽथ विदूषकः ।'

घोटकन—काव्य वेद ने घोटक के स्थान पर 'नाटक' पाठ स्वीकार किया
। साहित्यदर्पण ने घोटक की परिभाषा इस प्रकार दी है—

सप्ताष्ट-नर-पञ्चाङ्गं दिव्य-नानुप-संश्रयम् ।
त्रोटकं नाम तत्र प्राहुः प्रत्यङ्गं सविदूषकम् ॥

त्रोटक में सात, आठ, नौ या पाँच अक्ष होते हैं । इसमें दिव्य और नानुप दोनों प्रकार के पात्र होते हैं । प्रत्येक अक्ष में विदूषक होता है । इस प्रकार इसका प्रमुख रस होता है शृङ्गार । विदूषक प्रत्येक अक्ष में न भी हो तो भी शृङ्गार प्रमुख रस होता है । शेष सब कर्तव्य नाटक के समान होती हैं ।

आर्यमिश्रान्— मिश्र शब्द का प्रयोग सम्मान प्रदर्शन के लिये किया जाता है । 'मिश्राः पूजा वा' इस अर्थ में यह शब्द सदा बहुवचनान्त होता है ।

त्रिकमोर्वशीयेन-विक्रम. (पुरुरवा) च उर्वशी च विक्रमोर्वशी । ते अधिष्ठत्य कृत त्रोटक विक्रमोर्वशीयम् । "शिशु-रुद्र-यम सम-द्वन्द्वेन्द्रवननादिभ्यश्च." (४-३ ८८) के द्वन्द्व समास होने के कारण विक्रमोर्वशी शब्द के आगे छु (ईय) होकर यह शब्द बना है । काटखेम ने भी 'विक्रमम् उर्वशी चाधिष्ठत्य कृत नाटकम्' यही व्युत्पत्ति दी है और कहा है, 'विक्रमशब्दः पुरुरवसः सञ्जेति सम्प्रदायः' विल्सन ने (Theatre of the Hindus) (पृष्ठ १३२) में कहा है कि यद्यपि विक्रम शब्द शौर्य का बोधक है किन्तु 'कवि-स्वातन्त्र्य' के कारण यह शूर का बोधक मान लिया गया है । वे भी द्वन्द्व समास के बाद छु प्रत्यय मानते हैं । दूसरी व्युत्पत्ति है 'विक्रमेण गृहीता उर्वशी विक्रमोर्वशी । तामधिष्ठत्य कृत नाटक विक्रमोर्वशीयम् ।' इसमें भी उपर्युक्त सूत्र से ही 'छु' प्रत्यय होता है क्योंकि यद्यपि प्रस्तुत व्याख्या ने अनुसार यहाँ द्वन्द्व समास नहीं है तो भी सूत्र में "इन्द्रजननादि०" के आदि से इस शब्द को भी ग्रहण कर लिया जायगा । इन्द्र-जननादि आकृति गण है । यह बात काशिका ने भी स्वीकार की है । इस व्याख्या का सम्बन्ध नाटक की कथा के साथ भी ठीक बैठ जाता है क्योंकि नाटक में शौर्य के द्वारा उर्वशी को प्राप्त करने की कथा है । कपि ने नायक पुरुरवा के लिये विक्रम शब्द का प्रयोग जान-बूझकर विक्रमादित्य का स्मरण कराने के हेतु किया है और बाग-बार उनकी ओर संदर्श्य सञ्जेत किया है । यथा-'विक्रममहिम्ना वर्धते मनान्', 'अनुत्सेहः खलु निम्नान्कारः' ।

करुण-क्रन्दनाय प्रसिद्धा । तदुक्त कालिदासेन खुवशे (१४-६८) 'चक्रन्द विग्ना कुन्नीव भूयः' इति ।

मत्तानामिति—कुसुमरसेन पुष्पासवेन मत्ताना पट्टपदाना भ्रमराणा शब्दोऽयं किम् ? अथवाऽयमाकाशे श्रवणाणः शब्दो धीरः परभवनादः कोकिलसर्गातस्वरः किम् ? अथवा सुरगणैः सेविते देवसमूहैरवगाहमाने आकाशे समन्ततः सर्वतः नार्यः देवाङ्गना क्त्रियो वा न्लमजुराक्षर कलानि मधुराणि च अक्षराणि यस्मिस्तत् यथा स्यात्तथा प्रगीताः गान कुर्वन्ति किम् ? प्रहर्षिणी वृत्तमेतत् । तल्लक्षणं तु पिङ्गल-छन्द-सूत्रे—'प्रहर्षिणी म्नीं जौग् त्रिकुशकौ' इति । अस्याः पादे मकार-नकार-जकार-रेफ-गकारा भवन्ति, त्रिभिर्दशभिश्च यतिः । अत्र सन्देहालङ्कारः ।३।

अत्रेदं चिन्त्य यत् सूत्रधारः प्रथममाकाशगत शब्दं कुररीक्रन्दनरूपेण वर्णयति, ततो मत्तभ्रमरगुञ्जनरूपेण, ततः कोकिलगीतरूपेण ततश्च किन्नरीणा कलगीतरूपेण । कथमेकक्षणे क्रन्दनरूपो ध्वनिरपरस्मिन् क्षणे कलगीतरूपः प्रतिमातुं समर्थः ?

(त्रिचिन्त्य) भवतु, ज्ञातम् अगगतम् ।

उरुद्धभ्रेति—नरसखस्य नरस्य सखा इति नरसखः तस्य मुनेः नारायणस्य नामर्षेः उरुद्धमवा ऊरोः उद्धमवः यस्याः सा ऊरुप्रदेशादुत्पन्ना सुरस्त्री देवजातीया उर्ध्वशी कैलासनाथ कुबेरम् (न तु शिवम्) अनुसृत्य सेवित्वा निवर्तमाना गृहं प्रत्यागच्छन्ती विबुधानां देवानां शत्रुभिर्दत्तैरर्धमार्गं मार्गान्तराले एव चन्दीकृता बलात् निरह्नीता । अतः अप्सरसामय गणः करुणं क्रन्दति गोदिति ।

नरसखस्येयं तत्पुरुषान्तः 'राजाह.सखिभ्यष्टच्' इति सूत्रेण टच् प्रत्ययः ततो मसञ्जेकारलोपे सर्षात्प्रत्यस्य सखेति रूपम् । नन्दीकृतेत्यत्र 'कृन्वन्तियोगे सन्त्यकर्त्तरि चिः' (५-४-५०) इति सूत्रेण चिः प्रत्ययः । अत्र वसन्ततिलका वृत्तम् । तल्लक्षणञ्च "उक्ता वसन्ततिलका तमजा जगौ गः" इति वृत्तरत्नान्तरे ।

अत्रैपाऽऽख्यायिका—एकदा नर-नारायणौ नामर्षी तपश्चरन्तौ महतीं सिद्धिमाप्तुः । तत इन्द्रस्ताभ्याम् ईर्ष्यति स्म । तेन च तयोस्तपोभ्रशनाया-

(नेपथ्ये)

परित्ताञ्जदु परित्ताञ्जदु जो सुर-पखलवादी जस्त वा अम्बरत्रले
गई अत्थि [पारित्तायतां परित्तायतां यः सुरपक्षपाती यस्य वा अम्बरत्रले
गतिरस्ति ।]

सूत्र०—(कणं दत्त्वा) अये । किं नु खलु मद्विज्ञापनानन्तर कुररीणा-
मिव आकाशे शब्दः श्रूयते ।

मत्तानां कुसुमरसेन पट्पद्मानां
शब्दोऽयं, परभूतनाद एष धीरः ।
आकाशे सुरगण-सेविते समन्तात्
किंनार्यः कल-मधुराक्षर प्रगीता ॥३॥

(विचिन्त्य) भवतु, ज्ञातम् ।

उरुद्भवा नरसयस्य मुनेः सुरस्थो
कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना ।
वन्दीकृता विबुध-शत्रुभिरर्धमार्गे
क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम् ॥४॥

(इति निष्क्रान्त ।)

प्रस्तावना

व्याख्या—नेपथ्ये इति—इयमुक्तिः यवनिकान्तरात् । परित्रायताम्
परिषायताम् रक्षता रक्षता यः सुरपक्षपाती देवपक्षीयः यस्य वाऽम्बरत्रले
आकाशे गतिरस्ति । यः कश्चिद्देवानुपकर्तुमभिलाञ्छति सोऽपि वाऽऽकाशेऽप्य-
प्रतिहतगमनोऽस्ति स मे साहाय्य करोतु ।

अत्र नेपथ्य इत्यत आरभ्य उर्वश्या दानवापहरणपर्यन्त चूलिकाख्यः
अर्थोपदेशः । तल्लक्षणम् “अन्तर्जयनिकामभ्यैश्चूलिपार्थस्य सूचनम् ।”

सूत्र०—कणं दत्त्वा सावहितं भ्रुत्वा । अये इति आश्चर्यस्यञ्जकम् । मद्वि-
ज्ञापनानन्तरं मदीयनिवेदनानन्तरम् आर्त्तानां पीडितानां कुररीणामिव
आकाशे शब्दः श्रूयते । कुररी भीरुवभाषा क्रन्दनशीला विह्वली सामान्य-
तया प्रलीयप्रदेशेषु निवसति टिटहरीति च मण्यते लोकभाषायाम् । सा च

करुण-ऋन्दनाय प्रसिद्धा । तदुक्त कालिदासेन रघुवशे (१४-६८) 'चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः' इति ।

मत्तानामिति—कुमुदसेन पुष्पासवेन मत्ताना पट्पदाना भ्रमराणा शब्दोऽत्र किम् ? अथनाज्यमाकाशे श्रूयमाणः शब्दो धीरः परभृतनादः कोकिलसर्गातस्वरः किम् ? अथवा सुरगणैः सेविते देवसमूहैरवगाह्यमाने आकाशे समन्ततः सर्वतः नार्यः देवाङ्गनाः किन्नर्यो वा कलमधुराक्षर कलानि मधुराणि च अक्षराणि यस्मिस्तत् यथा स्यात्तथा प्रगीताः गानं कुर्वन्ति किम् ? प्रहर्षिणी वृत्तमेतत् । तल्लक्षणं तु पिङ्गल-छन्द-सूत्रे—'प्रहर्षिणी म्नां जौग् त्रिरुद्शकौ' इति । अस्याः पादे मकार-नकार-जकार-रेफ-गकारा भवन्ति, त्रिभिर्दशभिश्च यतिः । अत्र सन्देहालङ्कारः । ३।

अत्रेदं चिन्त्य यत् सूत्रधारः प्रथममाकाशगतं शब्दं कुररीक्रन्दनरूपेण वर्णयति, ततो मत्तभ्रमरगुञ्जनरूपेण, ततः कोकिलगीतरूपेण ततश्च किन्नरीणां कलगीतरूपेण । कथमेकक्षणे क्रन्दनरूपो ध्वनिरपरस्मिन् क्षणे कलगीतरूपः प्रतिभातुं समर्थः ?

(विचिन्त्य) भवतु, शतम् अत्रगतम् ।

उरुद्भव्येति—नरसखस्य नरस्य सखा इति नरसखः तस्य मुनेः नारायणस्य नामर्षेः उरुद्भवा ऊरोः उद्भवः यस्याः सा ऊरुप्रदेशादुत्पन्ना सुरस्त्री देवजातीया उर्वशी कैलासनाथ कुबेरम् (न तु शिवम्) अनुसृत्य सेवित्वा निरर्तमाना गृहं प्रत्यागच्छन्ती विद्युधाना देवानां शत्रुभिर्देवैरर्धमार्गं मार्गान्तराले एव शन्दीकृता बलात् निगृहीता । अतः अप्सरसामय गणः करुणं क्रन्दति रोदिति ।

नरसखस्येत्यत्र तत्पुष्पान्तः 'राजाहःसत्पिभ्यष्टच्' इति सूत्रेण टच् प्रत्ययः एतो भसञ्जेकारलोपे सप्तम्यस्य सख्येति रूपम् । नन्दीकृतेत्यत्र 'कृन्व-स्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि चिः' (५-४-५०) इति सूत्रेण चिः प्रत्ययः । अत्र वसन्ततिलना वृत्तम् । तल्लक्षणञ्च "उक्ता वसन्ततिलका तमजा जगौ गः" इति वृत्तरत्नान्तरे ।

अत्रैषाऽऽख्यायिका—एकदा नर-नारायणौ नामर्षी तपश्चरन्तौ महतीं सिद्धिमाप्तुः । तत इन्द्रस्ताम्याम् ईर्ष्यति स्म । तेन च तयोस्तपोभ्रशनाया-

पसरसः प्रेषिताः । परं नारायणेन स्वोरोः उर्वशी नाम्नी अप्सराः उत्पादिता यस्या
 अद्वितीया रूपसम्पत्तिमयलोक्यान्याप्सरसः प्रीष्टिताः तत्स्थानात् पलायिताः ।
 विक्रमोर्वशीयेऽप्यन्यत्र कालिदासेनास्थोत्प्लेखे कृतः “स्थाने खलु नारायण-
 मृषिं विलोभयन्तस्तदूरुसम्भवामिमा दृष्ट्वा प्रीष्टिताः सर्वाप्सरसः (६-१) ।
 नर-नारायणयोरपि प्राचीनेषु ग्रन्थेषु सहचरितयोरैव वर्णनं लभ्यते । तौ कति-
 पयानमृचामपि दृष्टारौ स्त्रीक्रियेते । कालक्रमेण तौ कृष्णार्जुनयोः बोधघ्नौ
 सजातौ । नर-नारायणौ बदरिकाश्रमे तपस्यन्तावपि वर्णितौ स्तः ।

इति निष्क्रान्तः सूत्रधार एतन्निवेद्य रक्षादपगतः । प्रस्तावना—एषा प्रस्तावना
 समाप्ता । तस्याश्च लक्षणं दर्शये— “नटी विदूषको वापि पारिपार्श्वक एव वा ।
 सूत्रधारेण सहिता, सलाप यत्र कुर्वते । चित्रैः वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुता-
 क्षेपिभिर्मियः । आमुक्तं तच्च विशेषं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ।”

अनुवाद—(नेपथ्य में) बचाओ, बचाओ । जो देवों के पक्ष का हो या जो
 आकाश में जा सकता हो वह.....

सूत्र०—(कान लगाकर) अरे, मेरे निवेदन करते ही यह आकाश में
 कुररियों (टिटहरियों) जैसा शब्द कैसा मुनायी दे रहा है ?

क्या यह फूलों का रस पीकर मस्त बने भौरों का गुञ्जन है ? या यह
 कोयल की गम्भीर ध्वनि है अथवा देवियों की विहार-स्थली आकाश में
 मनोरम मधुर शब्दों से नारियाँ (किन्नरियाँ) गा रही हैं ॥३॥

(सोचकर) अस्तु, समझा । नारायण मुनि की जघा से उत्पन्न हुई
 देवाङ्गना (उर्वशी) जब कैलासनाथ कुबेर की परिचर्या कर लौट रही थी तब
 उसे मार्ग में ही देवताओं के शत्रुओं ने बन्दी बना लिया । इसीलिये यह
 अप्सराओं का गण करण क्रन्दन कर रहा है ॥४॥

(चला जाता है)

यह प्रस्तावना समाप्त हुई ।

टिप्पणी—नरसम्पत्ति—उर्वशी को यहाँ नर
 । उत्पन्न पतलाया गया है । श्रुत्वेद में पठ मरदा ।

ऋषि का नाम नर है और दशम मण्डल के ६०वें सूक्त के ऋषि हैं नारायण । आगे चलकर साहित्य में इन दोनों का उल्लेख एक साथ होने लगा और उनके लिये “पुराणी मुनिसत्तमौ,” ‘तापसौ’ विशेषण प्रयुक्त होने लगे । बाद में वे ‘देवौ’ और ‘आदिदेवौ’ कहे जाने लगे । ऋषी-ऋषी नर योग्यतम पुरुष का और नारायण ईश्वर का वाचक भी मिलता है । अन्त में नर शब्द अर्जुन का और नारायण कृष्ण का बोधक बन गया ।

यहाँ कालिदास ने प्राचीन ऋषि नारायण की जघा से उर्वशी की उत्पत्ति बतलाई है । नारायण के तन से भयभीत होकर इन्द्र ने अप्सराओं को उनका तपोमग करने के लिये भेजा । ऋषि ने यह देखकर अपनी अध्यात्म शक्ति से उर से एक अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा (उर्वशी) को उत्पन्न कर दिया जिसे देख कर सब अप्सरायें लज्जित होकर चली गयीं । हरिवंश (श्लोक ४६.१ और ८८.१२) में भी इसका उल्लेख है—‘नारायणोऽनिर्मित सभूता वरवर्णिनी । ऐलस्य दयिता देवी योषिद्रत्न किमुर्वशी ।’ आगे कालिदास ने इस घटना का उल्लेख भी किया है ।

अप्सरसः—अप्सरायें देवताओं की वेश्यायें तथा अतिमानवीय शक्ति से सम्पन्न मानी जाती हैं । इस शब्द का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग और बहुवचन में होता है । रामायण बालकाण्ड (४५-३३) में उनकी उत्पत्ति जल से बतलाई है—‘अप्सु निर्मथनादेव रसात् तस्माद् वरस्त्रियः । उत्पेत्तुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन् ।’ महाभारत में उन्हें काश्यप और अरिष्ठा की सन्तान कहा है—‘इदं त्वप्सरसा विदितं वश पुण्यलक्षणम् । अरिष्ठाऽसूत देवी सुभगा देवप्रियः पुरा’ (आदिपर्व ६६ ४८-४९) वे स्वयं अदृश्य रहकर औरों को देख सकती हैं क्योंकि वे तिरस्करिणी विद्या जानती हैं और अपने साथ औरों को स्वर्ग तक ले जा सकती हैं ।

प्रस्तावना—साहित्यदर्पण (१ ३१, ३२) में प्रस्तावना की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्वक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिता संलाप यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यै स्वकार्योत्थै प्रस्तुताक्षेपिभिर्मथि ।
आमुरा तत्तु विज्ञेय नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ॥

वही फिर उसे इस श्लोक में आनन्दमग्न भ्रमरों या किन्नरियों के मधुर गीत का कैसे मान सकता है ?

इस श्लोक के 'किन्नर्यः' के स्थान पर कई पुस्तकों में 'किन्नर्यः' ऐसा पाठ है। किन्नरी देवयोनि की गायिकाओं को कहते हैं।

यह श्लोक प्रहर्षिणी वृत्त में है। इसके प्रत्येक चरण में भगण, जगण, यगण और गुरु होता है तथा तीन और दस वर्णों पर यति होती है।

ऊर्द्ध्मभा०—नरस्य सखा इति नरसखः तस्य । तत्पुरुष समास के ग्रन्थ में होने पर सखि शब्द ने ग्रामे टच् (अ) प्रत्यय होता है जिससे वह 'सख' बन जाता है।

ऊरोः उर्द्धमघो यस्याः सा इति ऊर्द्ध्मभा ।

इस चतुर्थ श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु वर्ण होते हैं।

(तत. प्रविशन्त्यप्सरस)

अप्सरसः—परित्ताञ्चदु^८ परित्ताञ्चदु जो सुरपक्षपादी जस्य वा अम्बरश्चले गई अत्थि । [परित्रायतां परित्रायतां यः सुरपक्षपाती यस्य वा अम्बरतले गतिरस्ति ।]

(तत प्रविशत्यपटीक्षेपेण पुरुरवा रथेन सूतञ्च)

राजा—अलमलमाक्रन्दितेन । सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तं पुरुरवसं मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रायत्या इति ।

रम्भा—असुरावलेवाग्रे । [असुरावलेपात्]

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम ?

दशरूपक में भी कहा है—

सूत्रधारो नदी नृते मार्गं वाऽथ विदूषकम् ।
स्वकार्यप्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुत्तम् ।

आमुत्त और प्रस्तावना पर्यायवाची हैं । इसमें सूत्रधार नदी, विदूषक या पारिपाश्वर्यक से नाटक के विषय में चर्चा करता है । प्रस्तावना के पाँच भेद हैं—

उद्घातवक्र. कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।

प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ॥

यहाँ प्रयोगातिशय प्रस्तावना है । इसका लक्षण है ।

एषोऽयमित्युपनेपात् सूत्रधारप्रयोगतः ।

पात्रप्रवेशो यत्रैव प्रयोगातिशयस्तथा ॥

—दशरूपक ३-२

जहाँ सूत्रधार एषः या अयम् आदि से आने वाले पात्र की सूचना देता है वहाँ प्रयोगातिशय होता है । यहाँ भी 'क्रन्दत्यतः करुण अप्सरसा गणोऽयम्' कहकर सूत्रधार ने अप्सराओं के रगमञ्च पर प्रवेश की सूचना दी है । यह दशरूपक का मत है ।

नाट्यशास्त्र के अनुसार यह परिभाषा अवलगित की है—'यत्रान्वस्मिन् समावेश्य कार्यमन्यत् प्रसाध्यते । तच्चावलगितं नाम विज्ञेय नाम्नायोकृतुभिः' (१८ ११६) । साहित्य दर्पण ने भी इसी का अनुसरण किया है । 'यत्रैवत्र समावेशात् कार्यमन्यत् प्रसाध्यते प्रयोगे खलु तज्ज्ञेय नाम्नाऽवलगितं बुधैः ।' (६-३८) । यहाँ नाटक का परिचय देते हुए सूत्रधार ने अप्सरा पात्रों का प्रवेश करा दिया है । शाकुन्तल में भी 'तवास्मि गीतरागेण' आदि कहकर 'एष राजेव दुःयन्त' से पात्र प्रवेश करा दिया है । अतः यहाँ अवलगित प्रस्तावना है । प्रयोगातिशय की परिभाषा नाट्यशास्त्र ने इस प्रकार की है—

प्रयोगे तु प्रयोग तु सूत्रधारः प्रयोजयेत् ।

ततश्च प्रविशेत् पात्र प्रयोगातिशयो हि स । २२-२६

•कुन्दमाला की प्रस्तावना प्रयोगातिशय है ।

मत्तानाम्—तृतीय श्लोक को कई विद्वान् प्रक्षिप्त मानते हैं क्योंकि पहले सूत्रधार आकाश के शब्द को टिटहरियों का करुण क्रन्दन समझता है ।

वही फिर उसे इस श्लोक में ध्यानन्दमग्न भ्रमरों या किन्नरियों के मधुर गीत का कैसे मान सकता है ?

इस श्लोक के 'किन्नार्यः' के स्थान पर कई पुस्तकों में 'किन्नर्यः' ऐसा पाठ है । किन्नरी देवयोनि की गायिकाओं को कहते हैं ।

यह श्लोक प्रहर्षिणी वृत्त में है । इसके प्रत्येक चरण में भगण, जगण, यगण और गुरु होता है तथा तीन और दस वर्णों पर यति होती है ।

ऊरुद्भ्रमा०—नरस्य सखा इति नरसखः तस्य । तपुरुष समास के अन्न में होने पर सखि शब्द के आगे टच् (अ) प्रत्यय होता है जिससे वह 'सख' बन जाता है ।

उरोः उद्भवो यस्याः सा इति ऊरुद्भ्रमा ।

इस चतुर्थ श्लोक में दम्भन्ततिलका छन्द है । इसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु वर्ण होते हैं ।

(तत. प्रविशन्त्यप्सरस)

अप्सरसः—परित्ताअदु० परित्ताअदु जो सुरपत्न्यानी जस्त वा अम्बरअले गई अत्थि । [परित्रायतां परित्रायतां यः सुरपत्न्यानी यस्य वा अम्बरतले गतिरस्ति ।]

(तत प्रविशत्यपटीक्षेपेण पुरुरवा रथेन सूतश्च)

राजा—अलमलमाक्रन्दितेन । सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तं पुरुरवसं मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रायत्या इति ।

रम्भा—असुरावलेवादो । [असुरावलेपात्]

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम् ?

रम्भा—सुणादु महाराओ । जा तपो विसेस-परिमङ्गिदस्त सुउमारं पहरणं महिन्दस्त, पचादेसो रू गञ्चिदाए सिरीए^१, अलंकारो सभगस, साणो पिअसही उवासी कुवेर-भ्रण्णादो पडिणिवट्टमाणा^{१०} समावत्ति-दिट्ठेण हिरण्यउरवासिणा केसिणा दाणवेण चित्तलेहान्दुदीआ अध पथज्जेव्व वन्दिग्गाहं गहिदा । [श्रणोतु महाराजः । या तपो-विक्रमो० २

विशेष-परिशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य, प्रत्यादेशो रूपगयितायाः श्रियः, अलङ्कारः स्वर्गस्य, सा नः प्रियसख्युर्यशी कुबेर-भगवतात् प्रतिनिवर्तमाना समापत्ति-दृष्टेन हिरण्यपुरवासिना केशिना दानवेन चित्रलेखा-द्वितीया अर्धपथ एव वन्दिमाहं गृहीता ।]

व्याख्या—तत इति—अप्सरसः रङ्गभूमिं प्रविशन्ति । अप्सरः शब्दस्य प्रयोगो बहुवचने एव प्रायेण भवति—“स्त्रियां बहुवचनैः स्वर्गेश्या ऊर्वशीमुखाः ।” (अमरकोषः)

रामायणेऽप्सरसामुत्पत्तिरदभ्यो वरिष्ठा—“अप्सु निर्मथनादेव रथात्तस्माद् वरस्त्रियः-उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन् (बाल का० ४५-३३)

अप्सरसः :-परित्रायतामित्यादि पूर्ववत् । ततः प्रविशतीति—ततो रथेन राजा सूत्रश्चापटीक्षेपेण प्रविशति । अपटी ज्वनिका तस्याः क्षेपेण प्रसारणेन । ज्वनिकापातानन्तरमित्यर्थः । “अपटीकाण्डपटिका प्रतिखीरा ज्वनिका तिष्क-रिणी” ति हलायुधः । अलमिति—आक्रन्दन न कुस्तेत्यर्थः, अत्र निषेधार्थे तृतीया । सूर्यस्थोपस्थानं पूजा ततः निवृत्त प्रत्यागत पुरुरवस मामेत्य वश्यता कुतः कस्माज्जनाद् भवतीनां रक्षा कर्तव्या । अत्र सूर्योपस्थानोदिति वचनं सुरपत्न्यापतिवस्य अम्बरगते गतिमत्त्वस्य च सूचनाय । असुरावलेपेति—असुराणामयलेपतः । तद्गर्जन्याभिभवादिति तात्पर्यम् । “भीत्रार्थाना भयहेतुरिति पञ्चमी (१-४-२५) । किं पुनरिति—भवतीनां दानवावलेपेन किमपराध्व किमहितमाचरितम्? शृणोति इति—शृणोतु महाराजः । याऽस्माक सखी तपसो विशेष इति तपोविशेषस्तेन शङ्कितस्य महेन्द्रस्य सुकुमार प्रहरणनस्नम् । महति तपसि वर्तमाने जने इन्द्रो ममेदं पद गृहणीयादिति शङ्कालुर्जायते तत्तपोमङ्गस्य चोर्वशी-प्रमुखा अप्सरस आमुधरूपेणोपयुङ्क्ते । या न्वाह सर्वाधिक रूपवतीति सगर्वायाः श्रियः लक्ष्म्याः (श्री सम्पन्नाया गौर्याः पावत्याः इतिपाठान्तरम्) प्रत्यादेशः प्रत्याख्यानम् । “प्रत्यादेशो निराकृति” रित्यमरः । नहियस्या विच मानायां लक्ष्मीः अभिरूपवती गण्यते । स्वर्गस्य नाकस्य देवलोचस्य वा अलङ्कारोभूषण वा नोऽस्माकं प्रियसखी ऊर्वशी कुबेर भगवतात् निवर्तमाना प्रत्या-गच्छन्ती चित्रलेखा द्वितीया यस्या वा चित्रलेखा एव भूता द्वितीया सम्राज्जि

दृष्टेन अस्मात् मिलितेन हिरण्यपुर वासिना केशिना एतन्नामकेन (३-४-४५) दानवेन अर्धपथे मार्गमध्ये एव वन्दि ग्राह वन्दीवर्हीचेति वन्दिग्राह, उपमाने कर्मणि चेति समुल् "उपमाने कर्मणि च" इति ३-४-४५ । गृहीता सम्यग्गृहता ।

अनुवाद—(इसके बाद अप्सरायें प्रवेश करती हैं)

अप्सरायें—बचाओ, बचाओ । जो कोई देवताओं का सहायक हो या जिसकी आज्ञा में पहुँच हो—

(परदा उठता है रथ पर सवार राजा तथा सारथि प्रवेश करता है)

राजा—ऋदन मत कीजिये, मैं पुरुरवा सूर्य की उपासना करके लौट रहा हूँ । मेरे पास आकर बतलाइये कि आप लोग किससे अपनी रक्षा चाहती हैं ।

रम्भा—अतुरों के अहङ्कार से ।

राजा—असुरों के अहङ्कार ने आप लोग का क्या विगाड़ा है ?

रम्भा—सुनिये महाराज ! किसी के विशेष तप से शक्ति होकर इन्द्र सुकुमार अस्त्र के रूप में जिसका उपयोग करता है, जो लक्ष्मी के भी रूप-मूर्ति को चूर करने वाली तथा स्वर्ग की शोभा है वह हमारी प्यारी सहेली उर्वशी जब कुबेर के भवन से लौट रही थी तो अचानक सामने आये हुये हिरण्यपुर वासि केशी नामक दानव ने उसे तथा चित्रकेला (उसकी सखी) को अधवीच में पकड़कर बन्दी बना लिया ।

टिप्पणी—अपटीक्षेपेण—जब कोई पात्र मन्त्र पर सहसा प्रवेश करता है तो पर्दा उठाया जाता है । "नासूचितस्यपात्रप्रवेशो नाटकमेत" अर्थात् सामान्यतया कोई पात्र बिना सूचना के मन्त्र पर नहीं लाया जाता, न मन्त्र के चाहर ही जाता है । इसीलिये राजा का अचानक मन्त्र पर प्रवेश अपटी अर्थात् पर्दे के क्षेप (उठाने) के साथ बताया गया है । हलायुध में अपटी का अर्थ जवनिना अर्थात् पर्दा घतलाया गया है—“अपटी काण्डपटिका प्रति सीरा जवनिका विरस्करिणी ।” नाटक में अप्सराओं का प्रवेश तो सूचित है किन्तु

राजा असूचित ही आ जाता है। कुछ टीकाकारों ने इस बात पर ध्यान न देकर कहा है। 'यथासूचितपात्र-प्रवेशस्तत्र आकस्मिक प्रवेशे अपटीक्षेपेणेति वचन युक्तम्। अत्र तु प्रस्तावनान्ते सूचितानामेवाप्सरसा प्रवेशः।' यह कहकर 'अपटीक्षेपेण' इस शब्द को प्रक्षिप्त मान लिया है और कुछ ने "नपटी क्षेपः इति अपटीक्षेपः" यह व्याख्या कर कहा है कि बिना ही पदाँ उठे अप्सराओं का प्रवेश होता है। सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तम्—उपस्थान का अर्थ है सेवा या उपासना। राजा का अपना नाम बताकर परिचय देना उसके मुखक्षपाती होने को प्रकट करता है और 'सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तम्' यह कथन उसकी अम्बर तल में गति को। अप्सराओं के लिये उसका नाम ही पर्याप्त है। हिरण्यपुरवासिना—हिरण्यपुर दानवा की राजधानी है। महाभारत आदिपर्व के १७३ तथा २२३ अध्यायों में इसकी चर्चा है। हिरण्यपुर भूलोक और स्वर्ग के बीच अन्तरिक्ष में अवास्थित है। इसीलिये बुधेर के पास से लौटती दुयी अप्सराओं को मार्ग में कशी ने बन्दी बना लिया। आक्रन्दितेन—यहाँ अलम् के योग में तृतीया है। अर्धपथेन—अर्धश्चासौ पन्थ। इति अर्धपथः तस्मिन्। पथिन् के आगे तत्पुरुष समास में अच् प्रत्यय होकर पथ वन जाता है।

राजा—अपि ज्ञायते कतमेन दिग्भिर्भागेन गतः स जाल्मः ?

सहजन्या—पुव्वुत्तरेण । [पूर्वोत्तरेण ।]

राजा—तेन हि मुन्यतां विपादः । यतिष्ये वः सखीप्रत्यानयनाय ।

रम्भा—सरिसं एद सोमवसः-सभवस्त । [सदृमेशत् तसोमवंश-संभवस्य ।]

राजा—क पुनर्मा भवत्यः प्रतिपालयिष्यन्ति ?

सर्पाः—एदस्सिं हेमकूड-सिहरे । [एतस्मिन् हेमकूट-शिखरे ।]

राजा—सूत ! ऐशानीं दिश प्रति चोदयाश्वानाशु गमनाय ।

सूतः—यदा ज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति यथोक्तं करोति)

राजा—(रथवेगं निरूपयन्) साधु, साधु। अनेन रथवेगेन पूर्व-प्रस्थितं वैनतेयमप्यामादयेयं किं पुनस्तमपकारिणं मघोनः ? तथाहि—

अग्ने यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णाभिवन्तो घना-
श्चक्र-भ्रान्तिररान्तरेपुधितनोत्यन्यामिधारावलीम् ।
चित्र-न्यस्तमिधाचलं ह्यशिरस्यायाम यच्चारं
यष्ट्यग्ने च सम स्थितो ध्रजपटः प्रा-ते च वेगानिलात् ॥५॥
(निष्क्रान्तो रथेन राजा सूतश्च)

व्याख्या—राजा-अपि ज्ञादत इत-अपि प्रश्नार्थे ; किं जानन्ति
भवत्यः कतमेन दिग्दिभागेन दिशः प्रदेशेनगतः सजाल्मः दुष्टः ? “जाल्मस्तु
पामरे असमीक्ष्यकारिणि” इति हैमः ।

सहजन्त्या—पूर्वोत्तरेण ऐशान्या दिशा उदीची प्राच्योरन्तरालेन कोशेन,
पलायित सजाल्मः ।

राजा—तेन यद्येव त-मुच्यता विपाद शोभस्त्यज्यताम् । वः युष्माकं
सख्या. प्रत्यानयनाय सखीं पुनरानेतुममह यतिष्ये । प्रत्यानयनायेति ‘तुमर्था-
न्वभाववचनादि’ ति चतुर्थी (२-३-१५)

रम्भा—एतत् सोमवशे सम्भवः जन्म यस्य तस्य चन्द्र वशोत्पन्नस्य क्षत्रि-
यस्य भवतः सदृश योम्यमेव ।

राजा—क पुनर्भवत्यः मा प्रतिपालयिष्यन्ति मे प्रतीक्षा करिष्यन्ति ।

अप्सरसः—एतस्मिन् हेमकूटशिखरे अस्य हेमकूटनाम्नोऽद्रेः शृङ्गे ।

राजा—सूत ! ऐशानीं पूर्वोत्तरा दिशप्रति चादय प्रेरयाश्चान् शीघ्रगमनाय ।

सूत—यत् । शपयत्यायुष्मान् । यदुच्यते भवता तदेवानुष्ठास्यते मया ।

(इति यथोक्त राशः कथनानुसारेण करोति हयात् पूर्वोत्तरा दिश प्रेरयति)

सूतो राजानमायुष्मानिति पदेन रुशोधयति । तथोक्तनाड्यशास्त्रे (१६-११)

“आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी सूतेन सर्वदा ।”

राजा—(रथवेगनिरूपयन् दृष्ट्वा) साधु साध्वित प्रशसात्मक पदम् ।
अग्नेन रथवेगेन मत्तः पूर्वं प्रस्थित वैनतेय विनतायाः अपत्य गरुडमपि,
आसादयेयम् ग्रहीतु पारयासि किं पुनस्तमपकारिण महितकारिण मघोनः इन्द्रस्य !
अग्ने इति—मम रथस्य अग्ने पुरतः चूर्णाभिवन्त. सपित्य चूर्णभाव प्राप्नुवन्तो
घनाः रेणुपदवीं रजोगतिं यान्ति लभन्ते । यथा रेणवः रथस्य जववशात् उद्-
धूता अपि पश्चादेव भवन्ति तद्वत् चूर्णाभूता घना अपि रथस्य पश्चादेव यान्ति ।
केचित्तु जलगुरवोऽपि जलदाः चक्रधारया पिष्टीकृताः मत्स्यन्दना । यत.पासुब्रह्म-

सर्वकामिनि इत्याख्यायितुं तस्मिन् वस । अस्माकम् प्रीतिः प्रवर्ण्य श्रीश्यामा के
पर्वमेव मगन्तव्यम् अस्माकम् सर्वेभ्यो दिनीयामस्य श्रीश्यामादुक्तः विद्यमानेति इत्य
सीव । अस्याः अस्मत्प्रीतिनिर्वाहस्य मध्ये निर्विघ्नानि कष्टव्यवहानि । यदा च
भवेत् परि प्रवर्ण्य सदा एव प्रीयते एव मन्वन्तव्यवशी-मन्वेव काचन नदीनाः
स्वापत्नी निवेद्यता मन्वे । हर्षशिरसि अस्याना शिरसि यद् आयातः अस्मिन् एव
तदायातव्यम् दीर्घं वाससत् तत्रैव मन्वन्तव्य आश्रितव्यम् सद्यः अन्वम् मन्वेनैव
हृदयम् । एव शशाङ्कस्याना शिरसि शशाङ्कं यद् दीर्घं वाससत् निवर्ण्यतस्य रिपे
मन्वन्तव्यम् । मन्वन्तुम् अन्वत्सहस्यम् अन्व मन्वे विधौ अन्वत्सः मन्वेमन्वन्तुं योः
निवर्ण्यतस्य मन्वे र्पणदेशे च मन्व युगम् मन्वत्सहस्यं हृदये ।
मन्वेम-अन्व मन्वुपश्यात् अन्वत्सहस्यमन्वम् विधौ अन्वत्सः मन्वेऽपि मन्व-
वन्वमेव हृदये । अन्वोऽपि मन्वमन्वोऽपि मन्वोऽपि । मन्वत्स "मन्वायतमन्वोऽपि मन्वो
मन्वत्सहस्यं मन्वत्सहस्यं" मन्वमन्वोऽपि मन्वत्सहस्यं देः मन्वित्साहस्यमन्वत्सहस्यं । अन्व
श्यामादुक्तवन्वीहृत् इत्युक्तः । सहाय्यव्यक्तम् — "मन्वोऽपि मन्वत्सहस्यः सन्वत्सहस्यः श्यामादुक्त-
वन्वीहृत्सहस्यम् ।" ५ ।

(निवर्ण्यतो राज्ञेयि-मन्वत्सहस्यं राज्ञाऽप्यवस्यति इत्यव्ययव्यक्तिप्रकृतः ।)

अनुवाद—राजा—श्यामां मालूम है कि यह पामर किस तरह का यश है ।
आपकी—देशी (उचर-पूर्व) दिशा में ।

राजा—तो अब शोक छोड़ दीजिये । मैं आपकी शब्दी को यादिस जाने
का यत्न करूँगा ।

पङ्क्ति भी सृष्टि कर रहे हैं। घोड़ों के सिर पर लगा हुआ ऊँचा चौर चित्र में खिंचा हुआ निश्चल लग रहा है और ध्वज का पट वायु के वेग से, रथ के एक किनारे और ध्वज की छड़ी के आगे एक साथ लहरता स्थित है। ५।

टिप्पणी—मोमघंश समग्रस्य—जिसी-जिसी ग्रन्थ में “सोमादेकान्तरस्य” यह पाठ है। उसमें इसकी व्याख्या होगी ‘सोमाद् एको बुधः अन्तरं यस्य स.’ अर्थात् सोम से केवल एक ही पीढ़ी का अन्तर जिसमें है और वह इस प्रकार कि ब्रह्मा के पुत्र अग्नि हुये, अग्नि का पुत्र सोम, सोम का पुत्र बुध और बुध का पुरुरवस्। आयुष्मान्—सारथि राजमवन के बञ्जुकी के समान आयु में वृद्ध, और सम्मानित व्यक्ति होता था। उसकी प्रतिष्ठा चाचा के समान थी। सुमन्त्र को राम सदा बात कहकर सम्बोधित करते थे। इसीलिये नाटकों में सारथि सवार योद्धा को अपने से छोटे के समान सम्बोधित करता है। नाट्य शास्त्र (१६-११) में भी कहा है :—“आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी सूतेन सर्वदा ।” छन्द—पाँचवा श्लोक शादूलविक्रीडित छन्द में है। जिसमें क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण, तगण और एक गुण होता है तथा १२ और ७ पर यति उसे शादूलविक्रीडित कहते हैं।

सहजन्त्या—हला ! गतो राएमी । ता अह्यथि जधासंदिष्टं पदेसं गच्छेम्ह । [हला ! गतो राजर्षिः । तद्वयम पि यथा सन्दिष्टं प्रदेशं गच्छामः ।]

मेनका—सहि ! एवं करेम्ह । [सखि ! एवं कुर्मः ।]

(इति हेमकूट शिखरे नाट्येनाधिरोहन्ति ।)

रम्भा—अथिणाम सो राएसी समुधरे णो हिअ अ सल्लं । [अपि नाम स राजर्षिः समुद्धरेन्नो हृदय शल्यम् ।]

मेनका—सहि ! मा दे संसओ भोदु । [सखि ! मा ते संशयो भवतु ।]

रम्भा—ए दुज्जआ दाणवा । [ननु दुर्जया दानवा.]

मेनका—उवट्ठिद-सपराओ महिन्दो वि मम्मम्म लोआदो सबहु-माण आणाविअं त एव विअअसेणामुहेणिओजेदि । [उपस्थित-सपरायो महेन्द्रोऽपि मध्यमलोकात् सबहुमानं अनाप्यतमेव विजय सेना-मुखे नियोजयति]

रम्भा—स षड्वा विअर्द्ध भोदु । [सर्वथा विजयी भवतु ।]

सहजन्या—(क्षणमात्रं स्थित्वा) ह्ला समस्ससध, ममस्समथ । एसो उच्चलिद् हरिण वेदणो तस्म राएमिणो सोमदत्तो रथो दीसदि । ए खु एसो अक्किदब्धोणिवत्तिस्सदि । [ह्ला ! ममाश्रयमित, ममाश्रयमित । एष उच्चलित हरिणवेतनस्तस्य राजर्षेः क्षीमदत्तो रथो दृश्यते । न तल्लु एषोऽकृतार्थो निवर्तिष्यते ।]

(सर्वा उच्चक्षुषो विलोकयन्ति १३)

व्याख्या—सहजन्या—सखी वचनमिदम् । हले त्यव्यय सखी सम्बोधने प्रयुज्यते । गतो राजर्षिः, राजा ऋषिरिवेत्युपमित् समासः । अन्वत्राऽपि कालिदासेन नृपो राजर्षिरिति वर्णितः “अध्याक्रान्ता वसति रमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये-रक्षायोगा-दयमपि तपः प्रत्यह सचिनोति । अस्यापिथा स्पृशति वाशनश्वाङ्गु-द्रन्दगीतः पुण्यः शन्दो मुनिरिति मुद्गुः केवल राजपूर्वः ।” (शाकुन्तल २-१४) । तदय-मपि यथानिर्दिष्ट प्रदेश गच्छामः ।

मेनका—सखि ! एव कुर्मः । (इति सर्वा अपि नाट्येनाभिनय पूर्वकं हेमदूट शिखरेऽधिरोहन्ति)

रम्भा—अपि नाम स राजर्षिः उद्धरिष्यति निष्कासयिष्यति नोऽस्माकं हृदयशल्यम् सखी-हरणञ्च शल्यदुल्लय दुःखम् ।

मेनका—नात्र ते शङ्कायाः कारणम् । सन्देहाय पद नो देहि ।

रम्भा—सत्यमेतत् पर दानवाना जयः दुःसाध्य इति कृत्वा शङ्कते मे हृदयम् ।

मेनका—उपस्थितः सपराय युद्धे स महेन्द्रोऽपि राजर्षि पुरुरवस मध्यम-लोकात् पृथिवीलोकात् सम्बहुमान सम्मानपूर्वकमानाय्य आहूय तं त्रिबुधवि-जयाय देवानाजशायं सेनामुखे सेनापत्ये नियुङ्क्ते । अनेन राज्ञो बहुपराक्रमशा-लित्व महेन्द्रसख्य च सूच्यते ।

रम्भा—सर्वथा शत्रुपराभवे कृतकार्यो भवेत्स इति मङ्गलाशसा ।

मेनका—(क्षणमात्रं स्थित्वा) केत्यतो शायतेऽनेनेति केतनं चिह्नम् । उच्चलितः वायुवेगवशात्नस्फुरन् हरिणः केतने ध्वजं चिह्ने यस्य स तथाभूतः

तस्य राजर्षेः सोमदत्तः एतन्नामकः अथवा सोमेन आदिकुल पुष्येणदत्तोऽत एव हरिण केतनोरथो दृश्यते । नहि पुरुरवा न कृतः अर्थः कार्यं येन सोऽकृत-
कार्यः प्रतिनिवर्तिष्यते प्रत्यागमिष्यति इति तर्कयामि अनुमिनोमि । (सर्वाः
उच्चक्षुः चक्षुःपि उन्नमय्य विलोक्यन्ति)

अनुवाद—(रथ पर बैठा हुआ राजा और सारथि चले जाते हैं)
सहेली—अरे ! राजर्षि चले गये । तो हम लोग भी बतलाये हुये स्थान
को चले ।

मेनका—ऐसा ही करें, सति ।

(सब लोग अभिनय के साथ हेमकूट के शिखर पर चढ़ती हैं)

रम्भा—क्या सचमुच वह राजर्षि हमारे हृदय के काँटे को निकालेगा ?

मेनका—सखि । तुम सशय मत करो ।

रम्भा—दानव सचमुच कठिनाई से ही जीते जा सकते हैं ।

मेनका—युद्ध आ पड़ने पर इन्द्र भी इन्हें ही पृथ्वी लोक से सम्मान-
पूर्वक बुलाते हैं और देवताओं के विजय के लिये सेनापति के स्थान पर
नियुक्त करते हैं ।

रम्भा—सब प्रकार विजयी बनें ।

सहेली—(क्षणभर रुक कर) अरे घोरज घोरो घोरल घोरो । यह, जिस पर
हरिण का चिह्न वाला झण्डा लहरा रहा है, उसी राजर्षि का सोमदत्त (नामक)
रथ है । मेरा विचार है कि वह काम को पूरा किये बिना नहीं लौटेगा ।

(सब आँखें ऊपर उठाकर देखती हैं)

टिप्पणीः—यथा सन्दिष्टम्—सन्दिष्टम् अनतिक्रम्य इति अव्ययीभाव
समास है । उच्चलित...केतनः—अ-उच्चलितः हरिणः एव केतनो यस्य
सः । उच्चलित हरिण केतनः—हरिण केतन होने के कारण हीरथ हरिण के
समान पृथ्वी से ऊपर उठकर उड़ सकता है । हरिण की गति का वर्णन कालि-
दास ने शाकुन्तल में करते हुये कहा है :—

पश्योद्ग्रप्लुपत्यद् विथति बहुतरं स्तोकमुच्यार्थं प्रयाति ।

(तत प्रविशति रथात्ढो राजा सूतश्च । भयनिमीलिताक्षी
चित्रलेखा, दक्षिण-हस्तावलम्बिता उर्वशी च)

चित्रलेखा—सहि ! समस्सस, समस्सस । [साज ! समाश्वसिहि,
समाश्वसिहि ।]

राजा—सुन्दरि ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि—

गतं भयं भीरु ! सुरारि-सम्भव
त्रिलोक रक्षी महिमा हि यत्रिणः ।
तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं
निशापसाने नलिनीय पङ्कजम् ॥६॥

चित्रलेखा—अम्महे ! कहां उस्ससि मेत्त-सभायिद जीविदा अज्ज वि
एसा सएण न पडिबज्जति । [आश्चर्यम् ! कथमुच्छ्वमित मात्र संभायित-
जीविता अद्यापि एषा सज्जां न प्रतिपद्यते ?]

राजा—बलवदत्र भवती परित्रस्ता । तथाहि—

मन्दार-कुसुम-दाग्रा गुरुरस्या. सूच्यते हृदय-कम्प. ।
महुरूच्छ्वसता मध्यं परिणाहवतो पयोधरयोः ॥७॥

चित्रलेखा—हला उव्वसि ! पज्जवत्थावेहि अत्ताणं । अणुच्छ्वरा विअ
पडिहासि । [हला उव्वसि ! पर्यनस्थापयात्मानम् । अनप्सरेव प्रति-
भासि ।]

राजा—

मुञ्चति न तावदरयाभयकम्पः कुसुमकोमलं हृदयम् ।
सिचयान्तेन कथञ्चित् स्तन-मध्येच्छ्वासिना कथितः ॥८॥

व्याख्या :—(ततो रथारूढो राजा सूत्रश्च रङ्गभूमौ अवतरति । रथे
मयेन निमीलितेऽक्षिणी यस्याः एवभूता चित्रलेखया दक्षिणहस्तेनावलम्बिता
उपैशी च दृश्यते)

चित्रलेखा—सखि समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । धैर्यमवलम्बस्व सज्जा
लमस्व वा । द्विरुक्तिर्वाच्यस्य दृढीकरणाय ।

राजा—सुन्दरि ! समाश्वसिहि चैतना प्रतिपद्यस्व ।

गतं भयमिति—सुरारि सम्भव दानवजन्य भय गतमतिप्रान्तम् । हि
यस्माद् यत्रिणः इन्द्रस्य महिमा प्रभावस्त्रिलोकरक्षी त्रीनपि स्वर्भूमिपातालाख्यान-
लोचान् रक्षति । तत् तस्मात् नलिनी सरोजलता निशापसाने प्रभाताया रात्रौ
पङ्कज कमलपुपमिव त्वमेतद् आयतं दीर्घं चक्षुष्मिलय । यथा प्रभाते जाते

नलिनी पङ्कजमुद्गाटयति तदस्वमपि नेत्रे उन्मीलय । नलिनीव पङ्कजमित्य-
त्यत्रोपमा, द्वितीय चरण पदार्थस्य च भयनिवृत्तौ हेतुवेन काव्यलिङ्ग चाल-
ङ्कारः । उक्तं च—“हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यालिङ्ग निगद्यते” । वशस्थ वृत्तमि-
दम् । तल्लक्षणतु ‘वदन्ति वशमिदं जतौ बरौ ।’

चित्रलेखा—अग्निहे इति आश्चर्यव्यञ्जकमध्यमम् । कथमद्यापि साःप्रतमपि
उच्छ्वसितमात्रेण समावित विनिश्चित जीवित यस्या एवभूता एषा उर्ध्वशीसज्ञा
चेतना न प्रतिपद्यते लभते । नह्युच्छ्वासातिरिक्त किमप्यस्या जीवित-चिह्नं
विलोच्यते ।

राजा—बलवद् भृश ते सखी भ्रन्ता मीता जाता । बलवच्छब्दस्य प्रयोगः
कवेरिति प्रियः प्रतिभाति । यथा—‘बलवदस्वस्य शरीरा शकुन्तला’ (शाकु०)
बलवदपि शिद्धितानामात्मन्य प्रत्यय चेतः ।” (शाकु०) साह मदननेन बलवद्-
बाध्यनाना (विक्रमो०) तथाहि—

मन्दारेति—परिणाहे विशालताऽस्ति ययोस्तयोः परिणाहवतो. पयो-
धरयोः स्तनयोर्मध्ये मुहुर्वारवारमुच्छ्वसता उर्ध्वश्वासेन सहोत्पतता मन्दार
कुसुमाना दाग्ना सखा अस्याः गुरुरधिको हृदयकम्पः सूच्यते । अनया या मन्दार
पुगणाला माला उरसि धृता सा श्वासवेगवशाद् वारवारमुपरि चलति नीचैर-
वगच्छति तेनोत्पतनेनास्या हृदयस्य कम्पः परिजायते । मन्दारस्तु देव वृक्षाणा-
मन्यतमः । तथा चोक्तममरकोशे—“पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः
सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ।” शाकुन्तलेऽपि कविनेत्रभावोऽ-
मित्युक्तं. “अद्यापि स्तनवेपथु जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः । इदमार्या वृत्तम्-
“यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि-अष्टादशद्वितीये चतुर्थके
पञ्चदशसाऽर्या” इति लक्षणात् ।७

चित्रलेखा—(सन्दृश्यम्) हला उर्ध्वाश ! पर्यवस्थापय आत्मान स्वीया
प्रकृति प्रापयेत्यर्थः । परि+अव+स्या+शिच्+लोट् मध्य० एकव० ।
अनप्सरेषु प्रदिमासि नैवमचेतनावस्थागता त्वमप्सरा इव व्यवहरसि यतोऽप्यैवं
हि मनुष्येषूचितं न तु देवतानु । अप्सरसश्च देवयोनि विशेषः । अमरकोशे-
त्वप्सरसश्चन्दो नित्य बहुवचनान्तः । कालिदासेन तु शाकुन्तलेऽपि त्रिवारान-
नस्य आकारान्तरूपेण एकवचने च प्रयोगः कृतः । अत्रापि तेनाप्सरा इत्या-

कारान्त एव प्रयुक्त । उक्त च शब्दार्थ—“स्त्रिया बहुस्वप्तरसः स्यादेकत्वे-
ऽप्तरा अपि ।”

राजा—स्तनयोर्मध्ये उच्छ्वसतीति स्तन मधोच्छ्वासी तेन श्वासवेगा-
नुसारेणोत्पत्ताऽवपतता च सिचयान्तेन यस्त्रान्तेन कथञ्चित् कथितोऽभिव्यक्तः
भयकम्पः भीति जन्यो वेपथुस्तावदस्याः कुसुममिव कोमल हृदय न मुञ्चति
त्यजति । कुसुमकोमलमित्युपमालङ्कारः । ‘वस्त्रसिचयः पटः पोतः’ इति हला-
शुभः । अत्रापि आर्याञ्छन्दः । १८। (उर्वशी प्रत्यागच्छति पुनश्चेतनामामोति)

अनुवाद :—(रथ पर बैठा राजा और सारथि आते हैं । भय से
आँखें मूँदे चित्रलेखा और दाहिने हाथ पर सधी हुई
(टिकी हुई) उर्वशी भी है ।)

चित्रलेखा—सखि, धैर्य रखो, धैर्य रखो ।

राजा—सुन्दरि—धीरज धरो, धीरज धरो—

हे भीरु, दानवों से उत्पन्न हुआ भय बीत चुका । वज्र धारण करने वाले
इन्द्र का प्रताप तीनों लोकों की रक्षा करता है । इसलिए जिस तरह नलिनी
रात बीत जाने पर अपने पक्ष (पुष्प) को खोलती है उसी तरह तुम अपने
सड़े-सड़े नेत्रों को खोलो । १६।

चित्र०—केवल श्वास खींचने से पता चल रहा है कि यह जीवित है ।
अभी भी यह होश में क्यों नहीं आ रही है ?

राजा—तुम्हारी सखी बहुत डर गयी है—

इसके विशाल स्तनों के बीच बारबार ऊपर उठी हुई मन्दार पुष्पों की
जाला से इसके हृदय का भारी कम्प प्रकट हो रहा है । ७।

चित्र०—(कण्ठा के साथ) अरे उर्वशी ! अपने को सम्हालो । इस
अवस्था में तुम अंधारा जैसी नहीं प्रतीत हो रही हो ।

राजा—भय की वैपकपी उसके पूल से कोमल हृदय को नहीं छोड़ रही
है । इसके स्तनों के बीच में श्मोच्छ्वास के साथ उठता-गिरता आंचल इसके
भय कम्प को बतला रहा है । १८।

(उर्वशी होश में आती है)

टिप्पणी :—उच्छ्वसितमेव इति उच्छ्वसित मात्रम् । तेन सभावित जीवित यस्याः सा । बहुव्रीहि समास । मन्दार—यह पाँच देववृक्षों में एक है । पाँच देववृक्ष ये हैं :—

पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातक ।

सन्तान. कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्द्रनम् ॥

पर्ययस्थापयामि :—परि + अय + स्था + प्रेरणार्थकं शिच् (इ) प्रत्यय + लट् एक वचन अन्य पु० । स्था धातु के आगे शिच् प्रत्यय होने पर पुक् (प्) का आगम होता है । अनप्सरेव—अप्सरार्ये धैर्यवती होती हैं । इतनी जल्दी मूर्च्छित नहीं होतीं । इसीलिये उसे अनप्सरा (मानवी) कहा है । स्तन०.....सिना—स्तनयोः मध्यम् इति स्तन मध्यम् । तत्र उच्छ्वसतीति स्तनमध्येच्छ्व वाधी तेन । छन्दः—‘गत भय’ आदि छठा छन्द वशस्थ है । इसमें क्रमशः जगण्, तगण्, जगण्, और रगण् होते हैं । सप्तम श्लोक में आर्या छन्द है । इसके प्रथम चरण में वारह, द्वितीय में १८, तृतीय में १२ तथा चतुर्थ में १५ मात्राएँ होती हैं ।

(उर्वशी प्रत्यागच्छति)

राजा—(सहर्षम्) अयि । प्रकृतिमापयते ते प्रियसरती । पर्य—

आग्निर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रिः

नैशस्याचिर्हुतभुज इवच्छिन्नभूयिष्ठ-यूमा ।

मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना

गङ्गा रोध.-यतन-कलुषा गच्छतीव प्रसादम् ॥६॥

चित्रलेखा—सहि, वीसध्या होहि । आवरणानुकम्पिणा महाराएण पडिहदाक्खुदे तिदस-परिवन्थियो हदासा दाखना । [सखि, निश्चया भय आपन्नानुकम्पिना महाराजेन प्रतिहता. एतुते त्रिदश-परिपन्थिनो हतासा दानवाः ।]

उर्वशी—(चतुषी उन्मील्य) किं पद्मय-दंमिणा महिन्द्रेण ? [किं प्रभाव दर्शिना महेंद्रेण ?]

चित्रलेखा—ए महिन्द्रेण । महिन्द्र-सरिमागुभावेण इमिणा राणसिणा पुरुरवसेण । [न महेंद्रेण । महेंद्र-सदृशानुभावेन अनेन राजर्षिणा पुरुरवसा ।]

उर्वशी—(राजानमवलोक्यात्मगतम्) उवकिदं खु दाणवेन्द्र संरम्भेण । [उपकृतं खलु दानवेन्द्र-संरम्भेण ।]

व्याख्या :—राजा—(सहर्षम्) अपि ! ते सती उर्वशी प्रवृत्तिस्वस्था-
चस्या मापद्यते गच्छति । पश्य—

आधिर्भूत इति—इय वरा तनुः यस्याः सा वरतनुः मुन्दरी अन्तः अन्तः-
करणे मोहेन मूर्च्छया मुच्यमाना त्यज्यमाना (नतु त्यक्ता) सती शशिनि चन्द्रे
आधिर्भूते प्रफटिते तमसाऽन्धकारेण रिच्यमाना रिचिता गच्छन्ती रात्रिरिव,
नैशस्य निशायां भवस्य द्रुतं धुनतीति द्रुवधुकृत्स्य अग्नेः छिन्नो विलयं प्रातः
भूयिष्ठः प्रभूततमः धूमः यस्याः सा निर्धूमा अग्निः ज्वाला इव, रोधसः तटस्य
पतनं तेन कलुषा अविता मलिना वा प्रसाद एह्यती धुननिर्मलता गच्छन्ती
गङ्गा इव, लक्ष्यते । अत्रैकस्या उर्वश्या उपमान बाहुल्यात् मालोपमाऽलङ्कारः ।
तद्योक्तं “मालोपमा यदेवस्योपमान बहु दृश्यते ।” वृत्त च मन्दाक्रान्ता ।
तल्लक्ष्यं च “मन्दाक्रान्ता मभनततगागश्रुति वागिराजी” ति । ६।

चित्रलेखा—सखि उर्वशि ! विश्रब्धा विश्वस्ता भव । आपन्नान् अनुकम्पते
तेन शरणागत वत्सलेन महाराजेन महाश्राष्टी राजेतिकर्मधारय समासे
‘राजहसखिभ्यष्टचिति’ टच् प्रत्ययः । प्रातहताः नाशिताः । एतु ते तिस्रो
शैशव कौमार यौवनाख्या. जरत्क्षितः दशाः, येषां ते त्रिदशाः देवाः तेषां परि-
पन्थिनः निरोधिनः । “श्रमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः”
इत्यमरः । परिपन्थिन इत्यत्र “छन्दसि परिपन्थि परि परिणौ पर्यवस्थातरि”
(५-२-८६) इति परिपूर्वकात् अवस्थात् (शत्रु पर्यायात्) शब्दात् इन् प्रत्यय
अवस्थात् शब्दस्य च पन्था देशः । पर वेदे एवास्य शब्दस्य प्रयोगो न्याय्यः ।
इतिहासा दुर्भंगा नीचा व दानवाः ।

उर्वशी—(चतुषी नेत्रे उन्मील्य) किं प्रभावदर्शिना पराक्रमशीलेन

महेन्द्रेण अम्युनपत्ना अनुवन्विता अस्मि इति प्रथः । प्रभात्र दर्शयति प्रकाश-
यतीति प्रभावदर्शी ।

चित्रलेखा—महेन्द्रेण तु नैव रक्षिताऽस्ति पर तसदृश प्रभावयता
राजर्षिणा पुरुरवसाऽनुवन्विताऽसि ।

उर्वशी—(पुरुरवसमवलोक्यात्मगतम् न तु परान् सश्राव्य) एतादृशस्य
राजर्षेर्दर्शने कारणभूतेन दानवेन्द्रस्य सरन्मेण तत्सम्बन्धिनासेन उपकृतमेव
खलु । परस्पररक्षणजन्यानुरागम्येय प्रथमावस्था सूचिता । तत्रापि उर्वश्या, रागः
प्रथम वर्णिताः । भारतीय-रूपनेषु नायिकाराग, पूर्वं वर्णते ।

उपकिटं (उपकृतं खलु) “अत्र उर्वश्या अभिलाषो गम्यते । अयम-
भिलाषः प्रथमावस्थेति मन्तव्यम् । प्रकृतिस्यामुर्वशी विलोक्य ‘आत्मगतमित्या-
दिना गन्दमानो राजाभिलाषः अस्मिन्नाटके भोजन् इत्यनुसन्वेयम् । राज्ञोऽपनेवा-
भिलाषो प्रथमावस्था ” इति काट्यवेम टीकायाम् ।

अनुनाटः—राजा—(हर्ष के साथ) अरे ! तुम्हारी प्यारी सखी होश में
आ रही है । देखो चन्द्रमा के निकल आने पर अन्धकार से रिक्त होती हुयी
रात्रि जैसी लगती है, या सारे घुँघे के नष्ट हो जाने पर रात्रि के समय अग्नि की
लपट जैसी मासित होती है अथवा तट की मिट्टी के गिरने से मलिन गंगा फिर
निर्मल होकर जैसी प्रतीत होती है वैसी ही यह (उर्वशी) सुन्दरी चित्त की
मूर्च्छा से मुक्त होती हुई दिखायी दे रही है । ६।

चित्रलेखा—सखि ! आश्चस्त हो जाओ । शरणागतों पर कृपा करने
वाले महाराज ने देवताओं के विरोधी नीच दानवों को नष्ट कर दिया है ।

उर्वशी—(उर्वशी आँखें मलकर) क्या प्रभावशाली महेन्द्र ने ?

चित्र०—महेन्द्र न नहीं, महेन्द्र के समान तेजस्वी राजर्षि पुरुरवा ने ।

उर्वशी—(राजा को देखकर अपने मन में) दानवेन्द्र के आक्रमण ने
तो उपकार ही किया है ।

टिप्पणी—प्रत्यागच्छति—अपने को सर्वथा भूल जाने के बाद
फिर ‘होश आती है’ इस अर्थ में इस क्रिया का प्रयोग किया गया है ।

मुच्यमाना—मुच् घाटु से कर्मवाच्य में शानच् प्रत्यय है । किसी-
किसी पुस्तक में ‘रिच्यमाना’ पाठ है । उसका अर्थ है “रिक्त होती हुई ।”

गङ्गा...कलुषा—गङ्गायाः रोधः इति गङ्गारोधः । तस्य पतन तेन कलुषा ।
 नैशस्य—निशाया भवः नैशः । 'तत्र भवः' सूत्रे छे तद्धित अण् प्रत्यय होना
 है । छन्द—नवें श्लोक में मन्दाक्रान्ता छन्द है । इसके प्रत्येक चरण में
 क्रमशः भगण, भगण, नगण, तगण, तगण और दो गुरु होते हैं ।

राजा—(प्रकृतिस्थामुर्वशीनिर्वर्ण्यात्मगतम्) स्थाने खलु नारायणमृषिं
 विलोक्यन्त्यस्तदूरु संभ्रामिमां विलोक्य व्रीडितः सर्वा अप्सरस
 इति । अथवा नैय तपस्विन सृष्टिर्भप्रितुमर्हति । तथाहि—

अस्या सर्गविधीं प्रजापतिरभूचन्द्रो नु कान्तिप्रदः,
 शृङ्गारैरस स्वय नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
 वेदान्शास-जड कथ नु विषय-व्यावृत्त-कोतूहलो ।
 निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरी मदं रूपं पुराणो मुनिः ॥१८॥

उर्वशी—हला चित्तलेहे ! सही अणो कहिं खु भवे ? [हला
 चित्रलेखे ! सखीजन. कुत्र खलु भवेत् ?]

चित्रलेखा—सहि ! अभअप्पदाई महाराओ जाणादि । [सखि !
 अभय प्रदाथी महाराजो जानाति ।]

व्याख्याः—राजा—(उर्वशीमवलोक्यात्मगतम्) प्रकृतिस्थामुर्वशीं
 विलोक्यात्मगतमित्यादिना वक्ष्यमाणेन गम्यमान्ते राजामिलापोऽस्मिन्नाटके बीजा-
 मित्यनुसंधेयम् । स्थाने खलु उचित मेवासीत् तद्यत् नारायणमृषिं विलोक्यन्त्यः
 सर्वा अप्सरस नारायणेऽप्रभ्रामिमांशुर्वशीऽमवलोक्य व्रीडिताः स्वरूपस्यावकृष्ट
 कोटिकतया लज्जिताः । अथवाऽह मन्ये यदि य तपस्विनो नारायणस्य सृष्टिः
 रचनैव नास्ति । कुतः कस्मात् कारणात्—

अस्या इति—अस्याः उर्वश्याः सर्गस्य रचनायाः विधिः कर्म तस्मिन्
 निर्माणकार्ये कान्तिप्रदः चन्द्रः प्रजापतिः सृष्टा अभूत् । नु इति वितर्के । नहि
 कान्ति प्रद चन्द्रमन्तरेणान्यः सृष्टा ईदृशस्य कान्तिमयस्याह्लादकस्य च

टिप्पणी —प्रत्यागच्छति—अपने को सर्वथा भूल जाने के बाद फिर से 'होश में आती है' इस अर्थ में इस क्रिया का प्रयोग किया गया है।

मुच्यमाना—मुच् घातु से कर्मवाच्य में शानच् प्रत्यय है। किसी-किसी पुस्तक में 'रिच्यमाना' पाठ है। उसका अर्थ है "रिक्त होती हुई।"

गङ्गा *.....कलुपा—गङ्गायाः रोधः इति गङ्गारोधः। तस्य पतनं तेन कलुपा।

नैशस्य—निशाया भवः नैशः। 'तत्र भवः' सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय होता है।

छन्द—नवें श्लोक में मन्दाक्रान्ता छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और दो गुरु होते हैं।

मूलपाठ :—राजा—(प्रकृतिस्थामुर्वशी निर्वर्ण्यत्मगतम्) स्थाने खलु नारायणमृषि विलोभयन्त्यस्तद्रूह-सभवामिमां विलोक्य श्लोडिताः सर्वा अप्सरस इति। अथवा नेयं तपस्विनाः सृष्टिर्भवितुमर्हति। तथाहि—
अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः,
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मामो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यास-जडः कथं नु विषयव्यावृत्त-कौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ १० ॥

उर्वशी—हना चित्तलेहे ! सहीअणो कहिं छु भवे ? [हला चित्रलेखे !
सखीजनः कुत्र खलु भवेत् ?]

चित्रलेखा—सहि ! अम्यअपदाई महाराओ जाणादि ! [सखि ! अमय-
प्रदायो महाराओ जानाति ।]

व्याख्या :—राजा —(उर्वशीमवलोक्यात्मगतम्) प्रकृतिस्थामुर्वशी विलोक्यात्मगतमित्यादिना वक्ष्यमाणेन गम्यमानो राजाभिलाषोऽस्मिनाटके धोजमित्यनुसंधेयम्।

स्थाने खलु उचितमेवासीत् तद्यत् नारायणमृषि विलोभयन्त्यः सर्वा अप्सरसः नारायणोसप्रभवामिमांमुर्वशीमवलोक्य श्लोडिताः स्वरूपस्यावकूटको-
विक्रमो०—३

टिकतया लज्जिताः अथवाहं मन्ये यदियं तपस्विनो नापयणस्य सृष्टिः रचनैव
नस्ति । कुतः कस्मात् कारणात् ?

अस्या इति—अस्याः उर्वर्याः रम्यस्य रचनायाः विधिः कर्म तस्मिन्
निर्माणकार्यकान्तिप्रदः चन्द्रः प्रजापतिः स्रष्टा अभूत् । नु इति वितर्कं । नहि
कान्तिप्रदं चन्द्रमन्तरेणान्यः स्रष्टा ईदृशस्य कान्तिमयस्याह्लादकस्य च
रूपस्य निर्माणे समर्थः । चन्दति आह्लादयतीति चन्द्रः । दि आह्लादने
इति घातोः रक् प्रत्ययः । अनेन उर्वर्याः लावण्यातिशयो गम्यते । शृङ्गारः
रतिपोषकः एष एषः केवलः रसो यस्य तयोक्तः स्वयं मदनो नु (प्रजापतिर-
मूत्) एतेन अस्याः शोभाय्यातिशयो व्यज्यते । पुष्पाकरः पुष्पाणामाकरः मासः
चैत्रो नु (प्रजापतिरमूत्) अनेनास्याः शीरम्पसौकुमार्यातिशयो लक्ष्यते ।
मुखरस्रष्टारं नारायणमपहृत्य किमर्थमेवं चन्द्रमदनदमन्ताना निर्मातृत्वं
वक्ष्यते इत्याशङ्क्यपरिहाराय एवंविधरूपनिर्माणे तस्यासाध्यं प्रदर्शयति
वेदान्ताद्येत्यादिना वेदानामाभ्यासस्तेन जटो नोरमः । वारंवारं भोरतानां वेदाना-
मभ्यसनेन जटत्यं मुतरां संभाष्यते । विपदैभ्यः वदाहृत्सं र्शिष्यं कौतूहलमिच्छा
उत्साहो वा यस्य तादृशः भोग्येषु पदार्थेषु शिथिलोत्साहः पुराणो वृद्धो मुनिः
इदं मनोहरि रूपं निर्मातुं क्वं प्रमथेत् समर्थो भवेत् यतो नहि कार्यशुष्याः
बाह्यशुष्यान् व्यभिचरन्ति । अत्र नापिक्व प्रेक्ष्य नाप्यकमतः पूर्वरागो ध्वन्यते ।
रजोहरय पूर्वाभे सन्देहालङ्कारः उत्तरत्र तु बाह्यलिङ्गानुमानयोः परस्परमद्वा-
लिभाहवेनेह सद्दुरालङ्कारः । शार्दूलविषीहितं छन्दः । शार्दूलसंज्ञे द्वितीयाद्दे-
२५ एतादृश एव भावः रचयितृकृतः कविना शकुन्तला यथापता—

(उर्वशी) अप्सरा को देखकर ठीक ही लजा गयी थी । अथवा मैं समझता हूँ कि यह तपस्वी की रचना होने योग्य ही नहीं है । तो फिर—

निश्चय ही इसके निर्माण में, विश्व को कान्ति प्रदान करने वाले चन्द्रमा ने, अथवा शृङ्गार में निमग्न रहने वाले स्वयं कामदेव ने, अथवा कुसुमाकर वसन्त ने प्रनापति का काम किया होगा । भला वेदाम्यास से जड़ और विषयो के आकर्षण से विरत बृद्ध मुनि इस मनोहर रूप को कैसे बना पाता ॥१०॥

उर्वशी—अरो चित्रलेखा ! सखी-सहेलियाँ कहाँ होंगी ?

चित्रलेखा—सखि ! हमें अभय प्रदान करने वाले ये महाराज जानते हैं ।

टिप्पणी—अस्याः सर्गविधौ—तुलना कीजिये शाकुन्तल के अङ्क २ श्लोक ६ से—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा,
रूपोद्ययेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रोरत्नसुष्टिरपरा प्रतिमाति सा मे,
घातुर्विमुत्त्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ।

निर्वर्ण्य—निर् उपसर्ग के साथ वर्ण (जुगदिगणोय) घातु का अर्थ 'देखना' होता है । तदूह—तस्याः उह इति तदूह । ताम्या (पंचमी) समवो यस्याः सा ताम् बहु० समास ।

मूलपाठ. राजा—(उर्वशी विलोक्य) महति विपादे वर्तते सखीजनः । परधनु भवती—

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्धयोः
पथि स्थिता सुन्दरि । यस्य नेत्रयोः ।
त्वया विना सोऽपि ममुत्सुहो भवेत्
सखीजनस्ते किमुनाद्रंसीहृदः ॥११॥

उर्वशी—(आमगतम्) अमिभ्रं शु दे वप्रसम् । अहवा चन्द्रादो अमिभ्र त्ति कि एष्य अछ्छरिय (प्रकाशम्) अदो एव्व पेल्लिन्दं तुअरदि मे हिअम् [अमृतं सत्तु ते वचनम् अथवा चन्द्रादमृतमिति विमत्राशचर्यम् । (प्रकाशम्) अत एव प्रोक्षितु त्वरते मे हृदयम् ।]

राजा—(हस्तेन दर्शयन्)

एता सुतनु मुखे ते सख्य पश्यन्ति हेमकूटगता ।
उत्सुकनयना लोकाश्चन्द्रमिवोपप्लवान्मुक्तम् ॥१२॥

(उर्वशी सामिलाप पश्यति)

चित्रलेखा—हना । किं पेक्खसि ? (हला । किं प्रोक्षसे ?)

उर्वशी—ण समदुक्खगदो पीवीअदि लोअणोहि । (ननु समदु खगतः
पीयते लोचनाभ्याम् ।)

चित्रलेखा—(सस्मितम्) अयि को [अयि कः]

उर्वशी—ण पणई अणो । [ननु प्रणयोजनः ।]

व्याख्या—राजा—(उर्वशीं विलोक्य तामुद्दिश्य कथयति) महति विषादे
शोके वर्तन्ते सख्यो भवत्या पश्यतु भवती—यदृच्छयेति—हे सुन्दरि । त्व यदृच्छ्या
आकस्मिकतया (या अृच्छ्या यदृच्छ्या कर्मधारयसमास) 'यदृच्छ्या स्वैरिता'
इत्यमर । सकृद् एकवारम् अपि यस्य अवन्ध्ययो सफलयो नेत्रयो पयि
मार्गे स्थिता । सोऽपि त्वया विना समुत्सुको भवेत् सो करठ त्वदर्शनलालसः
स्यात् किमुत आद्रंम् निरन्तरसहवासेन सरस सौहृदम् (सुहृद मित्रस्य
भाव) यस्य स एवभूतस्ते सखीजनः । अवन्ध्ययोरित्यनेनोर्वशी
दर्शनमेव नेत्रयो साफल्यकारणमित्युक्तम् । शाकुन्तलेऽपि "माढव्य अनात
चक्षुःफलोऽसि यदर्शनीय त्वया न दृष्टम्" तथा "अये लब्ध नेत्रनिर्वाणः"
मित्युक्त्याऽयमेव भाव प्रकाशित कविना । त्वया विनेत्यत्र "पृथग्विनानाना
भित्तृतीया-यतरस्यामिति (२३-३२) तृतीया । यशस्थवृत्तमिदम् । दल्लदणत्तु
"जतो तु यशस्थमुदीरित जरो ॥११॥

त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेदिति सामान्योक्त्या आत्मनि प्रतीय-
मानमीरमुख्यम् आरम्भो नाम प्रथमायस्था । अत्र बीजारम्भयो समन्वयान्मुर
सन्धिः । उर्वशी—(आत्मगतम्) अमृतममृतयन्मधुरं ते राजो वचनम् । अथवा
अद्राद्मृतमिति विमाश्चर्यम् । यत्र न मुपात्रि सरति मुर च चन्द्रतुल्यम् ।

पुरुषसर्चन्द्रवशीयत्वादपि कथनमेतत् सङ्गच्छते । (प्रकाशम्) सर्वश्राव्य-
रूपेणोपययं श्रतएव सखोजनस्य मा प्रते अनुसुकरवचित्तयैव तं प्रेक्षितुं द्रष्टुं
त्यरते श्रोतुमुक्त्य भवते मे हृदयम् । राजा—(हस्तेन दर्शयन्) सुवनु सुन्दरि !
हेमकूटगताः हेमकूटशिखरमधिरूढा एतास्ते सख्य ते मुखं उपप्लवात्
उपरोगान् राहुग्रहणाद् वा मुक्त यम् तम् चन्द्रमिव पश्यन्ति । यथा
राहु ग्रहणान्मुक्त चन्द्र जनाः श्रोतुमुक्तयेन पश्यन्ति तथैव दानवाभिमवान्मुक्ता
त्वा सख्यः सोत्कण्ठ प्रतीक्षन्ते । उपमानद्वारः । आर्यान्चन्द्रः ।
(उर्वशी साभिलाष सोत्कण्ठ पश्यति) चित्रलेखा—हला ! किं प्रेक्षसे ?
उर्वशी—ननु इति निश्चयार्थे । समदुःखगत- मया सह समानकष्टमोगी
जनः लोचनार्थां पोयते । उर्वश्या अस्मिन् कथने सखीजनं राजान चोभय
प्रत्यपि तस्याः स्नेहो व्यस्यते, यतः उभावपि तस्या समानदुःखमागिनौ ।
अतएव चित्रलेखाऽनिश्चयेन पृच्छति अस्मित ता नृपासक्तचित्ता श्रुत्वा
'श्रियि कः' इति । उर्वशी तु पुनरपि अविस्पष्टमेवोत्तरं ददाति ननु प्रणयिजन
इति । सखीजन- नृपश्च द्वावपि तस्या प्रणयिजनौ ।

धनुवाद—राजा—सहेलियों बड़े विपाद में हैं । आप देखिये तो—
सुन्दरी ! तुम अनायास एक बार भी निरने नेत्रों के सामने पड़ जाओगी
उसने नेत्र सफल हो जायेंगे और वह तुम्हारे बिना वैचैन हो जायगा । फिर
सरस मित्रता वालो मणियों का तो कहना ही क्या । ११ ।

उर्वशी—(मन में) तुम्हारा बचन तो सचमुच अमृत है । अथवा
चन्द्रमा से अमृत टपने तो आश्चर्य क्या ! (प्रकट रूप से) इसीलिए मेरा
हृदय देगने के लिये उठावला हो रहा है ।

राजा—(क्षय से दिक्ता हुआ) हे सुन्दरि ! हेमकूट पर स्थित
तुम्हारी ये सहेलियाँ उ मुक्त नेत्रों से इस तरह तुम्हारा मुग्न देख रही हैं जैसे
लोग ग्रहण के छूटे हुए चन्द्रमा को देखते हैं । १२ ।

(उर्वशी समागम की उत्कण्ठा से देखती है)

चित्रलेखा—अरे ! क्या देखती हो !

उर्वशी—अपने साथ समवेदना वाले को दोनों नेत्रों से पी रही हूँ ।

चित्रलेखा—(मुस्कराते हुई) किसे ?

उर्वशी—प्रेमी जन को ।

टिप्पणी—अभियं खु दे—किसी किसी पुस्तक में इसके स्थान पर “अभिजातं खलु अस्या वचनम्” यह पाठ है । अभिजात को परिभाषा यह है :—

प्रदानं प्रच्छन्नं, गृहमुपगते संभ्रमविधिः
निरुत्सेको लक्ष्म्या, अनभिभवगंधाः परकथाः
प्रियं कृत्वा मौनं, सदसि कथनं चाप्युपकृतेः
भ्रुतेऽत्यन्तासक्तिः पुरुषमभिजातं कथयति ॥

यदृच्छया—यों ही अर्थात् बिना यत्न के, अनायास । समद्रुःखमुखः—इन उक्तिप्रत्युक्तियों में नाटकीयता है । प्रत्येक कथन राजा तथा सखीजन दोनों को श्रौर संकेत करता है । राजा को प्रणयो कहकर अनुराग भी व्यक्त किया गया है ।

मूलपाठः—रम्भा—(सहर्षमवलोक्य) हला ! चित्तलेहा दुदीअ प्रियसही उब्बसी गेल्लिअ विसाहासहिदो विअ भअद सोमो समुवट्टिदो राएसी दीसदी । [हला ! चित्रलेखा-द्वितीया प्रियसखीमुर्वशी गृहीत्वा विशाखा सहित इव भगवान् सोम. समुपस्थितो राजपिटृश्यते ।]

मेनका—(निर्वर्ण्य) दुवेविलो पिआणि उवरादाणि । इअं पच्चाणीदा विअमही, अअं च अपरिखुवदसरीरो राएसी दीसदि । [द्वे अपि नः प्रिये उपनते । इय प्रत्यानीता प्रियसखी अय च अपरिखतशरीरो राजपिटृश्यते ।]

सहजन्या—सहि ! सुट्ठु भणसि दुज्जआ दाणआ त्ति । [सत्ति ! सुट्ठु भणसि दुज्जया दानवा इति ।]

राजा—सूत ! इद तच्छैलशिखरम् । अबतारय रथम् ।

सूत—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् (इति ययोर्छं करोति)

(उर्वशी रथावतार-सोभ नाटयन्ती सत्रासं राजानमवतम्बते)

राजा—(स्वगतम्) हन्त सफलो मे विषयावतारः ।

यदिद रथ-सोभादङ्गेनाङ्गं ममापतेक्षणया ।

स्पृष्ट सरोमकण्टकमङ्कुरित मनसिजेनेव ॥१३॥

उर्वशी—ह्ला किं वि परदो ओसर । [ह्ला ! किमपि परतः
अपसर ।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) एाहं सक्केमि । [नाहं शक्नोमि ।]

व्याख्या—रम्भा—(हेमकूटशिखरात् श्रवलोक्योर्वशीं चित्रलेखा च
नृपेण सहायान्तोम् हृष्ट्या सती रम्भा कथयति) ह्ला ! चित्रलेखया सहोर्वशी
गृहीत्वा समुपस्थितः समीपमागतो राजर्षिः पुरुरवाः विशाखया सहितः
सोमः चन्द्र इव दृश्यते । विशाखेति नक्षत्रद्वयम् । अतएव चन्द्रलेखोर्वश्योः
सङ्गतिरत्र युज्यते । तदुक्तं शाकुन्तले तृतीयाङ्के “किमत्र चित्रं यदि विशाखे
शशाङ्कलेखामनुवर्तेते” इति । अन्यत्र कविना चन्द्रमया सह चित्राया योगो वर्णितो
यथा “हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव” (रघु० १-४६) प्रोम्ने चित्रा
विशाखा चोमेऽपि चन्द्रसमीपे सविशेषं प्रकाशते । अस्मिन् श्लोके चित्रलेखा-
द्वितीयेति परं प्रच्छन्नरूपेण चित्रानक्षत्रस्यापि सूचकम् । तेन चित्रलेखोर्वशी-
सहितो नृपः चित्रा विशाखा सहितेन चन्द्रेणोपेक्ष्यते इत्युच्यते । मेनका—हले
द्वे अपि नः प्रिये उपनते प्राप्ते । कार्यद्वयम् नः प्रियमेव प्राप्तम् । इयं
सती प्रत्यानीता पुनः प्रापिता अयं च राजर्षिः अपरिच्छत् सुरक्षित न तु
ब्रह्मादिदहित शरीर यस्य स तादृशः स्वस्यशरीरो दृश्यते । सहजन्या—
मत्रि ! युक्त समोचनमेव भर्त्सि कथयसि दुर्जया दानवा इति । राजा—
इदं तच्छैनशिखरम् । श्रवतारय रथम् । सूत—यदाज्ञापयति आयुष्मान् ।
(इति रथ शैनशिखरे श्रवतारयति) सूतो राजानमायुष्मानियेमेव संबोधयति
विप्रत्वात् ज्येष्ठत्वान्च ।

(उर्वशी रथस्य श्रवतारेणाधोगमनेन दोलायिता क्षोभं व्याकुलतां नाटयन्ती अभिनयेन प्रदर्शयन्ती सत्रासं भयेन सहितं राजानम् श्रवलम्बते साहाय्यार्थं हस्तेन गृह्णाति) राजा—(स्वगतम्) हन्तेति हर्षसूचकम् । सफलो मे विषयेऽस्मिन् प्रदेशे श्रवतारः । यदिदमिति—यत् यस्मात् कारणात् रथस्य संक्षोभात् निम्नोन्नत-प्रदेशेषु स्यन्दनोपघातात् आयते अक्षिणी यस्याः तथा दीर्घनेत्रया अनया स्वीयेन अङ्गेन सरोमकण्टकितम् पुलकायमानं इदम् मम अङ्गं कामेन सन्मयेन अङ्कुरितम् इव अङ्कुरा सञ्जाता अस्येति “तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्” इतोतच् प्रत्ययः । स्पृष्टम् स्पृशधातो व्तप्रत्ययः । उर्वशीया अङ्गाना स्पर्श-भवान्य मे अङ्गेषु जाताः पुलकाः कामस्य अङ्कुरा इव प्रतीयन्ते । अस्य पुलकस्य लामेनास्मिन् निम्नोन्नतप्रदेशे मे रथावतारणं सफलं जातमित्यभिप्रायः । छन्दस्त्वन्नायां। श्रयमेवाशयः कालिदासेन मालविकाग्निमित्रे चतुर्थेऽङ्के “हस्त-रथं मुकुलित इव व्यक्त रोमोद्भवत्वात् कुर्यात् बलान्तं मनसिजतर्कमां रसशंफल-स्य” इत्यनेन तथाऽऽर्यासप्तशत्यां “पाणिग्रहे पुलकितं वपुरैशं भूतिभूपितं जयति अङ्कुरित इव मनोभूर्यास्मिन् भस्मावशेषोऽपि” इतिच्छन्दसा प्रकटीकृतः । अत्र सरोमकण्टकित स्पृष्टमित्यनेन बीजस्य बहुलीकरणात् परिकरो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं भवति ॥१३॥ उर्वशी—हला ! किमपि स्वल्पमपि परतः दूर-मपसर । नायकाङ्गस्पर्शश्रीद्वितायाः नायिकाया उक्तिरियम् । चित्रलेखा—नाहं यकनोमि दूरमपसतुं भवकायाभावात् (सर्वा उपसर्पन्ति राशः समीपं गच्छन्ति)

अनुवाद—रम्भा—(प्रसन्नता के साथ देसकर) चित्रलेखा के सहित ध्यारी सखी उर्वशी को लेकर आये हुए यह राजर्षि ऐसे लग रहे हैं जैसे विशाला के साथ भगवान् चन्द्र ही ।

सहेली—सखि ! ठीक कहती हो कि दानवों की जीतना कठिन होता है ।

राजा—सूत, यह है वह शैल की चोटी । रथ उतारो ।

सूत—जो आपकी आज्ञा । (रथ नीचे उतारता है ।)

(उर्वशी रथ के नीचे उतरने के कारण घबडाने का अभिनय करती हुई डरी-सी राजा को पकड़ लेती है ।)

राजा—(मन में) ओह, इस स्थान पर उतरना सफल हुआ—

रथ के हिलने-डुलने से इस दोषाक्षी का अंग जो मेरे अंग से छू गया है तो इसमें रोमांच हो गया है । ऐसा लगता है कि इसमें ये (रोमांच) काम के अंकुर निकल आये हैं । १३ ।

उर्वशी—सखि, थोड़ा परे हट जाओ ।

चित्रलेखा - (मुस्करा कर) और परे इतना सम्भव नहीं है ।

टिप्पणी :—विशाखा दो नक्षत्रों का समूह है । यों चित्रा और विशाखा चन्द्रमा के पास होते हैं तो उनकी कान्ति अधिक दिखाई पड़ती है । यहाँ पर भी उर्वशी और चित्रलेखा दो हैं । चित्रलेखा चित्रा का स्मरण कराती है । ' अद्भुरितम्—अद्भुराः सजाता यस्य तत् । 'तदस्य सजातं तारकादिभ्य इतच् सून से इतच् प्रत्यय हुआ है । स्वल्पमपि—इस कथन में सग्वियों का मधुर परिहास व्यञ्जित है ।

मूल पाठ :—रम्भा—एष सभावेह्य पिअमारिण राएसि । [एत सभावयामः प्रियकारिण राजपिम् ।]

(सर्वा उपसर्पन्ति)

राजा—सूत ! उपश्लेषय रथम्—

यावत् पुनरिय सुभ्रूस्तसुकाभिः समुत्सुका ।

सखीभिर्यासि सपकं लताभिः श्योरिवातवी ॥१४॥

(सूतो रथ स्थापयति)

अप्परस—दिष्टिषा महाराजो विभ्रएण वड्ढदि । [दिष्ट्या महाराजो विजयेन वर्धते ।]

राजा—भवत्यश्च सखी-समागमेन । (सख्यः परस्परं

उर्वशी—(चित्रलेखा-दत्त-हस्तावलम्बा रथादवतीर्य)

अधिभ्रमं परिस्सजध । एणं खु मे आसी आसासो जहा पुणो-
पेखिस्सत्ति । [हला ! एत । अधिकं मा परिष्वजस्वम् न र
सीदाश्वासो यथा पुनरपि सखीजनं प्रेक्षिष्ये इति ।]

(सख्यः परिष्वजन्ते)

मेनका—(साशंसम्) सव्वहा महाराजो कल्पसदं पुह्वि प-
होदु । [सर्वथा महाराजः कल्पशतं पृथ्वी पालयन् भवतु ।]

व्याख्या :—राजा—सूत ! उपश्लेषय स्थापय रथम् । यावदा
यावत् यावता समयेन इयं । समुत्सुका शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः उत्त-
भिः द्रष्टुमुत्कण्ठिताभिः सखीभिः आर्तवो ऋतोरियम् ऋतुरस्याः प्रातः सा
इति अण् प्रत्ययः—ऋतुसम्बन्धिनी श्रीः शोभा लताभिरिव सम्पर्कं याति उपैति
यथा ऋतुसम्बन्धिनी शोभा लताभिः सम्बन्धं प्राप्नोति तद्वदेव सखीः द्रष्टु-
मुत्कण्ठितेयमुर्वशी स्वसखीभिः सम्पर्कं यावत्प्राप्नोति तावत् रथमत्र स्थापय ।
(सूतो रथं स्थापयति) अनुष्टुप् छन्दः ॥१४॥ अप्सरसः—दिष्ट्या महाराजो
विजयेन वर्धते । दिष्ट्येत्यानन्दे । तदुक्तं “दिष्ट्येत्यानन्दने दिष्ट्या
पूर्वोवर्धतिहस्तवे ।” ततो महानयमुत्सवः, महानयमानन्दस्य वा विषयो यन्महा-
राजो विजयी जात इत्यर्थः । राजा—भवत्यश्च सखीसमागमेन । यथाऽहं
विजयेन भवतीनामभिनन्दनीषो जातस्तथा भवत्योऽपि सखी-सगमेनाभिनन्दनीयाः
(सख्यः परस्परं परिष्वजन्ते आलिङ्गन्ति) मेनका—(साशंसम् मङ्गलकामना-
पूर्वकम्) सर्वथा सर्वप्रकारेण महाराजः कल्पशतं बहुकालपर्यन्तं पृथ्वी
पालयन् भवतु । कल्पशतपर्यन्तं जीवतु पृथ्वी शासतु । कल्पश्च युगसहस्रतुल्यः
कालः स च ब्रह्मणः एकं दिनम् । शनमथ बहुत्वसूचकम् ।

अनुवाद :—रम्भा—यहाँ प्रिय करने वाले राजर्षि का सत्कार करें ।
(सब समीप जाते हैं ।)

राजा—सूत । रथ पास ले आओ—

जिससे यह उत्सुक सुभ्रू (सुन्दर मौहों वाली) अननी उन्करित्त महिलाओं से इस प्रकार फिर से मिल सके जैसे उचित श्रुत प्रसू होने पर प्राकृतिक शोभा लताओं से मिलती है ॥१४॥

(सूत रथ खटा करता है)

अप्सरारयें—विजय के लिये महाराज का अभिन्दन है ।

राजा—और आप लोगों का सन्तोसम्मान है जिसे ।

उर्वशी—(चित्रलेखा के हृष के लिये रथ के श्रुत) सर्व, आओ । खूब मेरा आभिनन्दन करो । मुझे जो श्रुत है उसे मैं ही जिसे से महिलाओं को देखूंगी । (मुझे अभिन्दन करो है !)

मेतवा—(महाराज के लिये) श्रुत है इन्हीं श्रुत श्रुतों का पालन करने हुए लोचित रहे ।

(ततः प्रविशति चित्ररथः)

चित्ररथः—(राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकार
पर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।

राजा—अये गन्धर्वराजः ! (रथादवतीर्य) स्वागतं प्रियसुहृदे ।
(परस्पर हस्ती स्पृशतः)

चित्ररथः—वयस्य ! केशिना हतामुर्वशी नारदादुपश्रुत्य प्रत्या-
हरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा । ततो वयमन्तरा
चारणोभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः । स भवानिमां
पुरस्कृत्य सहास्माभिः मघवन्तं द्रष्टुमर्हति । महत् खलु तत्रभवतो मघोनः
प्रियमनुष्ठितं भवता । पश्य—

पुरा नारायणेनेयमतिस्त्रुष्टा महत्वते ।

दैत्य-हस्तादपाच्छिद्य सुहृदा सम्प्रति त्वया ॥१६॥

राजा—सखे ! मैवम्—

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद्

विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः ।

वसुधाधर-कन्दरा-विसर्पी

प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान् ॥१७॥

चित्ररथः—युक्तमेतत् । अनुरसेकः खलु विक्रमालङ्कारः ।

चित्ररथः—(राजानं विक्रमं दृष्ट्वा बहुमानेन सह साहरम्) महेन्द्रस्य
 उपकारः तस्मै पर्याप्तेन समर्थेन विक्रमस्य पराक्रमस्य महिम्ना गौरवेन दिष्ट्या
 वर्धते भवान् अमिनन्दनीयोऽसि । विक्रमशब्दस्यात्र प्रयोगः सामिप्रायः । स च
 विक्रमादित्यस्य महाराजस्वापि प्रशंसासूचकः । अन्यत्रापि चातुर्येण कविना
 तस्य प्रशंसा कृता । यथा—“अनुत्सेकः सत्तु विक्रपालङ्कारः” । राजा—अये
 गन्धर्वराज । रथादवतीर्य स्वागतं प्रियमुद्दे (हरतौ स्पृशतः) हस्तग्रहणं
 प्राक्कालिकः पास्पर-दर्शनजन्य-हर्षव्यक्तिप्रकारः । यथोक्तं भागवते
 (१० ६५-५) सनुपेत्याय गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः—विभ्रान्तं सुगमगोत्रं
 पप्रच्छुः पशुं पागताः । परमयं हस्तयोः स्पर्शः, न त्वाङ्गलज्जनोचितः हस्तस्य स्पर्शः
 प्रदो वा । चित्ररथः—वयस्य ! समानं वयः यस्य स वयस्यः तत्सम्बोधने । तैशिन्या
 तन्नामनेन दानवेन हृतामुर्वशीं नारदात् उपभूत्य ज्ञात्वा अस्याः प्रत्याहरणार्थ-
 मिमां प्रत्यानेतुं शतं ऋतवः सोमवशाः यस्य तेन हन्द्रेण गन्धर्वसेना समादिष्टा
 आजमा । ततो वयमन्तरा मध्ये एव चारोम्यः स्तुतिपाठकेभ्यः स्वदीय जयस्य
 उदाहरणमाकृशानम् भूत्वा हहस्यम् अत्र वर्तमानं त्वाम् उपागताः । स भवानिना-

(तत प्रविशति चित्ररथ)

चित्ररथ —(राजान दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकार-
पर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।

राजा—अये गन्धर्वराज । (रथादवतीर्य) स्वागत प्रियसुहृदे ।

(परस्पर हस्तां स्पृशत)

चित्ररथ —वयस्य ! केशिना हृतामुखंशो नारदादुपश्रुत्य प्रत्या-
हरणार्थमस्या शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा । ततो वयमन्तरा
चारणोभ्यस्त्वदीय जयोदाहरण श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागता । स भवानिमा
पुरस्कृत्य सहास्माभि मघवन्त द्रष्टुमहति । महत् खलु तत्रभवतो मघोन
प्रियमनुष्ठित भवता । पश्य—

पुरा नारायणेनेयमतिस्त्रुष्टा मरुत्वते ।

दैत्य-हस्तादपाच्छिद्य सुहृदा सम्प्रति त्वया ॥१६॥

राजा—सखे ! मैवम्—

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद्

विजयन्ते द्विषतो यदस्य पश्या ।

वसुधाधर कन्दरा विसर्पि

प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान् ॥१७॥

चित्ररथ —युक्तमेतद् । अनुत्सेक खलु विक्रमालङ्कार ।

व्याख्या —सूत —आयुष्मन् ! पूर्वस्या दिशि महतीरघवेगेन उपदर्शित
जनित शब्द । ध्रुयत इति शेष । पूर्वा च ऐन्द्रो दिक् । अयमिति—अथ
पुरोवर्ती कोऽपि तप्त चामीकर सुवर्णं तस्य (तन्निर्मिते) अङ्गदे बाहुभूषणे
यस्यैतादृश शुद्धसुवर्णनिर्मिताङ्गदधारी । चामीकरे आकरे जातमिति चामीकरम् ।
“चामीकर जातरूप महारजतकाञ्चने” इत्यमर । तडित्वान् विशुद्धान् तीवरो
मघ इव गगनात् शैलाग्र पर्वतशिखरमधिरोहति । उपमालङ्कार ॥१५॥

अप्सरस —(पश्यत्य —गगनात् शैलाग्रमधिरोहन्त जन निरीक्षमाणा)
अहो इत्याश्चर्ये, चित्ररथो गन्धर्वाणा राजा ।

(तत प्रविशति चित्ररथ)

चित्ररथः—(राजानं विक्रमं दृष्ट्वा बहुमानेन सह सादरम्) महेन्द्रस्य
 उपकारः तस्मै पर्याप्तेन समर्थेन विक्रमस्य पराक्रमस्य महिम्ना गौरवेन दिष्ट्या
 वर्धते भवान् अभिनन्दनीयोऽसि । विक्रमशब्दस्यात्र प्रयोगः सामिप्रायः । स च
 विक्रमादित्यस्य महाराजस्यापि प्रशंसासूचकः । अन्यत्रापि चातुर्येण कविना
 तस्य प्रशंसा कृता । यथा—“अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः” । राजा—अग्रे
 गन्धर्वराजः । रथादवतीर्य स्वागतं प्रियमुद्ददे (हस्तौ स्पृशतः) हस्तग्रहश्च
 प्राक्कालिकः पास्पर-दर्शनजन्य-हर्षव्यक्तिप्रकारः । यथोक्तं भागवते
 (१०-६५-५) समुपेत्याय गोपालान् हास्यहस्तप्रहादिभिः—विश्रान्तं सुखमासीनं
 प्रपञ्चुः पर्युपागताः । परमयं हस्तयोः स्पर्शः, न त्वाङ्गलजनोचितः हस्तस्य स्पर्शः
 प्रहो वा । चित्ररथः—वयस्य ! समानं वयः यस्य स वयस्यः तत्सम्बोधने । केशिना
 तन्नामनेन दानवेन हृतामुर्वशीं नारदात् उपश्रुत्य ज्ञात्वा अस्याः प्रत्याहरणार्थ-
 मिमां प्रत्यानेतुं शतं क्रतवः सोमयज्ञाः यस्य तेन इन्द्रेण गन्धर्वसेना समादिष्टा
 आश्रमा । ततो वयमन्तरा मध्ये एव चारणेभ्यः स्तुतिपाठकेभ्यः त्वदोर्यं जयस्य
 उदाहरणमाख्यायाम् श्रुत्वा इहस्यम् अत्र वर्तमानं त्वाम् उपागताः । स भवानिमा-
 मुर्वशीं पुरस्कृत्य गृहोत्वा अस्माभिः सह मघवन्तमिन्द्रं द्रष्टुमर्हति । भवता तत्र
 भवतः श्रीमतः मघोन इन्द्रस्य महत् प्रियमनुष्ठितं कृतं खलु इति निश्चये ।
 पुरेति—पुरा प्राचीनकाले नारायणेन इयमुर्वशीं मरुत्वते इन्द्राय अति-
 सृष्ट्या प्रदत्ता । प्रतिपूर्वकस्य सृजेः क्तान्तं रूपम् । सम्प्रति दैत्यहस्तात्
 अपाञ्चिद्य मोचयित्वा मुह्यदा भवता अतिसृष्टेति शेषः । एतेन पुरुरवसो
 नारायणतुल्यत्वं सूचितम् । अनुष्टुप् छन्दः ॥१६॥ राजा—सखे ! मैवं
 वदेति शेषः । तनु इति—ननु निश्चयेन एतद् वज्रिणः वज्रधारिण इन्द्रस्यैव
 वीर्यं शक्तिः यद् अस्य इन्द्रस्य पत्ने भवाः पत्न्याः पत्न्यातिनो जनाः द्विपतः
 शत्रून् विजयन्ते अभिमवन्ति । द्विपन्तीति द्विपतः शत्रवः । हि यतः
 हरेः सिंहस्य वसुधा धरन्तीति वसुधाधराः पर्वताः तेषां कन्दराः गुहाः
 तासु विसर्पति प्रसरतीति वसुधाधर-कन्दरा-विसर्पिं प्रतिशब्दः प्रति-
 ध्वनिः नागान् दन्तिनः हिनस्ति नाशयति । नद्यसौ प्रतिध्वनेः प्रभावः, अपितु
 हरेरेव । एवमेवात्रापि शत्रुनाशे इन्द्रस्यैव प्रभावो न तु तत्पत्न्याणाम् ।

(ततः प्रविशति चित्ररथः)

चित्ररथः—(राजान् दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकार-
पर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।

राजा—अये गन्धर्वराजः ! (रथादवतीर्य) स्वागतं प्रियसुहृदे ।

(परस्परं हस्तौ स्पृशतः)

चित्ररथः—वयस्य ! केशिना हतामुवंशो नारदादुपश्रुत्य प्रत्या-
हरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा । ततो वयमन्तरा
चारणोभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः । स भवानिमां
पुरस्कृत्य सहास्माभिः मघवन्त द्रष्टुमर्हति । महत् खलु तत्रभवतो मघोनः
प्रियमनुष्ठितं भवता । पश्य—

पुरा नारायणेनेयमतिस्फुटा महत्वते ।

दैत्य-हस्तादपाच्छिद्य सुहृदा सम्प्रति त्वया ॥१६॥

राजा—सखे ! मैवम्—

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद्

विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः ।

वसुधाधर-कन्दरा-विसर्पा

प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान् ॥१७॥

चित्ररथः—युक्तमेतत् । अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः ।

व्याख्या :—सूतः—आयुष्मन् । पूर्वस्या दिशि महता रथवेगेन उपदर्शितः
जनितः शब्दः । श्रूयत इति शेषः । पूर्वा च ऐन्द्रो दिक् । अयमिति—अयं
पुरोवर्ती कोऽपि तप्त चामीकरं सुवर्णं तस्य (तन्निर्मिते) अङ्गदे बाहुभूषणे
यस्यैतादृशः शुद्धसुवर्णनिर्मिताङ्गदधारी । चमीकरे आकरे जातमिति चामीकरम् ।
“चामीकरं जातरूपं महारजतकाङ्चने” इत्यमरः । तडित्वान् विद्युद्धान् शोषदो
मेघ इव गगनात् शैलामं पर्वतशिखरमधिरोहति । उपमालङ्कारः ॥१७॥

अप्सरसः—(पश्यन्त्यः—गगनात् शैलाममधिरोहन्तं जनं निरोक्षमाणाः)
अहो इत्याश्चर्ये, चित्ररथो गन्धर्वाणां राजा ।

(ततः प्रविशति चित्ररथः)

चित्ररथः—(राजानं विक्रमं दृष्ट्वा बहुमानेन सह सादरम्) महेन्द्रस्य
 उपकारः तस्मै पर्याप्तेन समयेन विक्रमस्य पराक्रमस्य महिम्ना गौरवेन दिष्ट्वा
 वर्धते भवान् अभिनन्दनीयोऽसि । विक्रमशब्दस्यात्र प्रयोगः साभिप्रायः । स च
 विक्रमादित्यस्य महाराजस्यापि प्रशंसासूचकः । अन्यत्रापि चातुर्येण कविना
 तस्य प्रशंसा कृता । यथा—“अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः” । राजा—अथे
 गन्धर्वराजः । रथादवतीर्य स्वागतं प्रियमुहृदे (हस्तौ स्पृशतः) हस्तग्रहश्च
 प्राक्कालिकः पास्पर-दर्शनजन्य-हर्षव्यक्तिप्रकाः । यथोक्तं भागवते
 (१० ६५-४) समुपेत्याय गोपालान् हास्यहस्तप्रहादिभिः—विभ्रान्तं सुखमासीनं
 पप्रच्छुः पयु पागताः । परमयं हस्तयोः स्पर्शः, न त्वाङ्गलजनोचितः हस्तस्य स्पर्शः
 ग्रहो वा । चित्ररथः—वयस्य ! समानं वयः यस्य स वयस्यः तत्सम्बोधने । केशिना
 तन्नामनेन दास्येन हृतामुर्वशीं नारदात् उपश्रुत्य ज्ञात्वा अस्याः प्रत्याहरणार्थ-
 मिमा प्रत्यानेहुं शतं क्रतवः सोमयज्ञाः यस्य तेन इन्द्रेण गन्धर्वसेना समादिष्टा
 आज्ञमा । ततो वयमन्तरा मध्ये एव चारणोभ्यः स्तुतिपाठकेभ्यः त्वदीयं जयस्य
 उदाहरणमाख्यानम् श्रुत्वा इहस्यम् अत्र वर्तमानं त्वाम् उपागताः । स भवानिमा-
 मुर्वशीं पुरस्कृत्य गृहीत्वा अस्माभिः सह मघवन्तमिन्द्र द्रष्टुमर्हति । भवता तत्र
 भयतः श्रोमतः मघोन इन्द्रस्य महत् प्रियमनुष्ठितं कृतं खलु इति निश्चये ।
 पुरेति—पुरा प्राचीनकाले नारायणेन इयमुर्वशीं मरुत्वते इन्द्राय अति-
 सृष्ट्या प्रदत्ता । प्रतिपूर्वकस्य सुजेः कान्तं रूपम् । सम्प्रति दैत्यहस्तात्
 अप्रान्धिद्य मोचयित्वा सुहृदा भवता अतिसृष्टेति शेषः । एतेन पुनरवसो
 नारायणतुल्यत्वं सूचितम् । अनुष्ठुप् छन्दः ॥१६॥ राजा—सखे ! मैवं
 वदेति शेषः । तनु इति—तनु निश्चयेन एतद् वज्रिणः वज्रधारिण इन्द्रस्यैव
 वीर्यं शक्तिः यद् अस्य इन्द्रस्य पत्ने भवाः पत्न्याः पत्न्यातिनो जनाः द्विपतः
 शत्रून् विजयन्ते अभिमवन्ति । द्विपन्तीति द्विपतः शत्रवः । हि यतः
 हरेः सिंहस्य वसुधा घन्तीति वसुधाधराः पर्वताः तेषां कन्दराः गुहाः
 तासु विस्पर्षति प्रसरतीति वसुधाधर-कन्दरा-विस्पर्षा प्रतिशब्दः प्रति-
 प्वनिः नागान् दन्तिनः हिनस्ति नाशयति । नहसौ प्रतिप्वनेः प्रमावः, अपितु
 हरेरेव । एवमेवात्रापि शत्रुनाशे इन्द्रस्यैव प्रभावो न तु तत्पत्न्यायाम् ।

दृष्टान्तालकरोऽत्र । इदं च श्रीपञ्चन्दसकं नाम वृत्तम् । तच्च बैताली-
पञ्चन्दसोऽन्ते गकारैकाधिक्येन भवति । तल्लक्षणन्तु पिङ्गले बैतालीयं
द्विस्वरा अयुक्त पादे युग वसवोऽन्तेर्ल्गाः । श्रीपञ्चन्दसकम् ।”
चित्ररथः—भवता यदुक्तं तत्सर्वथा साधु । अनुत्सेकोऽभिमानराहित्यं हि
विक्रमस्य शौर्यस्य अलकारो भूषणम् । १७ ।

अनुवाद—सूत—आयुष्मन्, पूर्व दिशा में रथ के महान् वेग से उत्पन्न
शब्द सुनायी पड़ रहा है ।

यह कोई व्यक्ति तपे हुए सोने का अङ्गद (बाहु-भूषण) पहने इस प्रकार
शौन की चोटी पर चढ़ रहा है जैसे बिजली से युक्त बादल ही । १५।

अप्सरार्यो—(देखती हुई) अरे चित्ररथ ! (चित्ररथ प्रवेश करता है ।)

चित्ररथ—(राजा को देग्कर सम्मान के साथ) महेन्द्र का उपकार करने
में समर्थ पराक्रम की महिमा से आप विजयशील हैं ।

राजा—अरे ! गन्धर्व राज हैं । (रथ से उतर कर) स्वागत है प्रिय मित्र
का । (आपस में दोनों हाथ मिलाते हैं ।)

चित्ररथ—मित्र ! इन्द्र ने, नारद से यह सुनकर कि केशी उकीर्ण
हर ले गया है, उसके वापिस लाने के लिये गन्धर्वों की सेना को आदेश
दिया । फिर बीच में ही चारणों से तुम्हारी विजय का वर्णन सुनकर यहीं पर
तुम से मिलने चला आया । उर्वशी को साथ लेकर आपको हम लोगों के
साथ इन्द्र का दर्शन करना चाहिये । आपने इन्द्र का बहुत बड़ा प्रिय कार्य
किया है । देखिये—

चित्ररथ—यह ठीक है । पराक्रम को शोभा गर्व न करने में ही है ।
टिप्पणी—पूर्वस्थां दिशि—इन्द्र का निवास पूर्व दिशा में है और इसी
और इन्द्र को पुरो अबस्थित बतलायी गयी है ।

सद्-रत्न काञ्चन-मयं शिखरत्रयं च
मेगौ सुयारिक-पुरारि-पुराणि तेषु ।
तेषामघः शतमस्र-व्वलनान्तकानां
रक्षोऽम्बुरानिल-शशीशु पुपाणि चाप्यौ ॥

सिद्धान्तशिरोमणि, सुवनकोश ।

विक्रम-महिमा—‘पराक्रम की महिमा से’ इस अर्थ के साथ विरुमादित्य
की और संकेत है । चारणोन्म्यः—चारण (भाट) एक जाति है जिसका काम प्रति-
ष्ठित जनों का यशोगान कर जीविका कमाना है । यह जाति अनेक प्रदेशों में
आज भी विद्यमान है । जयोदाहरण उच छन्द या काव्य को कहते हैं जिसका
प्रारम्भ ‘जयति’ आदि शब्दों से हो, जिसमें अनुप्रासादि अलंकार तथा सब
विभक्तियाँ हों । प्रताप रूद्र ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

येन केनापि तालेन गद्य-पद्य-समन्वितम् ।
जयत्युपनमं मालिन्यादि-प्रास-विचित्रितम् ॥
तदुदाहरणं नाम विमक्यप्याङ्ग-संपुनम् ॥

अनुत्सेकः खलु—यहाँ भी विरुमादित्य की और संकेत है । उन्हें गर्व-
सहित बनाकर प्रशंसित किया है । छन्द—सप्रहर्षो छन्द श्रीरुच्छन्दसक है ।
यह अव्यंजन शृच है और वैतालोक्य इन्द्र के आगे एक गुरु जोड़ देने से बनता
है । तप्तचामीकराङ्गदः—तपापे हुए शुद्ध सुवर्ण से बना वाजूवन्द पहने हुए ।
तप्तं यत् चामीकरं तस्य अङ्गदो यस्य सः । अनुत्सेकः—उत्सेक अर्थात् गर्व
न होना । विरुमालंकारः—इस शब्द के दो अर्थ हैं । पराक्रम की शोभा
तथा विरुमादित्य की शोभा ।

मूलपाठः—राजा—सखे ! नायमवसरो मम शतक्रतुं द्रष्टुम् ।
अतस्त्वमेवात्रभवती प्रभोरन्तिकं प्रापय ।

चित्ररथ—यथा भवान् मन्यते । इत इतो भवत्यः । (सर्वाः
प्रस्थिताः ।)

उर्वशी—(जनान्तिकम्) हला चित्तलेहे ! उवग्रारिण पि राएसि
ण सक्कणोमि आमन्तेदु । ता तुअ एव्व मे मुहं होहि । [हला चित्र-
लेखे ! उपकारिणामपि राजपि न शक्नोमि आमन्त्रयितुम् । तत् त्वमेव मे
मुख भव ।]

चित्रलेखा—(राजानमुपेत्य) महाराज ! उव्वसी विण्णवेदि महा-
राएण अब्भणुएणादा इच्छामि पिअसहि विअ महाराअस्स किंत्ति
महिन्दलोअणेदु त्ति [महाराज ! उर्वशी विज्ञापयति—महाराजेना-
भ्यनुज्ञाता इच्छामि प्रियसखीमिव महाराजस्य कीर्ति महेन्द्रलोक
नेतुमिति ।]

राजा—गम्यता पुनर्दर्शनाय ।

(सर्वा सगन्धर्वा आकाशोत्पतन रूपयन्ति)

व्याख्या :—राजा—सखे ! नायमवसरः कालोऽनुकूलः मम शतक्रतु-
मिन्द्र द्रष्टुम् । अतस्त्वमेवात्रभवती श्रीमती प्रभोरिन्द्रस्य अन्तिक समीपं
प्रापय । चित्ररथ—यथा भवान् मन्यते यद् भवतोऽभिप्रेतम् । इत इतो भवत्यः
आगच्छन्तु इति शेषः ।

(सर्वा प्रस्थिता—चित्ररथेन सह ।)

उर्वशी—(जनान्तिकम् अन्यानपवार्य द्वयोर्मध्ये चार्तालापः) हला चित्रलेखे !
उपकारिणं राजपिं न शक्नोमि आमन्त्रयितुम् पराअट्टुम्, तत् त्वमेव मे मुख
भव, त्वमेव मरस्थाने समापृच्छस्व । अन्यानपवार्यद्वयो परस्परलापः जनान्तिकम् ।
तदुक्तं “वचयित्वैकमन्योन्य द्वाभ्या यदिकल पठ्यते । जनान्तिकं नु तत्कार्यं विप-
त्तायेन पाणिना ।” चित्रलेखा—(राजः समीपं गत्वा) महाराज ! उर्वशी विज्ञा-
पयति निवेदयति—महाराजेन भवताऽभ्यनुज्ञाता अनुमता इच्छामि प्रियसखीमिव

भवतः कीर्ति सुरलोकं नेतुम् । सुरलोके मा दृष्ट्वा सर्वेऽपि भवतो विक्रमस्य चर्चा करिष्यन्ति एव भवतः कीर्तिः सखीव सर्वत्र मया सहैव प्रसरिष्यति । अतो भवतोऽनुमतिं लब्ध्वाऽहं सुरलोकं गन्तुमीच्छामि ।

राजा—गम्यता पुनर्दर्शनाय । साम्प्रतं गच्छतु भवतो परं पुनर्दर्शनं देयं भवत्या । (गन्धर्वैः सहिताः सर्वा अप्सरसः आकाशे उड्डयनं नाटयन्ति ।)

अनुवाद :—राजा—इन्द्र से मिलने के लिये यह अवसर मुझे अतुकूल नहीं है । इसलिए आप ही इन्हें स्वामी के पास पहुँचा दीजिये ।

चित्ररथ—जैसा आप ठीक समझें । आप इधर से चलिये । (सब जाती हैं)

उर्वशी—(एक ओर) श्री चित्रलेखा । मैं तो उपकारी राजर्षि से कह नहीं सकती । तो तुम्हीं मेरी ओर से कह दो ।

चित्रलेखा—(राजा के पास जाकर) महाराज ! उर्वशी ने कहलवाया है कि यदि आपको आशा हो तो मैं प्रियसखी के समान आपकी कीर्ति को सुरलोक ले जाना चाहती हूँ ।

राजा—फिर से दर्शन के उद्देश्य से आइये ।

(सब अप्सरायें गन्धर्वों सहित आकाश में उड़ने का अभिनय करती हैं)

टिप्पणी—जनान्तिकम्—इसका लक्षण है :—

त्रिपताककरेणान्यान् अपवायन्तिरा कयाम् ।

अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्याज जनान्ते, तज्जनान्तिकम् ॥

अर्थात् कया के बीच में और लोगों को बचाकर जब दो व्यक्ति परस्पर आमन्त्रण करते हैं तथा श्रीों को न मुनने देने के लिए त्रिपताक (तीन स्थान पर मोड़कर) हाथ मुल के पास लगाकर बोलते हैं, तब जनान्तिक होता है । शतक्रतुम्—शतं ऋतवः सोमयज्ञः यस्य स इन्द्रः । सो ऋतुश्रो का अनुष्ठान करने वाला—इन्द्र । आमन्त्रयितुम्—आ + मत्रि (गुप्त परिभाषणार्थक) + चुरादिगणोप शिच् (इ) + तुमुन् । अन्पनुज्ञाता—अभि + अनु + श + कर्मणि क्त । अनुमति प्राप्त की है जिसने । इस वाक्य में कथन शैली ध्यान देने योग्य है ।

मूलपाठ—उर्वशी—(उत्पतन भङ्ग रूपयित्वा) अम्मो ! लता विडवे एसा एकावली वैअअन्तिआ मे लग्गा । [अहो ! लताविटपे एपा एकावली वैजयन्तिका मे लग्गा ।] (सव्याजमुपसृत्य राजान पश्यन्ती) सहि चित्तलेहे ! मोआवेहि दावणम् । [सखि चित्रलेखे ! मोचया तावदेनाम् ।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) आम् दिड खु लग्गा सा । असक्का मोआविन्दु । [आम्, दृढ खलु लग्गा सा । अशक्या मोचयितुम् ।]

उर्वशी—अल पडिहासेण । मोआवेदि दाव ण । [अल परिहासेन । मोचय तावदेनाम् ।]

चित्रलेखा—दुम्मोआ विअ मे पडिहादि । होदु जदिस्स दाव । [दुर्मोचेव मे प्रतिभाति । भवतु, यत्तिष्ये तावत् ।]

उर्वशी—(स्मित कृत्वा । पिअसहि ! सुमरेहि दाव एद अत्तणो वअण । [प्रिय सखि, स्मर तावदेतदात्मनो वचनम् ।]

(चित्रलेखा मोचन नाटयति) उर्वशी राजानमालोकयन्ती सति श्वास सखीजनमुत्पतन्त पश्यन्ति)

व्याख्या :—उर्वशी—(उत्पतनभङ्गम् उपरि गमने बाधा प्रदर्श्य) अहो लता-स्कन्धे एषा मे एकावली एकपक्तिमयी आजानुलम्बितो माला वैजयन्तिका मौक्तिकमाला लग्गा दृढा (सव्याजम् एकावली मोचन मियेण समोपमागत्य राजान विलोकयन्ती) सति चित्रलेखे ! मोचय तावदेनामेकावलीम् ।

चित्रलेखा—(विलोक्य सखी व्याज च परिणाय विहसन्ती) आम् सत्य दृढ खलु लग्गा सा, अशक्या मोचयितुम् । भट्-स्य-तरेण सा “उर्वशी अरि विश्रमस्य हृदये दृढ लग्गा साऽपि मोचयितु न शक्यते” इत्याशयमपि प्रकटयति ।

उर्वशी—अल परिहासेन । मोचय तावदेनाम् एकावलीम् ।

चित्रलेखा—आम् दुर्मोच्या इय प्रतिभाति प्रतीयते तथापि मुक्का करिष्ये तावत् । उर्वशी—(सस्मितम्) प्रियसखि ! स्मर खलु आत्मन एतद् वचनम् ।

वार्थशाले मा विस्मार्थो इदं स्वोप वचनम् ।

अनुवाद —उर्वशी—(उड़ने में रुकावट का अभिनय करके) अरे ! लता की शाखा में मेरी एक लड़ी वाली मोतियों की माला अटक गयी है ।

(वहाने से पास आकर राजा को देखती हुई) सखी ! चित्रलेखा—इसे छुड़ाओ तो ।

चित्रलेखा—(देखकर और हँसकर) हँ, हँ, बड़ी मजबूती से श्रटक गयी है । छुड़ाना समभव नहीं है ।

उर्वशी—ठिठोनी मत करो । छुड़ाओ इसे ।

चित्रलेखा—हँ, छुड़ाना तो कठिन मालूम होता है तो भी छुड़ा लेंगे ही ।

उर्वशी—(मुस्कराकर) प्रिय सखी ! अपनी इस बात को याद रखना ।

टिप्पणी.—एकावली—एक लड़की सोने या मोतियों की माला । यह घुटनों तक लम्बी, इसलिये टूटने को आशंका लिये होती है । बदामी की गुफाओं में प्राचीन देवमूर्तियाँ एकावली धारण किये दिखायी गयी हैं । लता-विटपे—लता की डाली या टहनो । मूल के बाद पहली टूटी हुई डाल । उर्वशी के इस सध्याज विलम्ब से काम की “चित्तामङ्गल” नामक द्वितीय श्रवस्था सूचित होती है । रतिविलास में इसका लक्षण कहा है—“विलम्बस्तु पमि व्याजात् परावृत्त्यापि दर्शनम् ।” शाकुन्तल में भी “दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षण दस्यकारणं तन्त्री स्थिता कतिचिदेव पदानि दत्त्वा” से यही श्रवस्था सूचित की गयी है । टटं खलु—उलझी हुई माला को छुड़ाने का अनुरोध करने वालो सखी के अन्तरङ्ग भाव को ताड़कर चित्रलेखा परिहास में यह बात कहती है और उर्वशी को प्रकट करती है कि मैं तुम्हारे मन की बात समझ रही हूँ । स्मर तावत्—नाटक में आगे चलकर उर्वशी अपनी सखी को इस बात का स्मरण दिलाती है । इसीलिये यहाँ पर इस बात को याद रखने पर जोर दिया है । सनिःश्वासम्—निर्गतः श्वासः निःश्वासः । तेन सहितं यथा स्यात् तथा । क्रिया विशेषण । लम्बी साँस छोड़ती हुई ।

मूलपाठ—राजा—(स्वगतम्)

प्रियमाचरितं तते त्वया मे

गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या ।

यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा

परिवृत्तापं-मुञ्चो मया हि दृष्ट्वा

सूतः—आयुष्मन् !

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधान्
प्रक्षिप्य दैत्यान् लवणाम्बु-राशौ ।
वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते
महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम् ॥१६॥

राजा—तेन ह्य पश्लेषय रथम्, यावदारोहामि ।

(सूतस्तथा करोति । राजा नाट्येन रथमारोहति ।)

व्याख्या :—राजा—(स्वगतम्) लते ! अस्याः उर्वश्याः गमने क्षणं

यावत् विघ्नं आचरन्त्या रचयन्त्या स्वया मे प्रियम् आचरितम् कृतम् । यत् येन मया अपाङ्गे कटाक्ष-सुक्ते नेत्रे यस्याः सा एवंविधा परिशुचं ईपत् तिर्यक् कृतम् अर्धं मुग्धं यस्याः सा तादृशी इयमुर्वशी पुनरपि दृष्टा । अत्र श्रौपच्छन्दसिकं छन्दः । १८। (चित्रलेखा लतास्फन्धादेकावलीं वियोजयति । उर्वशी राजानमालोकयन्ती निःश्वासेः सह सखोजनम् आकाशे उड्डोषमानं पश्यति ।

सूत —आयुष्मन् ! अदः एतत्ते वायव्यं वायुः देवता यस्य तत् अस्त्रं सुरेन्द्रस्य कृतः अपराधो यैस्तान् इन्द्रस्य अपकारिणः दैत्यान् लवणाम्बुराशौ क्षीरसागरे प्रक्षिप्य क्षिप्य महोरगः कृपसर्पः श्वभ्रं विलमिव पुनः ते शरधिं तूष्पीर प्रविष्टम् । यथा सर्पः कंचित् कालं बहिरागम्य पुनरपि स्वविलं प्रविशति तद्वत् तवास्त्रमपि बहिर्गतांवा शत्रून् प्रणाश्य पुनस्ते तूष्पीर प्रविष्टम् । सर्पो वायवशनो भवति शस्त्रं च वायव्यम् । शराः धीयन्ते यत्र स शरधिः । उरसा गच्छतीति उरगः । वायव्यमित्यत्र 'वायुत्पुत्रिपुत्रो यत्' इति यत् प्रत्ययः । 'श्वभ्रं रग्धं यथा शुषि' इत्यमरः । श्रौपमालङ्कारः (१६) उपजातिश्च छन्दः ।

राजा—तेनहि उपश्लेषय गमनाय सज्जीकृत्य स्थापय, यावत् आरोहामि ।
(सूतः रथं स्थापयति ! राजा नाट्येन रथमारोहति)

अनुवाद :—राजा—(मन में) हे लते ! इसके गमन में क्षण भर का उत्पन्न करके तुमने मेरा प्रिय किया है । जो मैंने आधा मुँह मोड़कर तिरछे देखती हुई इस उर्वशी को फिरते देल लिया । (चित्रलेखा लुढ़ा देती है । उर्वशी महाराज को देखती हुई हाँस छोड़ती हुई, ऊपर उड़ती हुयी सदेलियों को देखती है ।) । १८।

सूत—आयुष्मन् ! यह तुम्हारा वायव्य अस्त्र छन्द के अपकारी दैत्यों को खारे समुद्र में फेंककर फिर से इस प्रकार तरकस में प्रविष्ट हो गया है जैसे काला सॉप बिल में घुस जाता है । १६।

राजा—तो रथ को पास में लाकर खड़ा करो । मैं चट जाऊँ । (सूत वैसा ही करता है । राजा अभिनय के साथ रथ पर चढ़ता है ।)

टिप्पणी—अपाङ्गनेत्रा—अपाङ्गे नेत्रे यस्याः सा । कटाक्ष युक्त नेत्र वाली । बहुजोहि समास । परिवृत्तार्धमुखी—परिवृत्तम् अर्धं मुख यस्याः सा । जिसका आधा मुख घूम गया है । बहुजोहि । छन्द—इस १६वें श्लोक का छन्द औपच्छन्दसिक है । इसका लक्षण पीछे दिया जा चुका है । वायव्यम्—वायु देवता यस्य तद् वायव्यम् । “वायुतु पितृपसो यत्” से यत् प्रत्यय हुआ । महोरग—उरसा गच्छति स उरगः सर्पः । महारचाठी उरग इति महोरगः । कर्मधारय । अलङ्कार—१६वें श्लोक में उपमालङ्कार है । अस्त्र की उपमा महोरग से एव तूणोर की बिल्ग से की गयी है । अस्त्र वायव्य है और उरग भी वायुभक्षक होता है । छन्द—१६वें श्लोक में उपजाति छन्द है जिसका लक्षण अन्यत्र दिया जा चुका है ।

मूलपाठ—उर्वशी—(सस्पृह राजानमवलोकयन्ती) अविणाम पुणो वि उग्र आरिण एद पेक्खस्सम् । [अपिनाम पुनरपि उपकारिणमेव प्रेक्षिष्ये ।]

(इति सगन्धर्वा सह सखीभिनिष्क्रान्ता)

राजा—(उर्वशीवत्सोन्मुख) अहो ! दुर्लभाभिनिवेशी खलु मदनः ।

एषा मनो मे प्रसन्न शरीरात्

पितु पद मध्यममुत्पतन्ती ।

सुराङ्गना कर्षति खण्डिताघ्रात्

सूत्र मृणालादिव राजहसी ॥२०॥

(निष्क्रान्ती)

इति विक्रमोर्वशीये प्रथमोऽङ्कः ।

व्याख्या—उर्वशी—(स्पृहया लालसया सह राजानमालोकयन्ती) अपिः समावनायाम् पुनरपि नाम उपकारिणमेव राजपि प्रेक्षिष्ये द्रष्टुमवसर प्राप्स्यामि । (इति गन्धर्वे सहिता सखीभिश्च सह निष्क्रान्ता)

राजा—उर्वश्याः वर्त्मनोऽभिमुख पश्यन्) अहो दुर्लभमप्राप्य जन-
मभिलषतीति तादृशो मदन कामः । कामो दुष्प्राप्यमिताम् अप्सरस कामयत
इत्यर्थः ।

एषेति—पितुः नारायणस्य मध्यम पद अन्तरिक्ष उत्पत्तन्ती एषा सुराङ्गना
अप्सरा राजहंसो रण्डितमग्र यस्य तस्मात् मृगालात् कमलदण्डात् सूत्रमिव
मे शरीरात् प्रसभं बलात् मनः कर्षतीव । मृगालदण्डस्याग्रभागे खण्डिते
ततः सूत्रजाल राजहस्या नि सार्यते । एवमे शरीरमस्याः दर्शनानन्तर रण्डित-
मिवाशक्त जातम् । साम्प्रत दृष्टिपथाद् दूर यान्ती उर्वशी अस्मान्मे मनोऽपि
प्रसभ हरतीव । आकाश नारायणस्य विष्णोर्वा मध्यम पदमुच्यते 'विद्यद्विष्णुपद
मित्यसरः । अत्रोपमालङ्कारः । उपजातिवृत्तम् । २० ।

कालिदासेनायमेव भावः शाकुन्तलेऽपि प्रकरान्तरेण प्रकटीकृत -
“गच्छति पुरः शरीर धावति पश्चादसस्तुत चेतः ।

चीनाशुकमिन केतो प्रतिवात नोयमानस्य ।”

(निष्कान्तौ राजा सूतश्च)

इति प्रथमोऽङ्क

अनुवाद—उर्वशी—(स्पृहा के साथ राजा को देखती हुई) फिर भी
कमो इस उपकारी को देख पाऊँगी । (गन्धर्वों और सखियों के साथ चली
जाती है ।)

राजा—(उर्वशी के मार्ग को और मुँह उठाकर) ओह ! काम दुर्लभ
व्यक्ति की अभिलाषा कर रहा है ।

अपने पिता के मध्यवर्ती लोक (अन्तरिक्ष) में उडती हुई यह अप्सरा मेरे
शरीर से मन को इस प्रकार खींचे ले रही है जैसे राजहंसो आगे से दूटे हुए
कमल-जाल से तन्तु खींचती है । (दोनों जाते हैं) । २० ।

विक्रमोर्वशीय का प्रथम अङ्क समाप्त हुआ ।

टिप्पणी—पितु पद मध्यमम्—अन्तरिक्ष लोक । परवर्ती साहित्य में
नारायण ऋषि को नारायण विष्णु से मिला दिया गया है । नाम सादृश्य
के कारण दोनों एक मान लिये गए और विष्णु के विशयण नारायण ऋषि
के साथ भी जोड़ दिये गये । ऋग्वेद में विष्णु को त्रिविक्रम कहा है । सब
से पहले विष्णु सूर्य का नाम था । सूर्य व तीन पद हैं—१—प्रातः उदयाचल
से उदय २—मध्याह्न में परमपद अर्थात् आकाश में सर्वोच्च स्थान की प्राप्ति,
३—सायंकाल पश्चिम में अस्तमन । द्वितीय पद या विक्रम (क्रमण या

लाघना) अन्तरिक्ष में होता है । यह विष्णु का मध्यम लोक कहा गया था । सूर्य-विष्णु और बाद में विष्णु-नारायण तथा अन्त में नारायण, विष्णु और श्रृष्टि एक बन गये । इसलिये अन्तरिक्ष को नागयण श्रृष्टि का मध्यम लोक कहा है । सस्पृहम्--स्पृहया सह इति । अध्वयी भाव समास । उत्कण्ठा के साथ । प्रेक्षिष्ये--प्र+ईशू (देखना) धातु का लृट् लकार उत्तम पु० एक वचन का रूप । ईत् धातु का प्रयोग आत्मने-पद में ही होता है । दुर्लभामि-निवेशी--दु.सेन लब्धुं शक्यः इति दुर्लभः । तस्मिन् अभिनिवेशते इति दुर्लभाभिनिवेशी । दुष्पाप्य वस्तु के लिये आग्रह करने वाला । ताञ्छात्ये णिनि प्रत्ययः । राजहस--ईसाना राजा इति राजहसः । "राजदन्तादिपु परम्" इस सूत्र से राजशब्द का प्रयोग पहले हुआ है । अन्यथा तत्पुरुष समास में इस शब्द का प्रयोग पहले होता ।

प्रथमोद्धः--ग्रह की परिभाषा इस प्रकार है--

प्रत्यक्षनेतृ-चरितो रस-भाव-समुज्ज्वलः ।

भवेदगूढशब्दायः क्षुद्रचूणक-मयुतः ॥

विच्छिन्नाञ्चान्तरैकार्थः विञ्चित् सलग्नविन्दुरुः ।

मुक्तो न बहुभिः कामर्वाज-सहृतिमान्न च ॥

नाना - विद्यान - समुक्तो नातिप्रचुर-पद्यवान् ।

आवश्यकाना कार्याणामपि रोधाद् विनिर्मितः ॥

नानेक-दिन-निवर्त्यः कथया सप्रयोजितः ।

आसन्न नायकः पात्रेयुतस्त्रिचतुरैस्तथा ।

देवी परिजनादीनाममात्य-वर्णिजामपि ।

प्रत्यक्ष-चित्र-चिरितैर्युक्तो भाव रमोद्भवैः ॥

अन्तनिष्क्रान्त निव्विलपात्रोऽद्ध इति कीर्तितः ॥ साहित्यदर्पण

६-११ से १६

इससे स्पष्ट है कि नाटक में नायक, नायिका या देवी, परिजन आमा-पादि का चरित्र स्पष्ट होना चाहिये । शब्दार्थ स्पष्ट और रस एवं भाव विशुद्ध हो । कथा का एक भाग उसमें समाप्त होता है । बहुत से कथों की भीड़ उसमें नहीं होती । पद्य प्रचुर मात्रा में नहीं होने उसका अभिनय एक दिन में समाप्त हो जाता है । नायक तथा अन्य तीन चार पात्र उसमें होने हैं और श्रंफे अन्त में गारे पात्र रंगमंच से चले जाते हैं ।

द्वितीयोऽङ्कः

(तत प्रविशति विदूषक)

विदूषक —अविद अविद भो, गिमन्तणिश्चो परमण्णेण विञ्च राअरहस्सेण पुहमाणो ए सक्कुणोमि जनाइएणे अइएणणेण अत्तणो जीह धारिदुम् । ता जाव सो राआ धम्मासणगतो इदो आअच्छइ दाव इमस्सि विरल-जन-सवादे देव-छन्दअप्पासादे आरुहिअ चिट्ठिस्सम् । (परिक्रम्योपविश्य पाणिभ्या मुख पिधाय स्थित) [अविद अविद भो । निमन्त्रणिक परमात्रेणैव राजरहस्येन स्फुटञ्च शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्तनेन आत्मनो जिह्वा धारयितुम् । तद्यावत् स राजा धर्मासनगत इत आयाति तावदेतस्मिन् विरल-जन सपाते देव-छन्दकप्रासादे आरुह्य स्थास्यामि]

(तत प्रविशति चेटी)

चेटी—आणत्तमिह देवीए कासिराअ पुत्तीए जधा हज्जे णिउणिण । जदो पहुदि भअवदो मुज्जसस उरध्थाण करिअ पडिणिवुत्तो अज्जवत्त तदो आरहिअ सुएणाहअश्चो विअ लख्खीअदि । ता तुम विदावतस्स पिअवअस्सादो अज्जमाणवआदो जाणाहि से उक्कएठा कालए ति । ता कह खु मए स वग्गवधु अदिसधादव्यो । अहया तण्णगलग्ग विअ अरस्साअ सलिल ए तस्सि राअरहस्स चिर चिट्ठिदि ता जाव ए अण्णैसामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अम्मो ! आलेरख-वाणरो विअ कि पि मतअतो णिहुदो अज्जमाणवश्चो चिट्ठिदि । ता जाव ए उरसप्पामि (उपसृत्य) अज्ज, वन्दामि । [आज्ञप्ताऽस्मि देव्या काशि-राजपुत्र्या यथा—हज्जे तिपुणिके । यत् प्रभृति भगवत् सूर्यस्य वपस्थान

कृत्वा प्रतिनिवृत्त आर्यपुत्रस्तत आरम्य शून्यहृदय इव लक्ष्यते । तत्
 त्वमपि तावत्तस्य प्रियवयस्यादार्यमाणजकाज्जानीहि अस्योत्कण्ठाकारण-
 मिति । तत् कथं खलु मया स ब्रह्मबन्धुरतिसन्धातव्यः । अथवा कृष्णम-
 लग्नमिवावश्याय-सलिलं न तस्मिन् राजरहस्य चिरं तिष्ठति । तद्यावदेन-
 मन्वेपयामि । (परिक्रम्याप्रलोभ्य च) अहो ! आलेख्य-यानर इव किमपि
 मन्त्रयन्निभूत आर्यमाणवकस्तिष्ठति । तद्यावदेनमुपसर्पामि (उपसृत्य)
 आर्य, वन्दे ।]

व्याख्या :—ततः इति—इदानीं विदूषकमुखेन अप्रिमकपा-सूचनायं
 विदूषक-प्रवेशमाह तत इति । पूर्वाङ्के राज्ञः सूतस्य च निष्क्रमणानन्तरं विदूषको
 रङ्गमञ्चमवतरति । विदूषक लक्षणञ्च—“विकृताङ्गवचोन्नेपैर्हास्यकारी
 विदूषकः ।” तदुक्तं सागरे—‘वयस्यक्श्चाटुगटुः स एव च विदूषकः—अन्तः-
 पुरचरो राज्ञा नर्मांसात्यः प्रकीर्तितः ।’ विश्वनाथेनाप्युक्तं—“कुसुम-वसन्ताद्य-
 भिषः कर्म-वपुर्वेपमापाद्यैःहास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ।”
 विदूषक इति—अविद अविद भो. शायता शायताम् । यथा निमन्त्रणिक.
 निमन्त्रण प्राप्तवान् कश्चिद् ब्राह्मणः परमात्रेण पायसादिना कारणेन परि-
 स्फुटन् स्वहर्षातिरेकं विद्मनोतुमशक्नुवन् जनानां मध्ये निमन्त्रणविषयिणीं चर्चां
 करोत्येव तद्वदहमपि राजरहस्येन विक्रमोवशीर्यरतिरूपेण जनान्निर्गणे जनसम्मर्दे
 अनीतनेन अकथनेन स्वीया जिह्वा धारयितुं सयमितुं न शक्नोमि । राज
 रहस्यं स्वयमेव स्फुटदिव मम जिह्वातो वहिर्निष्क्रान्तुमिच्छति । तद् यावत्
 स राजा पुरुरवा घर्मासनगत. न्यायादिकायांणि समाप्य इत आगच्छति ताव-
 त्काल एतस्मिन् विरलाना जनानां संघातो यत्र तस्मिन् नाधिकजनयुक्ते देव-
 च्छन्दक इति नाम्नि प्रासादे आरुह्य स्थास्यामि । एतेन विदूषकस्य रसना-
 लोलुपत्व व्यज्यते हृदय गाम्भीर्याभावश्च । देवच्छन्दक इति च प्रासादस्य
 नाम । परिक्रम्य किञ्चिदिदस्ततः परिक्रम्य हस्ताभ्यां मुखं पिपाय स्थितः ।
 ततः इति—ततः काचन चेटी दासी प्रविशति । चेटी—देव्या काशि-
 राजपुत्र्या पुरुरवसो महिष्या आश्रितास्मि । यथा हञ्जे अये निपुणिके । निपु-
 णिकेति चेट्याः नाम । यतः आरम्य मगवतः पूर्वस्योरस्मानं पूजा कृत्वा प्रति-
 निवृत्त आर्यपुत्रः राजा ततः तस्मात् कालादेव स शून्यहृदयः सर्वेष्वपि निरप्ये-

ध्वनभिश्चिह्नं श्यते । तत्त्वमार्यमाण्यकदेतन्नाम्नो विदूषणजानाहि अस्यो-
 त्कण्ठायाश्चिन्तायाः कारणम् । तत् कथं स ब्रह्मवन्द्युः ब्राह्मण्युवः दुष्टविप्रो या
 मया अतिसन्धातव्यो चञ्चनीयः । कथमहं मधुरालापेन तन्मनसि निरनास-
 सुत्पाद्य रहस्यमुद्घाटयामि । अथवा तृणाग्रे लग्नमयश्याय-सलिल हिमजल लय
 इव तस्मिन् राजरहस्य न चिर तिष्ठति । यथा तृणाग्रे लग्नस्तुषार-जल-विन्दु-
 रचिरात् पतति तथैव अस्य भूर्जब्राह्मणस्य मुक्ते राजरहस्य न चिर स्थानुं
 शक्यम् । तदन्वेषयामि तावदिमं विदूषकम् । इतस्ततोभ्रमित्वा । अहो !
 अयमार्यमाण्यकः आलेख्य वानरः चित्रलिखितः कविरिव निभृतो निश्चल-
 किमपि मन्त्रयन् गम्भीरभावेन चिन्तयन् तिष्ठति । तद्द्यावदेनमुपसर्पयामि ।
 उपसृत्य विदूषक—समीप गत्वा—आर्य वन्दे प्रथमामि ।

(विदूषक प्रवेश करता है)

अनुवाद :—विदू०—अरे अरे माई, जैसे निमन्त्रण देने या पाने वाला
 व्यक्ति पीर आदि श्रेष्ठ भोजन के लिये भीतर से टूटा पड़ता है और अपनी
 जीभ को नहीं सम्हाल पाता ऐसे ही मैं राज रहस्य से फूटा पड़ रहा हूँ और
 लोगों की भीड़ के बीच अपनी जीभ को रोक नहीं पा रहा हूँ । इसलिये
 न्याय-दरबार को गया हुआ राजा जब तक इधर न आ जाय तब तक इस
 देवच्छन्दक नाम के महल पर चढ़कर बैठूँ, जिसमें बहुत कम लोग आते-
 जाते हैं । (मंच पर इधर उधर घूमकर बैठ जाता है और दोनों हाथों से मुँह
 टक लेता है ।)

(तब चेटी प्रवेश करती है)

चेटी—काशिराज की पुत्री महारानी ने आज्ञा दी है—“अरे निपुणिके !
 जब से महाराज भगवान् सूर्य का उपस्थान (सेवा-पूजा) करके लौटे हैं तब से
 तोये खोये से दिखायी देते हैं ? तो तुम जाकर आर्य माण्यक से पता लगाओ
 कि उनकी उदकण्ठा (चिन्ता) का क्या कारण है । तो जिस प्रकार इस ब्राह्मण
 से भेद निकाला जाय ! वैसे तो तिमरे की नोक पर लगी हुई ओस की बूँद
 की तरह उद्यमें राजरहस्य अधिक देर तक टिक नहीं सकता । तो तब तब उसे

चेटी—देवी भणादि जधा-अञ्जस्त मम उञ्चरि अदरिखणम् ।
ए मं अणुइदवेअणादुखिखद अवलोअदि त्ति । [देवी भणति यथा—
आर्यस्य ममोपरि अदाक्षिण्यम् । न मामनुचित-वेदना-दुःखिताभव-
लोकयतीति ।]

विदू०—(सवितर्कम्) निउणिए ! किं वा पिअवअस्सेण तत्तभोदीए
पडिउल किं वि समाचरिदम् ? [निपुणिके ! किं वा प्रियवयस्येन तत्र-
भवत्याः प्रतिकूल किमपि समाचरितम् ?]

चेटी—ज णिमिन्त भट्टा उक्कणिएठो ताए इध्थिआएणामेण भट्टिणा
देवी आलविदा । [यन्निमिन्त भर्तोत्कणिएतस्तस्याः खिया नाम्ना भर्ता
देवी आलपिता ।]

विदू०—(स्वगतम्) कह सअ एव्व तत्त भोदा वअस्सेण किदो
रहस्स भेदो । कि दाणि अहं बग्गणो जीहंरखिखदुं समत्थोमिह ।
(प्रकाशम्) किं तत्त भोदा उव्वसी णामघेएण आमन्तिदा ? [कथ
स्वयमेव तत्र भवता वयस्येन रहस्यभेदः कृतः किमिदानीमहं ब्राह्मणः
जिह्वां रक्षितुं समर्थोऽस्मि । (प्रकाशम्) कि तत्र भवता उर्वशी नाम-
धेयेन आमन्त्रिता ?]

चेटी—अञ्ज ! का सा उव्वसी ? [आर्य ! का सा उर्वशी ?]

विदू०—अत्ति उव्वसि त्ति अञ्जरा । ताए दंसणेण उम्मादिदो
न केवल त आआसेदि मं वि बग्गणं असिदव्वविमुहं दिढं पीडेदि ।
[अस्ति उर्वशीत्यप्सराः । तस्या दर्शनेनोन्मादितो न केवलं तामायास-
यति मामपि ब्राह्मणं अशितव्य-विमुखं दृढं पीडयति ।]

व्यारया :—विदू०—एवस्ति भवत्यै तव कल्याणं भूयात् । नमः एस्ती-
त्यादिना चतुर्थी । आत्मगत स्वमनसि एव । एता दुष्ट चेदिका प्रेक्ष्य दृष्ट्वा
तदुर्वशीविषयरु राजरहस्य हृदय मित्वा निष्कामति बहिर्गच्छतीव । मुखं
किञ्चित् सकृत्य पिषाय प्रकाश स्पष्टं यथा सर्वे प्रेक्षकाः शृणुयुस्तथा । भवति
इति सम्बोधने निपुणिके वेलेष संगीतस्य । अस्मिन् काले संगीतमनुष्ठेयं तत्त्वं
संगीतमुज्ज्वलापरित्यज्य कुत्र प्रस्थिताऽसि । निपुणिका न केवला सामान्या

दासी प्रत्युत संगीतेऽपि निपुणेति स्म्यते । चेटी—देव्याः काशिराजदुहितुः वचनेन निदेशेन आर्यं त्वामेव प्रेक्षितुं द्रष्टुम् । विदू०—तत्रभवती माननीया देवी किम्प्राज्ञापयति ? चेटी—देवी भणति कथयति यथा आर्यस्य राज्ञः ममोपरि अदाक्षिण्यमननुकूलता । अदाक्षिण्ये प्रमाणं किमित्याह—न मामनुचित-वेदनया, विनैवदोषं प्राप्तेन कण्ठेन दुःखिता पीडिता मामवलकोयति । निर्दोषमेव पीडिताया अपि मम चिन्तां न करोति । विदू०—सवितर्कं मनसि तर्कं पूर्वकं किञ्चिद् स्मरन्—निपुणिके ! किं वा प्रियवयस्येन मम सुहृदा राज्ञा तत्रभवत्याः काशिराजपुत्र्याः किमपि प्रतिबलमहितमाचरितमिति प्रश्नः । चेटी—यस्याः स्त्रियः निमित्तं राज्ञो मनसि महतीउत्क्रान्ता वर्तते तस्याः नाम तेन भर्ता देव्या सह आलपता गृहीतम् । तेन देवीति वक्तव्ये उर्वशीत्युक्तमिति प्रत्ययो विदूषकस्य मनसि जनयितुं निपुणिका तथा भणति । विदू०—स्वगतमात्यन्वेव—कथं स्वयमेव तत्रभवता वयस्येन रहस्यमेदः कृतः गोपनीयं वृत्तमुद्घादितम् अहं पुनर्ब्राह्मणः प्रकृत्या मुखरः कथं जिह्वा रक्षितुं रोद्धुं समर्थो भवामि । प्रकाशम्—किं तत्र भवता देवी राजमहिषी उर्वशीति नाम्ना आलपिता आहूता । किं स देवी 'अपि उर्वशी' इति कृत्वा आचारितवान् ? अज्ञानत्या अपि निपुणिकायाः समक्षं मूर्खतया विदूषणेन रहस्यमेद-कृतः । चेटी—आर्य ! सा उर्वशी का ? तद्विषये विशेषेण कथयतु भवान् । विदू०—उर्वशीतिनाम्नी काचनाम्भराः देवाङ्गना विद्यते । मम वयस्यः तस्याः दर्शनं प्राप्य उन्मादितः प्रमत्त इव जातः । तेन स साम्प्रतं न केवलं ता देवीमेव आयासयति पीडयति ना ब्राह्मणमपि अशितव्यं—विमुखं भोजन-पराट्मुखं कुर्वन् दृढमधिकं पीडयति कण्ठे निक्षिपति । अनेन विदूषकस्य भोजन-चिन्ताऽपि घृचिता ।

अनुवाद—विदूषक—कल्याण हो आपका । (मन में) इस दुष्ट नौकरानी को देखकर राजा की गुप्त बात तो हृदय फाड़कर निकली-सी पड़ रही है । (कुछ मुँह बन्द कर—प्रकट रूप से) निपुणिके ! आप गाने-बजाने का काम छोड़कर वहाँ जा रही हैं ?

चेटी—देवी के कहने से आपको ही देखने । (निकली थी)

त्रिदू०—सम्मान्या (महारानी) की क्या आज्ञा है ?

चेटी—देवी कहती हैं कि आर्य का व्यवहार मेरे प्रति अनुकूल नहीं है । मेरे अकारण पीड़ा से ग्रस्त होने पर भी मेरे दुःख की ओर ध्यान नहीं देते ।

त्रिदू०—त्रिपुण्ड्र ! क्या प्रियवयस्य ने कोई व्यवहार सम्मान्या (देवी) के प्रतिवृत्त किया है ?

चेटी—जिसके लिये मालिक उत्कण्ठित हैं उस स्त्री का नाम लेकर स्वामी ने देवी को पुकारा है ।

त्रिदू०—(नन में) कैसे सम्मान्य प्रिय मित्र ने स्वयं ही रहस्य खोल दिया ? अब मैं ब्राह्मण किस प्रकार जीभ को वश में रख सकता हूँ ? (प्रकट) क्या श्रीमान् ने उर्वशी, इस नाम से बुलाया ?

चेटी—आर्य ! वह उर्वशी कौन है ?

त्रिदू०—उर्वशी एक अप्सरा है । उसने दर्शन से उन्मत्त बनकर न केवल उसे ही परेशान कर रहे हैं (अपितृ) मुक्त ब्राह्मण को भी भोजन से विसुप्त रखकर बहुत अधिक पीड़ा पहुँचा रहे हैं ।

टिप्पणी—अदाक्षिण्यम्—दक्षिण नायक एक से अधिक स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखकर भी उनके साथ इस प्रकार व्यवहार करता है कि ज्येष्ठा नायिका

(प्रकाशम्) किं वा ज्ञेयं शिवायै ? [उत्पादितो मया भेदो भवतु रहस्यदुर्गस्य । (प्रकाशम्) तत् किं तावत् देव्यै निवेदयामि ?]

त्रिदू०—शिवायै ! विष्णवेहि मम वचनेन काशिराजदुहितरम्—परिमन्ति इमा ए मिश्रतिष्ठिआ ए वयस्म शिवायैवेदुम् । जई भेदीए मुहकमल पेरियस्सदि तदो शिवायैस्सदि ति । [त्रिपुणिके । विज्ञापय मम वचनेन काशिराज—दुहितरम्—परिश्रान्तोऽस्मि एतस्या मृगतृष्णिकाया वयस्य निर्वर्तयितुम् । यदि भयत्याः मुखकमल प्रेक्षिष्यते ततो निर्वर्तिष्यते इति] ।

निपु०—ज श्रज्जो आणपेदि । [यदार्यं आज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

(नेपथ्ये वृत्तालिका)

जयतु जयतु देव —

आलोकान्त-प्रतिहत-तमोवृत्ति रासा प्रचाना
तुल्यो योगस्तत्र च सन्निवृत्ताधिकारो मत्तोन ।
तिष्ठत्येक क्षणमधिपतिर्ज्योतिषा व्योममध्ये
पण्डे काले तमपि लभसे देव विश्रान्तिमहन् ॥१॥

त्रिदू०—(कर्णं श्रुत्वा) एसो उण पिअ वयस्सो धम्मासण-समुत्थिदो इणे एव आअच्छदि । ता जाय पासपडियती होमि । [एष पुन प्रिय-यस्य धर्मासन-समुत्थित इव एव आगच्छति । तद्यान् पाररपरिवर्तो भवामि ।] (इति निष्क्रान्त)

(प्रवेशक)

व्याख्या—चेटी—स्वगतम्—मया मर्तुं स्वामिनो रहस्यमेव दुर्गस्तस्य भेद भेदन उत्पादित कृत । मया मर्तुं शीतिरहस्य शतम् । प्रकाशम्—विदूषक प्रति कथयति तदितोऽस्मात् स्थानाद् गत्वा देव्यै किं निवेदयामि । मयाऽस्मिन् विषये देवी प्रति किं वक्तव्यमिति मवान् निर्दिशतु । अत्र रहस्य

दुर्गरूपेणोक्तम् । यथा दुर्गेप्रतिष्ठाठिन्येन प्रवेशो भवति तथा रहस्यमपि कष्टे-
 नैवोद्घाटनीयं भवतीत्यभिप्राय । विदू०—निपुणिके ! मम बचनेन काशिराज-
 दुहितरं देवीं निषेदय—अहं वयस्यमेतस्या उर्वशीप्रणयस्त्राया मृगतृष्णि-
 काया मृगमरीचिवनिष्पाया निवर्तयितुं व्यावर्तयितुं परिभ्रान्तोऽस्मि । उर्वशी-
 प्रणयं प्रति तन्मनसि विरक्तिं जनयितुमहं दृढं प्रयत्नं कृतवान् परं न साफल्य-
 मुत्पद्यते । साम्प्रतमेक एवोपायोऽवशिष्यते तन्न भवत्या साक्षात्कार ।
 यदि स भवत्या मुल्लसन्नलं प्रेक्षिष्यते द्रक्ष्यति तदा तत्सौन्दर्याकृष्टं प्रत्यक्ष-
 दर्शनं सृष्ट्वा लज्जोना ततः विरतो भविष्यति । इयं विदूषणस्य
 यादृच्छि । निपु०—यदार्यं आशास्यति तदेव देव्यै निषेदयिष्ये । इति राज्ञाद्
 बर्हिगता । अयं चैटी विदूषण-वार्तालाप प्रशशास्य षीष्यज्ञं उपस्थापयति ।
 तदुक्तं—‘मियागस्यसद्भूतं प्रशब्दो हास्य कृत्यत’ इति । अत्र देवी उर्वशी
 नाम्ना आलक्षितेति सर्वमसद्भूतमेव । नेपथ्ये—अन्तर्गण रचना गृहात्
 वैतालिक समवयुज्ज्वल पठति । ‘वैतालिका बोधवरा ’ इत्यमर । विधिधेन
 तालेन शब्देन चरन्तीति वैतालिका । ‘चरतेऽण्’ इतिश्लेषेण टच् प्रत्यय ।
 अद्यतु अद्यतु देव सर्वत्र विषया भवतु महापुत्र—आलोचान्नादिनि—
 आलोचान्नात् लाचानान्त इति लोचान्त तं समस्तं अगद् वावद्

दिनमष्टभागेषु विभक्तः भवति । तत्र राश्या "पठे स्वैरविहारो मन्त्रो वा सेव्यः" इति चाणक्यादयो नीतिशास्त्रकृतः । तत्र "दिवसस्याष्टमं भागं मुक्त्वा भागत्रयं तु यत्—स कालो व्यवहाराय शास्त्रदृष्टः परः स्मृतः" इति बरदराजीय राजधर्मानुसारेण प्रथमकालेऽग्निहोत्रादि विधिः तदनन्तरं च भागत्रये व्यवहार-कार्याणि सम्पादनीयानि । ततश्च स्नान-भोजनादिकं स्वैरविहार-श्चान्तपुरे । एवमेव सूर्यस्यापि उदयादारभ्य मध्याह्न-काल पर्यन्तं सततं गति-स्ततः कतिपय क्षणानि यावद् विरामस्ततः पुनरवतरणमिति ज्योतिः शास्त्रिणो मन्यन्ते ।

अत्र श्लेषालङ्कारो मन्दाक्रान्ता च वृत्तम् । तल्लक्षणं तु "मन्दाक्रान्ता जलधि पङ्क्तैर्मां नती तान् गुरु चेत्" इति वृत्तरत्नाकरे । १।

विदू०—अर्थं दत्त्वा श्रुत्वा—एषः प्रियवयस्यो राजा धर्मासनाद् उत्थितः व्यवहारकार्याणि समाप्य इत एवागच्छति । तथावद् अस्य पार्श्वपरिवर्ती समीपस्थो भवामि ।

एतदुक्त्वा विदूषको गतः ।

प्रवेशकः—विदूषक-प्रवेशादारभ्य पार्श्वपरिवर्ती भवामीतिपर्यन्तः सन्दर्भः प्रवेशक इत्याख्यायते । प्रवेशयति द्वितीयाङ्के इति प्रवेशकः । सः आर्थोपक्षेप-वैषम्यन्तमः । तयोक्तम्—

द्विधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।

सूच्यमेव भवेत् किञ्चित् दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥

अर्थोपक्षेपैः सूच्यं पञ्चमिः प्रतिपादयेत् ।

विष्कम्भ-चूलाङ्कास्याङ्कावतार-प्रवेशकैः ॥

तत्राधमपात्रेण पात्राम्भ्यां वा प्राकृतभाषिभ्यां सूच्यस्य कथावस्तुनः सूचनं प्रवेशकः । तदुक्तं धनिकेन—

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।

अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥

तद्वदेवेत्यनेन विष्कम्भलक्षणोक्तं भूतमविष्यदर्शज्ञापकत्वं संचिन्तार्थत्वं चात्रातिदिश्यते । अङ्कद्वयान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः ।

अनुवाद—चेटी—(मन में) स्वामी के रहस्यरूपी दुर्ग को (तो) मने तोड़ दिया । अब जाकर देवी को यह (बात) बतलाऊँ । (जाती है)

विदू०—निपुणिके ! मेरी ओर से काशिराज की पुत्री को बतला देना कि मैं वयस्य को इस मृगतृष्णा से वापिस लौटाने (के प्रयत्न) में थक चुका हूँ । यदि आपका मुख कमल देखेंगे तो निवृत्त हो जायेंगे ।

चेटी—जो आपकी आज्ञा (चली जाती है) ।

(नेपथ्य में वैतालिक गाता है)

देवी जय हो, जय हो—

हमारी समझ में आपका और सूर्य का कार्य एक ही जैसा है । सूर्य सप्ताह के छोर तक तमोवृत्ति (अन्धकार के प्रसार) का नाश करता है और आप भी सप्ताह के छोर तक प्रजाओं की तमोवृत्ति (तामसिक दुराचरण) का नाश करते हैं । प्रकाश का स्वामी सूर्य क्षणभर के लिए (मध्याह्न काल में) आकाश के बीच में रुकता है और आप भी दिन के छोटे भाग में विश्राम पाते हैं । २।

विदू०—(कान लगाकर) धर्मासन से उठकर प्रिय वयस्य इधर ही आ रहे हैं । तो उनके पास पहुँचूँ । (जाता है)

प्रवेशक समाप्त ।

टिप्पणी.—मृगतृष्णिका—मरुभूमि में प्यास का मारा मृग पानी के लिए इधर-उधर घूमता है । वह सामने बालू पर पड़ती तेज धूप से उठती हुई चमक को पानी समझ कर उसकी ओर दौड़ता है किन्तु ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, चमक दूर हटती जाती है और मृग उसके पीछे दौड़ता-दौड़ता तड़प कर मर जाता है । इसे ही मृगतृष्णा कहते हैं । मिथ्या आकर्षक वस्तु के लिये लाक्षणिक रूप में इसका प्रयोग होता है । नियर्तयितुम्—नि+इत् धातु+णिच्+(प्रेरणार्थक) प्रत्यय+तुम् । लौटा लाने के लिए । वैतालिक—राजमयनों में गीतादि के द्वारा समय की सूचना देने वाला—स्तुतिपाठक । विविधेन तालेन चरति । 'चरतेष्टक्' सूत्र से ठक् प्रत्यय । प्रतिहततमोवृत्ति

—प्रतिहता तमसो वृत्तिः येन । अन्धकार तथा तमोगुणो बातो, क्लह, स्वार्थ आदि को नष्ट करने वाला । छन्दवर्ती—छन्देन इच्छया वर्तते इति । इच्छानुकूल कार्य करने वाला । पष्ठे भागे—शास्त्रविधि के अनुसार राजा को चाहिए कि वह दिन को आठ भागों में बाँटकर प्रथम शौच, अग्निहोत्र आदि करे । फिर व्यवहार समा में प्रवेश करे । फिर स्नान भोजन, फिर अन्तःपुर में विहार करे । फिर राज्य कार्य देखे । पष्ठ भाग में स्वेन्द्राविहार कर सकता है । छन्द—इस श्लोक में मन्दाक्रान्ता छन्द है । इसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है ।

(ततः प्रविशति उत्कण्ठितो राजा विदूषकश्च)

मूलपाठ :—

राजा—आदर्शनात् प्रविष्टा सा मे सुरलोक-सुन्दरो हृदयम् ।

वाणेन मकरकेतोः वृत्तमार्गमवन्ध्यपातेन ॥२॥

विदू०—सपीडा तु जादा तत्तभोदी काशिरात्र दुहिदा । [सपीडा सलु जात तत्रभवती काशिराजदुहिता ।]

राजा—(निरीक्ष्य) रक्ष्यते भवता रहस्यनिक्षेपः ?

विदू०—(सत्रिपादमात्मगतम्) वञ्चिदोमिह दासीए निउणिआए अएणवा कथ एत्थं पुञ्ज्झदि वअस्सो । [वञ्चितोऽस्मि दास्या निपु-
णिकया । अन्यथा कथमेव पृच्छति वयस्यः ।]

राजा—(साशङ्कम्) किं भवांस्तूप्लीमास्ते ?

विदू०—भो ! एत्थं मए जीहा संजन्तिदा जेण भवदो पि एत्थि पडिवअणम् । [भो, एवं मया जिह्वा संशन्त्रिता येन भवतोऽपि नास्ति प्रतिवचनम् ।]

राजा—युक्तम् । अथ केदानीमात्मानं निनोदयामि ?

विदू०—भो ! महाएस गच्छग्घ । [भो ! महानसं गच्छाव ।]

राजा—किं तत्र ?

विदू०—तर्हि पञ्चविहसस अम्भयहारसस उवणद-मभारम्म जोअथय
पेखरमाणेहि सक्क उक्कण्ठां विणोदेदुम् । [तत्र पञ्चविधम्याभ्यगहारस्य
उपनतसम्भारस्य योजनां प्रेङ्गमाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठां विनोदयितुम् ।]

व्याख्या :—तत इति—ततः प्रवेशकानन्तरुर्वशीविषये उत्कण्ठितो राजा
विदूषकेण सह रङ्गभुषणवतरति ।

राजेति—दर्शनाद् आ दर्शनकालादारभ्य सा सुरलोकमुन्दरी देवाङ्गना
मे हृदयं प्रविष्टा । देवाङ्गनाप्रवेशस्य अवकाशसापेक्षत्वाद् हृदयस्य च निरव-
काशत्वात् कथं तत्र प्रवेश इति शङ्का निरश्चित्तुमुत्प्रेक्षते—मकरः मीनः केतौ-
श्वजे यस्य स तस्य कामस्य अन्नन्वपातेन न बन्ध्यः विफलः पातः पतनं यस्य
तादृशेन अमोघेन वायेन कृतः मार्गः अवकाशः यत्र तत् कृतमार्गम् इव ।
तस्याः हृदये प्रवेशार्थं कामेन द्वारमिव कृतम् । यतः प्रभृति तस्याः दर्शनं
जातं ततः प्रभृत्वेव कामेन कृतविले मे हृदये सा प्रविष्टा । अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ।
आर्याशृत्तम् । २।

विदू०—भवतः उर्वशी-विषयिण्या प्रीत्या तत्रभवती काशिराजपुत्री सपीडा
पीडिता जाता ।

राजा—निरीक्ष्य सविस्मय विदूषकं प्रति विलोक्य किं भवता विदूषकेण
रहस्यमेव निक्षेपः उर्वशीप्रणयरूप रहस्य न्यासरूपेण भवति निहितं रक्ष्यते
गोप्यते ! समोर्वश्या प्रीतिः स्वया प्रकाशिता न वा ?

विदू०—आत्मगतम्—रहस्यमुद्घाटितमिति विचिन्त्य विषयणमुद्रया
स्वमनसि—निपुणिकया दास्या बञ्चितः प्रतारितोऽहम् । तयोक्तं यद् राशा
देव्याः समक्षमुर्वश्याः नाम गृहीतम् ! यद्येवं स्यान्नासौ मा रहस्यं पृच्छेत् ।
तेन स्पष्टमेवाह दास्या प्रतारितः ।

राजा—विदूषक-मुद्रादृष्ट्वा रहस्य-रक्षण-विषये संशयापन्न सन् राजा पृच्छति-
भवान् केन कारणेन नीत्तरं ददाति ।

विदू०—मया एव जिह्वा सयन्त्रिता रहस्यप्रकटनविषये विरुद्धा येन
भवतेऽपि रहस्यविषयके प्रश्ने प्रतिवचनमुत्तरं न दीयते । विदूषकश्चातुर्येण
निजापराधं गोपयत्यत्र ।

राजा—युक्तमुचितमेव रहस्यरक्षणम् । अथ केनोपायेन उर्वर्यमावे
तिन्न मनो विनोदयामि ।

विदू०—भोः महानस पाकशाला गच्छावः । एतेन विदूषकस्य मनो-
विनोदकारण भोजनमेवेति सूचितम् ।

राजा—किं तत्र ? तत्र मनोविनोदनाय कानि साधनानि विद्यन्ते ?

विदू०—तत्र महानसे पञ्चविधस्य लेख-चोय-पेय-भक्ष्य-मोक्ष्यमेदेन
पञ्चप्रकारकस्य उपनतसभारस्य उपनतः आनीय प्रस्तुतीकृतः सभारः सामग्री
साधनानि वा यस्य तादृशस्य अम्यवहारस्य अशनीयस्य योजना विधान प्रेक्षमा-
णाम्या उत्कण्ठा विनोदयितुं शक्यम् । महानसे पचनाय प्रस्तुता बहुविधसामग्री
पाकक्रिया च बहुरूपाववेक्ष्य मनोविनोदयितुं शक्यम् ।

‘उत्कण्ठा विनोदयितुं शक्यमिति’ प्रयोगो चिन्त्यः । तत्स्थाने च ‘उत्कण्ठा
विनोदयितुं शक्या’ इति प्रयोगेण भाव्यम् । तथापि पतञ्जलेरारम्यार्वाचीनग्रन्थ-
पर्यन्तमेतादृशः प्रयोगोऽनेकधा दृश्यते रुद्रश्च जातो यथा ‘शक्य यानेन श्वमास्त-
दिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्’ महाभाष्य आ० १ । तथाचोक्त वामनेन काव्यालङ्कार-
सूत्रवृत्तौ (५-२) शक्यमिति रूप विधिलिङ्गवचनस्यापि कर्माभिधायामान्यो-
पक्रमात् इति । कालिदासेन कुमारसभवे (८-६२), शाकुन्तले (३-६) चापि
एतादृश एव प्रयोगः कृतः ।

अनुवादः—

(उत्कण्ठित राजा और विदूषक आता है)

राजा—जब से उस मुरलोक की सुन्दरी को देखा है तभी से वह मेरे
हृदय में प्रवेश कर गयी है । मानो कामदेव के कभी व्यर्थ न जाने वाले बाण
ने (उसके प्रवेश के लिये मेरे हृदय में) रास्ता बना दिया हो । २।

विदू०—श्रीमती काशिराज-पुत्री अवश्य ही पीड़ित हो रही हैं ।

राजा—(ध्यान से देखकर) आपके पास रखा हुआ रहस्य तो मुरच्छित है !

विदू०—(दुःख के साथ मन में) दासी निपुणिका ने घोखा दिया है, नहीं
तो वयस्य इस प्रकार कैसे पृथ्वा रहे हैं !

राजा—आप चुन क्यों हैं !

विदू०—अरे ! मैंने इस प्रकार जिद्दा को बाँध दिया है कि आप को भी
उत्तर नहीं (मिलेगा) ।

राजा—ठीक है । अब किस से अपना मन बहलाऊँ ?

विदू०—रसोईघर चलो ।

राजा—वहाँ क्या है ?

विदू०—वहाँ तैयार की जाती हुई पाँच प्रकार की रसोई की योजना की देखकर हम दोनों उत्कण्ठा (मानसिक चिन्ता) को शान्त कर सकते हैं ।

टिप्पणी :—अवन्व्यपातेन—न वन्व्यः पातो यस्य सः अवन्व्यपातः तेन । रहस्यनिक्षेपः—रहस्यमेव निक्षेपः इति रहस्यनिक्षेपः । पञ्चविधाम्यवहार—मद्य, भोज्य, चोष्य, लेख्य और पानीय । पाँच प्रकार का भोजन । अभिसंहति—अभि+सम्+घा धातु+क्त प्रत्यय ।

मूलपाठ :—राजा—(सस्मितम्) तत्रेप्सित-सन्निधानाद् भवान् रस्यते । मया खलु दुर्लभ-प्रार्थनः कथमात्मा विनोदयितव्यः ?

विदू०—न भवं वि तत्तभोदीए उव्यसीए दसणपह गदो । [ननु भवानपि तत्रभवत्या उर्वश्याः दर्शनपथ गतः ।]

राजा—तत किम् ?

विदू०—ए खु वे दुल्लह चि तक्वेमि । [न खलु ते दुर्लभेति तर्कयामि ।]

राजा—पक्षपातोऽपि तस्यो सद्व्यपस्यालौकिक एव ।

विदू०—एत्तिअ गन्त अन्तेण भवदा वद्धिद मे कोदूहल । कि तत्तभोदी उव्यसी अदुदिआ रुवेण अह विअ विरुवदाए ! [एतावन्मन्त्रय-माखेन भवता वर्धित मे वीतूहलम् । कि तत्रभवती उर्वशी अद्वितीया रूपेण अदमिव विरूपतया ?]

राजा—माण्यक ! प्रत्यवयमशक्यवर्णनां तामवेहि । तेनहि समा-मत श्रूयताम् ।

विदू०—अरहिदो भिह । [अरहितोऽस्मि ।]

राजा—आभरणस्याभरण प्रसाधनविधेः प्रसाधन-प्रशेषः ।

उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमान धपुस्तस्याः ॥३॥

विदू०—अदो दाव तुए दिव्य-रसाहिलासिणा चाद्भवद् गहिद् ।
ता दाव तुम कहि पत्थिदो ? [अतस्तावत्त्वया दिव्यरसाभिलाषिणा
चातकप्रत गृहीतम् । तत्तावत्त्व कुत्र प्रस्थित ?]

राजा—विविक्ताद् ऋते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्मि । तद् भवान्
प्रमद-यन-मागमादेशयतु ।

विदू०—(आत्मगतम्) का गई (प्रकाशम्) इदो इदो भव । [का
गतिः (प्रकाशम्) इत इतो भवान्]

(इति परिक्रामत)

व्याख्या—राजा—तत्र ईप्सितस्य मनोऽनुकूलस्य मोजनस्य सन्निधानात्
सामीप्याद् भवान् रस्यते आनन्दमनुभविष्यति परमह तु दुर्लभं प्रार्थनं दुर्लभा
प्रार्थना याचित वस्तु यस्य स तादृशं कथमात्मानं विनोदयिष्यामि ?

विदू०—ननु भवानपि तत्र भवत्या उर्वश्या दर्शनपथं दृष्टिविषयता
गतं प्राप्तं । यदि सा भवन्तमेकवारमपि दृष्टवती तदाऽवश्यं साऽपि त्वा
प्रत्येवमेवोत्कण्ठिता भविष्यति । तेन च सङ्गमोऽवश्यंभावी ।

राजा—को लाभस्तस्या मद्दर्शनेन ?

विदू०—यदि तथा त्वं दृष्टस्तदा न सा ते दुर्लभा भविष्यति । अवश्यमेव
वैकवारं दर्शनेन साऽपि त्वा प्रति समाकृष्टा सङ्गमोपायं चिन्तयिष्यति ।

राजा—तद्रूपस्य सौन्दर्यस्य तस्यामलौकिकं विलक्षणं एव पक्षपात
श्रात्मीयत्वेन स्थितिः । साऽलौकिक-सौन्दर्य-शालिनीत्यर्थः ।

विदू०—एव पूर्वोक्तरीत्या तस्या सौन्दर्यं वर्णयता तथा मे कौतूहलं
वर्धितम् । किं सा रूपेण तथाऽद्वितीया अनुपमा यथाऽहं विरूपतया कुरूपत्वेन
अद्वितीयोऽस्मि ।

राजा—माण्यक ! अवयव अवयव प्रतीतिः प्रत्यवयव प्रत्यङ्गम् अयस्य
वर्णनं यस्या तादृशीं तामवेहि जानीहि । तस्या अङ्गानि सर्वाण्यपि विलक्षणं
सौन्दर्यवन्ति । परं तेषां सर्वेषां वर्णनं कर्तुं दुष्करम् । अतः समासतः सत्पेयं
वर्णनं क्रियते । तच्च श्रूयताम् ।

विदू०—अवहितं सावधानोऽस्मि वर्णयताम् ।

आभरणस्येति—तस्या उर्वश्याः वपुः शरीरमाभरणस्य कटक-कुण्डला-
चलङ्काराणामपि आभरण भूषणम् । नहि आभरणैस्तस्याः शरीरस्य शोभा
वर्धते प्रत्युत तच्छरीरस्य संपर्कमवाप्य आभूषणानि शोभाविशेषं पुष्पन्ति ।
प्रसाधनस्य लेपाञ्जनादेः विधिः क्रियेति प्रसाधनविधिस्तस्य प्रतिवर्मणः प्रसाधन-
विशेषः समधिककान्तिप्रदम् । नहि तस्याः शरीरं लेपाञ्जनाऽम्पङ्गादिना
वर्धित कान्तिं भवति, अपितु तच्छरीरं ससर्गं लब्ध्वा एतानि प्रसाधनानि
अनुपमशोभामयानि जायन्ते । तथैव तस्याः वपुः चन्द्र-वमल-राञ्जनाद् वस्तु-
जातस्य उपमानरूपेण प्रसिद्धस्योपमानमस्ति ननु उपमेयम् । तच्छरीरमुप-
मानपदार्थेभ्योऽप्यतिशयकान्तिमद् वर्तते । तेनैतेषां चन्द्रादीनां वर्णने उपमी-
शरीरमुपमानत्वेन स्थाप्यते । प्रसाध्यतेऽनेन इति प्रसाधनम् । “प्रतिवर्म
प्रसाधनमित्यमरः ।” उपमीयतेऽनेन इत्युपमानम् । अत्र नायिकायाः दीप्ति-
नामायतनजोभावः । तदुक्तं दशरूपे—“दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।” उपमाना-
दपि च वपुषः आधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः । “उपमानाद्यदन्यस्य
व्यतिरेकः स एव सः” इति लक्षणात् । आर्यच्छन्दः । ३।

विदू०—अत उर्वश्या निरतिशय-शोभा-शालित्वात् दिव्यरसाभिलाषिणा
दिवि भवो दिव्यः अपाभिवोऽलौकिको यो रसः प्रेमानन्दः जल वा, तममि-
लधतीति दिव्यरसाभिलाषी तेन त्वया चातकस्य व्रतं नियमः गृहीतम् । यथा
दिव्यजलाभिलाषी चातकः स्वातिनक्षत्रे वर्षिता जल भूमौ पतनात् पूर्वमेव चञ्च्या
गृहीत्वा पिबति, न भू-पतितम् । तदभावे च तृपार्त एव क्रन्दन् तिष्ठति
तद्वत् त्वयाऽपि दिव्याङ्गना प्रेमव्रतं गृहीतम् । नहि मर्त्याणां वस्यामपि ते
स्नेहबन्धः । तदप्राप्तौ च त्वं आर्तं इव विलपस्तिष्ठसि । उक्तञ्च म हलनामेन
रघुवंश व्याख्यायाम् (५-२७) “धरणीपतितं तोयं चातकानां रुजाकरम् ।”
“दिव्य रसा” इत्यत्र श्लेषः । तत् तावत् साम्प्रतं त्वं कुत्र प्रस्थितः ।

राजा—नहि विविक्तादेकान्तप्रदेशाद् श्रुते उत्सुकस्य स्नेहानुप-धविष्ये
उत्कण्ठितस्य जनस्यान्यत् शरणमाश्रयोऽस्ति । तद् भवान् प्रमदवनस्य प्रासाद-
उद्भिहितोपवनस्य मार्गम् आदेशयतु दर्शयतु । राजभवनसन्निहितं मनोविनोद-
कारकमुपवनं प्रमदवनं वक्ष्यते । तदुक्तममरकोषे “स्यादेतदेव प्रमदवन-
पुरोचितम् ।”

विदू०—का (आत्मगतम्) गतिर्नोपायान्तर विद्यत इत्यर्थः । (प्रकाशम्) इत इतोभवान् अनेन मार्गोणागच्छतु । (इति परिक्रामतः गच्छतः)

अनुवाद :—राजा—यहाँ यथेच्छ वस्तुओं के सामीप्य से आपका मन सहल जायगा किन्तु मैं दुर्लभ वस्तु को चाहने वाला हूँ । मैं स्वयं को कैसे सहलाऊँगा ?

विदू०—क्या आप भी श्रीमती उर्वशी की नजर के सामने पड़े हैं ?

राजा—इससे क्या ?

विदू०—(तो) मैं समझता हूँ कि वह तुम्हारे लिये दुर्लभ नहीं है ।

राजा—सौन्दर्य का भी भुक्ताव उसके प्रति विलक्षण ही है ।

विदू०—(उर्वशी के विषय में) इस प्रकार चर्चा करके आपने मेरा कीर्तु-हल बढ़ा दिया है । क्या श्रीमती उर्वशी रूप में उसी प्रकार अद्वितीय हैं जैसे कुरूपता में मैं !

राजा—माण्यक ! यह समझो कि उसके प्रत्येक अङ्ग का वर्णन करना समभव नहीं है । इसलिए सक्षेप में सुनो ।

विदू०—मैं (सुनने के लिए) एकाम्बिच्छ हूँ ।

राजा—हे मित्र ! उसका शरीर आभूषण का भी आभूषण है और प्रसाधन क्रिया (साज सज्जा) की भी शोभा बढ़ाने वाला है । वह उपमान (के रूप में प्रसिद्ध) भूत वस्तु का भी उपमान है ।

विदू०—इसीलिए दिव्य रस चखने की अभिलाषा से तुमने यह चातक का मत ग्रहण किया है । तो आप जा कहाँ रहे हैं ?

राजा—उत्सुक व्यक्ति के लिए एकान्त को छोड़कर और सहारा नहीं होता । इसलिए आप प्रमदवन का मार्ग दिखलाइये ।

विदू०—(मन में) और चारा ही क्या है ? (प्रकट) इग श्री/ गं, आप इत और से चलिए ।

जिसका अर्थ है जाने की इच्छा करना । ईश+क्त=ईक्षित । रंस्यते—
 आत्मनेपदी रम् (क्रीडार्थक) घातु का लृट् लकार का अन्य पुरुष एकवचन
 का रूप । प्रत्ययवयवम्—अयवम् अयव प्रति इति प्रत्ययवयवम् । अव्ययी-
 माव समास । अत्रङ्कार—तृतीय श्लोक में उपमेय उर्ध्वी को उपमानों से
 भी बढ़ाकर बतलाया है । अतः यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है । काव्यप्रकाश में
 कहा है—“उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।” दिव्यरसाभिला-
 पिणा—इस शब्द में श्लेष है—(१) दिव्य अप्सरा के प्रेम रस की अभिलाषा
 करने वाला (२) दिव्य अर्थात् आकाश से गिरने वाले जल की कामना करने
 वाला । चातकनतम्—चातक एक छोट्टा-सा पक्षी है जो घरती पर गिरा
 हुआ जल नहीं पीता । प्यास लगने पर आकाश की ओर देखकर करुण स्वर
 में चिल्लाया करता है । कहा है “घरतीपतित तोय चातकाना रुजावरम् ।”

मूलपाठ —विदू०—एसो प्रमदवण परिसरो । आणमिय पत्तुदु-
 गदो भव आअन्तुओ दक्षिण मारुदेण । [एण प्रमदवन परिसर ।
 आनम्य प्रत्युद्गतो भवानागन्तुको दक्षिणमारुतेन ।]

राजा—(विलोक्य) उपपन्नं विशेषणमस्य वायो । अय हि—

निषिञ्चन् माधवीं लक्ष्मीं लतां कीन्दी च लामयन् ।

स्नेह-दाक्षिण्ययोर्योगात् कामीय प्रतिभाति मे ॥४॥

विद०—सरिसो एव से अहि एवेसो (इति परिक्रामन्) एद
 प्रमदवण दुवार । पविसदु भव । [एतत्प्रमदवन-द्वारम् । प्रशिरतु
 भवान् ।]

राजा—वयस्य प्रविशाप्रत । (उभी प्रवेश नायटत ।)

राजा—(त्रास रूपयित्वा) वयस्य ! साधु मनसा समर्थित आप-
 स्प्रतीकार किल ममोद्यान-प्रवेशः । तच्चान्यथैधोपपन्नम् ।

विद्यत्तोर्यदिद् नूनमुद्यान नाद्यशान्तये ।

सौतसेवोह्यमानस्य प्रतीप-त्तरण महत् ॥५॥

व्याख्या :—विदू०—एण प्रमदवनस्य परिसरः समीपस्था भूमिः ।
 “तम् परिसरः” इत्यमरः । आगन्तुकोऽतिथिर्भवान् दक्षिणः दक्षिण-

प्रदेशादागतो वायुस्तेन आनम्य प्रणतेन भूत्वा प्रयुग्गतः सादर गृहीतः ।
 “आगन्तुरतिथिर्ना गृह्यागत” इत्यमरः । दक्षिणानिलः प्रणतोभूत्वा अतिथेर्मवतः
 प्रत्युद्गम्य स्वागत करोति । अतिथौ गृहमागते गृह्यति. कानिचित्पदानि अग्रे
 गत्वा स्वागत करोतीति नियमः । तच्चाग्रे गत्वा सम्मान-प्रदर्शनं प्रत्युद्गमन-
 मिति कथ्यते । प्रति + ठद् + गम् + क्तः = प्रत्युद्गतः ।

राजा—(विलोक्य) वायुगतिं निरूप्य—अस्य वायोरिदं दक्षिण इति विशे-
 षणमुपपन्नम् युक्तम् । अयं वायुर्हि मघोर्वसन्तस्येय माधवी वासन्ती ता लक्ष्मी
 शोभा निषिञ्चन् पुष्पन् तथा कुन्दस्येय कौन्दी ताम् लता लासयन् नतयन्
 स्नेहश्च दाक्षिण्ये चेति स्नेह-दाक्षिण्ये तयोर्योगात् सद्भावात् कामी प्रणयीय
 मे प्रतिभाति दृश्यते । यथा कश्चित् कानुक एका नायिका निषिञ्चति गर्मा-
 धानवती करोति अन्या ज्येष्ठा प्रति च केवल दाक्षिण्येन व्यवहृति तथैव
 वायु वासन्ती लता स्नेहेन विवर्षयति कौन्दी च दाक्षिण्येन केवल नतयति ।
 निषिञ्चन् माधवामेतमिति पाठे एता माधवी लता निषिञ्चन् प्रसयाधानवतीम्
 अति मधुसपत्ना या कुर्वन् । कौन्दी च माधवी लता—“माध्य कुन्दमि-
 त्यमरत् ।” दाक्षिण्ये च “चेष्टया वाचा परच्छन्दानुवर्तनम्” इति साहित्य-
 दर्पणे ।।।

प्रिदू०—अस्य वायोऽमिनिवेशः. प्रतावाग्रहः सद्यः योग्य एव । परि-
 क्रामन् राजान प्रति—इदं प्रमदवनम् । प्रविशतु ममान् ।

राजा—वयस्य मित्र, अप्रतः प्रथमं त्वं प्रविश । नाटयत. उभावपि
 प्रमदवनं प्रवेश ।

राजा—शश भयं रूपयित्वा प्रदर्श्य—वयस्य मम मनसा उद्याने प्रवेशः
 आनन्दः प्रतीकारः सेदनिराकरणहेतुर्भविष्यतीति साधु समर्थित. किल । तच्च
 अन्यथैव तद्विरुद्धः दुःखकारणं भूतमेव उन्नतम् सिद्धम् ।

मित्रचोरित—यद् यस्मात् कारणाद् निवृत्तो. प्रवेष्टुमिच्छेर्मम इदं उद्यानं
 अहस्य पीडायाः शान्तये निराकराय न । इदं मा शान्तवित्तु न शक्नोति ।
 तत् श्लेषा प्लवप्रवाहस्य नीयमानस्योद्दमानस्य नहत् प्रतीतरणं विच्छ-
 दिशाया प्लवनमिव क्लेशावहन् । यथा प्लवप्रवाहं विच्छ-तरणं क्लेशावैव
 न तु क्लेशशान्तये तद्वत् ममोत्वनप्रवेशः पीडाया न तु श्चेद शान्तये ।

अथशब्दो दु खवाची “अथ दुःखे व्यसनैःसोरिति हैम. ।” विवक्षोरिति विशघातो सन्नन्ताद् उ. प्रत्यय । अनुपुच्छन्दः ।

अनुवाद :—विदू०—यह प्रमद वन का परिसर (समीप की भूमि) है । अतिथि रूप में आये हुए आपका प्रणत दक्षिण वायु ने आगे होकर स्वागत किया है ।

राजा—इस वायु का ‘दक्षिण’ यह विशेषण उचित है । क्योंकि यह चासन्ती लता को शोभा प्रदान करता और कुन्द लता को नचाता हुआ, स्नेह और दाक्षिण्य दोनों से युक्त होने के कारण दक्षिण कामी सा प्रतीत हो रहा है । अर्थात् जिस प्रकार कामी कनिष्ठा नायिका से प्रीति जोड़ता और व्येष्टा की भावना का ध्यान भी रखता है वैसे ही दाक्षिण्य वायु चासन्ती लक्ष्मी में निषेध करता और कौन्दी को नचाता है । १।

विदू०—इसका यह प्रेमाग्रह इसके अनुकूल ही है । (उहलता हुआ) यह प्रमदवन है । आप भीतर चलिये ।

राजा—मित्र ! तुम पहले चलो ।

(दोनों प्रवेश का अभिनय करते हैं)

राजा—(भय प्रदर्शित करके) मित्र ! मैंने मन में समझा था कि उद्यान में आने से पीड़ा का निराकरण होगा । सो यह उलटा ही हो गया । क्योंकि जैसे नदी भी घारा द्वारा बहाकर ले जाये जाते हुए व्यक्त का घारा के विरुद्ध तीरना उसके वषट् को शान्त नहीं करता वैसे ही सच्चमुज मेरा यह उद्यानप्रवेश पीड़ा को दूर करने का कारण नहीं है । २।

टिप्पणी .—प्रमदवनम्—राजभवन से सम्बद्ध उद्यान जिनमें भवन की छियाँ बिना दूसरों के देखे स्त्रच्छन्द विहार कर सकें । सामान्यतः राजभवनों से सटा हुआ प्रमदवन होता था । “क्यादेतत्प्रमदवनमन्त पुरोचितम् ।” प्रत्युद्गतः—प्रति + उद् + गम् धातु + च प्रत्यय । दक्षिण—इय शब्द के दो अर्थ हैं—दक्षिण दिशा से आने वाला वायु और छोटी तथा बड़ी नायिकाओं को एक समान प्रसन्न रखने वाला व्यवहारकुशल नायक । दक्षिण नायक के व्यवहार को दाक्षिण्य कहते हैं । “दाक्षिण्यं वेष्टया वाच परलुब्धात्-वर्तनम् ।” छा० दर्पण । निषिञ्चन—अति मधुपुक्त बनाता हुआ तथा गर्भापायुक्त बनाता हुआ । यदि दक्षिण वायु को प्रेमी मानता है किवची

दो प्रेयसियाँ हैं । बड़ी बौन्दी या माघी लता है जो माघ और फाल्गुन में फूलती है । छोटी माघवी या वासन्ती है जो चैत-वैशाख में फूलती है । इछ दृष्टि से बौन्दी बड़ी और माघवी छोटी है । वासन्ती-वायु बड़ी को केवल बातों में बहला कर छोड़ देता है किन्तु छोटी को गर्भाधान द्वारा पुष्पित करता है । पुरुरवा की भी यही स्थिति है । श्लोक में दोनों और सकेत है । शाकुन्तल में इससे मिलता जुलता श्लोक है .—

अमिनत्रमधुलोलुपस्त्र तथा परिचुम्ब्य चूत मुञ्जरीम् ।
कमल-वसतिमात्र-निर्वृत्तो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥

प्रतीपम्—प्रतिगता आपो यस्मिन् कर्मणि यथा स्वात्तया प्रतीपम् = विरुद्धम् ।

मूलपाठ :—विदू०—कथं विद्म । [कथमिध]

राजा— इदमसुलभ-वस्तु-प्रार्थना-दुर्निवारं
प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति ।
स्मित मलय-वातोन्मूलिता पाण्डुपत्रै
रुपवन-सहकारैर्दशितेष्वङ्कुरेषु ॥६॥

विदू०—अलं । भवदो परिदेविदेण । अदूरेण इद्वसंपादइत्तथो
अणंगो एव्व दे सहाअो भविस्सदि । [अलं भवतः परिदेवितेन । अचि-
रेणइष्टसम्पादयिताऽनङ्ग एव ते सहायो भविष्यति ।]

राजा—प्रतिगृहीतं ब्राह्मण-वचनम् । (इति परिक्रामतः)

विदू०—पेख्वट्टु भवं वसन्तावदारसूइदं से अहि रामत्तणां पमद-
वणस्स । [प्रेक्षतां भवान् वसन्तावतार-सूचकमस्याभिरामत्वं प्रमद-
वनस्य ।]

राजा—ननु प्रतिपदमेव तावदवलोकयामि । अत्रहि—

अप्रे स्त्री नख-पाटलं कुरवकं श्यामं द्वयोर्भागयो-
र्यालाशोकमुपोड-राग-सुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।
ईपद्-वद्ध-रजः-कणाप्र-कपिशा चूते नवा मञ्जरी,
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सते मध्ये मधुश्रीः स्थिता ॥७॥

व्याख्या :—विदू०—कथमिव कथं भवान् एव मन्यते ?

राजा—पञ्च वाणाः यस्य स पञ्चबाणः कामः इदं मे नदीय असुलम-
वस्तु-प्रार्थनादुर्निवारम् असुलमे दुर्लभे वस्तुनि या प्रार्थना तस्याः दुर्निवार
निरोद्धु दुष्करं मनः प्रथमम् अतः पूर्वंगपि क्षिणोति क्लेशयति किमुत मलयवातेन
दक्षिणवायुना उन्मूलितानि आपाण्डूनि पीतानि पत्राणि येषां तैः उपवनस्य
सहकारैः आम्रवृक्षैः शङ्कुरेषु दर्शितेषु । मे मनो दुर्लभवस्तु प्रार्थयते, न च
ततो विरमति । अतः कामः सुतरामिदं क्लेशीकरोति । साम्प्रतं तु वसन्तकाले
मलयवातेन पीतेषु पक्षेषु आम्रवृक्षेषु पातितेषु नूतनेष्वङ्कुरेषु चोद्गच्छन्तु
मानस्याः पीडायाः कथं क्व का ? “आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽति शौरभः”
इत्यमरः । कामस्य पञ्चबाणास्तु “अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका-
नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ।” अन्ये तु “उन्मादनस्नापनश्च
शोषणं स्तम्भनस्तथा सम्मोहनश्च कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः ।”

अत्र विधानार्थं मुखसन्ध्यङ्गम् । तदुक्तं दशरूपके ‘विधानं सुखदुःख-
कृत्’ इति । मालिनीवृत्तम् । तल्लक्ष्यं तु “न न म यय युतेय मालिनी
भोगिलौकैः” । ६।

विदू०—अलं भवतः परिदेवितेन विलापेन । अचिरेण शीघ्रमेव इष्टस्य
अभीप्सितस्य वस्तुनः संपादयिता प्रदाता अनङ्गः काम एव ते सहायः
भविष्यति ।

राजा—प्रति गृहीतं स्वीकृतं मया तव ब्राह्मणस्य इष्ट-संगमरूपं वचनम् ।
(इति परिष्कामतः)

विदू०—प्रेङ्खता भवान् वसन्तस्य अवतारः आगमनं तस्य सूचकमभि-
शापकं अस्य प्रमदवनस्याभिरामत्वं प्रमदवनमधिकतरं शोभते साम्प्रतम् ।
तेनानुमीयते यत् वसन्त आगत इति ।

राजा—ननु पदे पदे इति प्रतिपदं स्थाने स्थानेऽरलोऽन्यामि । अत्र हि—
अप्रे स्त्रीति—अप्रे सुरतः प्रयत्नं स्त्रीणां नखानि तद्वत् पाटलमीषदूरकं कुरवकं
मेतन्नामकं पुष्पं (तिष्ठति) । कुरवकमीषदूरकम् । । तदुक्तं “तत्र शोथे कुरवकम्”
इत्यमरः । द्वयोः पार्श्वभागयोः श्यामं उपोदश्चासौ रागस्तेन सुभगं सुन्दरं
पालश्च तदशोरं सद्योमुकिलितमशोकपुष्पं मेदो-मुखं प्रस्फुटमोत्सुकं (तिष्ठति)

चूते श्रात्रे च नवा मञ्जरी ईषदल्प बद्ध सलर्नं यद् रजः पातुस्तस्य कृपा-
परागास्तैरग्रेऽग्रभागे कृपिशा श्यामरक्ता (दृश्यते) एवं मधुभीः वसन्तलक्ष्मीः
मुग्धत्वस्य यौवनस्य च मध्ये स्थिता ।

अत्र कृपिना विशेषण सामर्थ्यान्मधुश्रियः मुग्धत्वस्य यौवनस्य च मध्ये
स्थितिः कथिता । एतस्या मध्यावस्थाया नारीणां शरीर-कान्तौ विशेषो वाद्यते ।
नरत्वे प्रेमाऽप्यद्भुतिरितौ भवति रञ्जिताधिपत्य, रत्नयोगप्रमाणयोः रत्नमत्वा,
रजस आधिर्भावः कृपिना 'स्त्रंनख', 'मदोन्मुग', 'द्वयो-मागयोः रत्न',
'उपादे रामे', 'ईषद्वद्धरजः', इत्येतै. विशेषणैः साऽवस्था सूचिता । मतिदृष्ट-
गतविशेषणैर्मुग्धावस्था तृतीयाचपहृत्या यौवनमवर्णि कृपिना ।

स्त्रीनखराटलमित्यत्रोःमालङ्कारः । श्लोके च "स्त्रीनखराटलमित्यत्रोःमालङ्कारः ।
"स्वभावोत्तिदुर्लभस्व-क्रिया-रूप वर्णनम् ।" कुम्भवादे-दृष्टं-दृष्टं-दृष्टं-दृष्टं-दृष्टं-दृष्टं-
पुंल्लिङ्गे एव प्रयुज्येते तथापि पुष्पार्थेऽत्र नपुंसकम् . ३१

अनुवाद :—विद्र०—कैषे !

है। यह आम में नयी नयी मंजरी निकली है जो थोड़े-थोड़े पराग-पत्रों के लग जाने से आगे-आगे कपिश रङ्ग की दिखायी देती है। इस सत्र से ऐसा लगता है कि इस समय वसन्तश्री यौवन और सुगन्धता के बीच में स्थित है। ७]

टिप्पणी :—पञ्चबाण.—पञ्च बाणा. यस्य सः = कामदेव । काम के पाँच बाण हैं—अरविन्द, अशोक, आम्र, नवमल्लिना (जूही), नीलोत्पल। कुछ लोगों के मत से पाँच बाण हैं—उन्मादन, तापन, शोषण, स्तम्भन, और सम्मोहन। अमुलभः दुर्निवारम्—न मुलभमिति अमुलभम् । अमुलभ यद् वस्तु, तस्मिन् प्रार्थना, तस्या. दुर्निवारम् । मलयवातो पर्वतः—मलयस्य वातः इति मलयवातः । तेन उन्मूलितानि आपाण्डूनि पत्राणि येषां ते, तैः । मलय पर्वत दक्षिण भारत में है और चन्दन के वृक्षों के लिए प्रसिद्ध है। इसीलिए मलय वायु शीतल और सुगन्धित कही जाती है क्योंकि वह मलय पर्वत से बहकर आती है। अनङ्गः—कामदेव । शिव ने तृतीय नेत्र खोलकर काम को भस्म कर दिया था। “तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेष मदनं चकार” कुमारसम्भव । बाद में रति के अनुनय पर उसे पुनर्जीवन तो मिल गया किन्तु शरीर नहीं। इसीलिए उसे अनङ्ग (न अङ्ग-शरीर यस्य) कहते हैं। अलङ्कार—सातवें श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार है और शार्दूल विप्रीडित छन्द । इसमें कवि ने वसन्तश्री का वर्णन नारी के समान किया है।

मूलपाठ :—विदूषकः—एसो मणि-शिला पट्टय सणाहो अदिमुक्त लदा-मण्डवो भमर-सह-विहडिदेहि कुसुमेहिं किदोवचारो विअ अन्त-भवदो वट्टदि, ता अणुगगहीअदुदाव एमो । [एष मणि-शिला-पट्ट-सनाथोऽतिमुक्त लता-मण्डपो भ्रमर-सङ्घ-विघटितैः कुसुमैः कृतोपचार इवात्रभवतो वर्तते, तदनुगृह्यताम् तावदेवः ।]

राजा—यदभिरोचते भवते । (इत्युपविशतः)

विदू०—दाणिं इहासीणो ललिद-लदा-विलोहीधमाण-णअणो उव्वसीगदं उक्कएठ विणोदेहु भवं । [इदानीं मिहासीनो ललित-लता-विलोभ्यमान-नयन पर्वशीगतामुत्कण्ठं विनोदयतु भवान् ।]

राजा—(निःश्वस्य)

बह्व कुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रविटपामु ।

चक्षुर्बध्नाति घृति तदङ्गनालोकदुर्ललितम् ॥८॥

तदुपायश्चिन्त्यता यथा सफलप्रार्थनोर्हं भवेयम् ।

विदू०—(विहस्य) भो ! अहल्ला कामुअस्स इन्द्रस्य चन्द्र सचिवो;
उध्वसी पज्जुस्सुअस्स भवदो वि अहम् । दुवे वि एत्थ उम्मत्तजा । (भोः !
अहल्या कामुकस्येन्द्रस्य वज्रं सचिवः, उर्वशीपर्युत्सुकस्य भवतोऽप्यहम् ।
द्वादप्यत्रोन्मत्तो ।)

व्याख्या :—विदू०—एष मणिगिलाया. पट्टस्तेन सनाथः मणिशिलामया-
सनयुक्तः अतिमुक्तलतायाः मण्डपो वितानम् । अतिमुक्ता माघवी लता ।
मोगरा इति भाषायाम् । तदुक्तं ' अतिमुक्तः पुण्ड्रक' स्याद् वासन्ती माघवी
लता' इत्यमरः । "अस्मिन्नतिमुक्तलतामण्डपे भ्रमरमङ्गलै विषट्टितानि प्रच्याव्य
पातितानि कुसुमानि पूजोपचारद्वयमिव प्रतिभान्ति । अयं मण्डप एतैः
कुसुमैः सह भवन्तः प्रतीच्छति स्वागतार्थं प्रतीक्षते । (प्रति + इप्) । तद्भवानेत-
मनुग्रह्णातु ।

राजा—यद्भवते वयस्याय रोचते । "रुच्यमाना प्रीयमाणः" इति
चतुर्थी । (इति उपविशातः)

विदू०—इदानीम् इह आसीनो वासन्ती-लता-विताने विधाम्यन् ललितया
मनोहरया लतया विलोभ्यमाने हायंमाणे लोचते यस्वैवभूतः उर्वशीविषयिणी-
मुत्कण्ठा विनोदयतु भवान् । एताः लताः सौन्दर्येणावंशी किञ्चिदनुकुर्वन्ति ।
तेनैता. पश्यतो भवतः उर्वशीगता लालमा किञ्चिच्छान्ति गमिष्यति । शकुन्तले-
प्युक्तं कविना—'सखे ! क्वोपविष्टः प्रियायाः किञ्चिदनुकारिणीषु लतासु
दृष्टि विलोभयामि ।' (अङ्क ६)

राजा—सखे बहूनि कुसुमानि इति बहुकुसुमानि तानि सजातानि
यासु ता बहुकुसुमिताः तामु बहुपुष्पयुक्तासु अपि नम्रविटपामु नम्राः नता.
विटपा. क्षुद्रशाखा. यासा तासु उपवनलतासु सा चासी अङ्गना इति तदङ्गना
उर्वशी तस्या आलोकः दर्शनं तेन दुर्ललितदृष्ट, मे चक्षुः घृति न बध्नाति
स्विरता न गृह्णाति । तामु .मम चक्षुर्न सज्जते इत्यर्थः । दुर्ललित दुरग्रह-

प्ररतम् । दुष्ट ललित यस्य । अनेन नायिकाया अशौचिकरूपनालित्व व्याजने ।
अत्र मुमुक्षुमायाभरणस्वानीपाणि, विटपा धातुस्वानीयाः, लता चन्द्रपट्टिमा-
नीयाः । तस्मादासा लतानामुर्वशीरूपसादृश्ये विद्यमानेऽपि तथाविधमान्दर्मा-
भावात् प्रीत्यभाव इत्यभिप्रायः । अत्र अरनेविद्यमानत्वाद् विपुत नाम गण्ड-
मुक्त भवति । आर्या जातिः ।

तदुपापदिचन्त्यता यथा सफटा प्रायंता यस्य स सुकृतवामो भवेद्यम् । अत्र
प्रयत्नो नाम द्वितीयाऽवस्था सूचिता । तदुक्त दशरूपने—“प्रयत्नस्तु तदप्राप्ती
व्यापारोऽस्तित्वरान्वितः ।” विन्दुप्रयत्नवारव साम्यान् प्रतिमुष-गन्धिरित्यनु-
सन्धेयम् ॥८॥

विदू०—भा यथा अहल्याया गीतम-पल्या. वामुक्त्व इन्द्रस्य सचिव-
वंश ओपधीपतिः चन्द्र सचिवोऽभूत् तथा उर्वशीपुत्रस्तुवस्य उर्वशीप्राप्ति-
समुत्सुकस्य तव अहम् । द्वौ अपि चन्द्रः अह च उन्मत्तो विवेकरहितौ ।
यथाऽहल्यायाः वामुक्त्वेन्द्रस्य वामव्याधिर्न चन्द्रेण शमित प्रत्युत उद्दीपित एव
येन स ब्राह्मे मूहूर्ते मुनी स्नानार्थं गत तद्रूप परिगृह्याहल्या समगच्छन्
तद्वदहमपि तव व्याधिरूपशमस्य वमप्युपाय चिन्तयितुमक्षमः । चन्द्रस्तु स्वय-
मेवोन्मत्तो भूत्वा गुरुपत्नीमुपागच्छत् । यथा स इन्द्रस्य साचिव्ये परामर्श-
दानेऽयोभ्योऽभवत्तद्वदहमपि तव साहाय्यकरणे । यतोऽहमुन्मत्त एव जातस्त्वदीया-
मेता दशा निरीक्ष्य ।

यत्र च 'वञ्ज सचिव' इति पाठस्तत्र तु नार्थ-सङ्गतिर्वञ्जस्योन्मत्तत्वाभावात् ।
अनुवाद .—विदू०—यह अतिमुक्त लता का मण्डप है जिसमे स्फटिक
मणि की शिला का आसन भ्रमर-समूह द्वारा तोडकर गिराये हुए पुष्पो से
आपका स्वागतोपचार-सा कर रहा है । तो आदये इसी को उपकृत किया
जाय ।

राजा—जैसी आपकी इच्छा । (बैठते हैं)

विदू०—अब यहाँ बैठकर सुन्दर लताओं से अपने नेत्रों को तृप्त करते
हुए उर्वशी विषयक उत्कण्ठा को शान्त कीजिए ।

राजा—(लम्बी साँस छोडकर) उस देवागना को देखकर आँख कुछ
ऐसी विगड गयी है कि भुकी हुई डालियो वाली, खूब फूली-फूली लताओं को

देख कर भी शान्त नहीं होती। इसलिये कोई उपाय सोचिये जिससे मेरी प्रार्थना सफल हो ॥८॥

विदू०—जैसे अहिल्या से प्रेम करने वाले इन्द्र का सगहकार चन्द्र था उसी प्रकार उर्वशी के प्रति आनक्त आपका सचिव मैं हूँ। इस विषय में हम दोनों ही उन्मत्त हैं।

टिप्पणी.—मणिशिलापट्ट—सगरमर की पटिया। अतिमुक्कलता—इस वासन्ती या भागवी लता (मोगरा) भी कहते हैं। “अतिकान्नामुक्को शोक्यात्” इन व्युत्पत्ति के अनुसार। इसका पुष्प अत्यन्त श्वेत होता है और पूजा के कार्य में आता है। इदानीमिहासन०—शाकुन्तल में भी ऐसा ही कहा है।—‘सखे। क्वोनविष्टः प्रियाया’ किञ्चिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टि विलोभयामि। कुसुमितासु—कुसुमानि सजातानि यासु ता कुसुमिताः तासु। “तदस्य सजात तारकादिन्य इतच्” से इतच् प्रत्यय होता है।

तद्रपालोक०—तस्या रूप तद्रूपम्, तस्य आलोकः दर्शनं तेन दुर्ललितम् दृष्टम्।

वहुकुसुमितास्वपि—इस श्लोक में पुष्पों को आभरण, लता को अङ्गयष्टि मान लिया है। यहाँ अरति की प्रतीति होने से ‘विभूत’ नामक सन्ध्याङ्ग है। “तदुपायश्चिन्तयता” में प्रयत्न नाम द्वितीय अवस्था स्पष्ट है और विन्दु तथा प्रयत्न के खेल के कारण प्रतिभुल सन्धि है।

अहल्याकामुकस्य—जिस प्रकार अहल्या के कामुक इन्द्र का सहायक औपधीपति चन्द्र था उसी प्रकार मैं तुम्हारा हूँ। जैसे चन्द्र काम-व्याधि शान्त नहीं कर पाता उल्टे उसे बढ़ा देता है उसी प्रकार मैं भी तुम्हारी काम-पीडा को कम नहीं कर सकता। चन्द्र स्वयं उन्मत्त था जो गुह-पत्नी के गमन के लिये कल्ङ्कित माना जाता है। इस प्रकार पुरुखा और विदूषक की इन्द्र और बंध चन्द्रमा से सगति बैठ जाती है। कुछ लोग ‘वेज्जो’ के स्थान पर ‘वज्जो’ (वज्र) पाठ मान कर वज्र को इन्द्र का सचिव बतलाते हैं किन्तु इससे अर्थ स्पष्ट नहीं होता, उलट और उलझ जाता है।

मूलपाठ : राजा—न खलु चिन्तयति भवान्।

विदू०—एसो चिन्तेमि । मा उण परिदेविदेहि समाधि भञ्जस्ससि ।
[एप चिन्तयामि । मा पुनः परिदेवित्तैः समाधि भङ्क्ष्यसि ।] (चिन्ता
रूपयति)

राजा—(निमित्त सूचयित्वा—आत्मगतम्)

असुलभा सकलेन्दुमुखी च सा
किमपि चेदमनङ्ग-विचेष्टितम् ।
अभिमुखीष्विव वाञ्छित-सिद्धिपु
त्रजति निवृत्तिमेकपदे मनः ॥६॥

(इति मदनोत्सुकस्तिष्ठति)

(ततः प्रविशत्याकाशयानेनोर्वंशो चित्रलेखा च)

चित्रलेखा—सहि उव्वसि ! कहि खु अणिद्विट्ठ-कालण गद्दीह्,अदि ।
[सखि उर्वंशि ! कुत्र खलु अनिदिष्टकारणं गम्यते ।]

उर्वंशो—(मदनवेदनामभिनीय सलज्जम्) सहि तदा हेमकूट-सिहरे
लदा-विडवान्दरे लग्गा वैजअन्तिआ मोआवेहिति मए भणिदा उव-
हसिअ मं भणासि दिढ खु लग्गा न सक्का मोआविदुं दाणि पुह्,हसि
कहि अणिद्विट्ठ काल गच्छाअदिति । [सखि ! तदा हेमकूट-शिखरे
लताविटपान्तरे लग्गा वैजयन्तिका । मोचयेति भणिता उपहस्य मा
भणासि हढ खलु लग्गा न शक्या मोचयितुम् । इदानीं पृच्छसि कुत्रानि-
दिष्टकारणं गम्यते इति ।]

व्याख्या : राजा—न खलु चिन्तयति भवान् मम उर्वंश्या सह सङ्गतिम् ।

विदू०—एषोऽहं चिन्तयामि उपायम् । या पुनः परिदेवित्तैः वृथा विरह-
विलापैः मम समाधि ध्यानकाग्रता भङ्क्ष्यसि विनाशयिष्यसि (चिन्तनं रूपयति
नाटयति)

राजा—(निमित्त दक्षिणाक्षि-स्वन्दनादि सूचयित्वा स्वगतम्)

सकलेन्दुमुखी इत्यादि—सकलः कलाभिः सहितश्चासी इन्दु रावलेन्दु,
न इव मय यस्या सा पूर्णचन्द्रानना सा उर्वंशी सुलभा मुखेन प्राप्या न, तथापि
वृत्तौऽपि कारणात् इदम् । अनङ्गस्य कामस्य विचेष्टितम् दक्षिणाक्षिस्वन्दनादि
कामचेष्टा च मयि वर्तते । अपि च मनः वाञ्छितस्य अभीप्सितस्य सिद्धिपु अभि-

मुखीपु अभिनोमुखानि याता तानु अनुकूलानु इव एकपदे सपदि निर्वृति
शान्तिमुपैति भजते । मद्यपि मे प्रिया सौकर्येण लब्धा न हृत्यते तथा मे मनसि
विलक्षणा कामेच्छा बलवतो विद्यत एव । मनोजपि तथा शान्ति लभमान वर्तते
यथा कोऽपि सिद्धिपु सम्मुखावस्थितासु भवति । सकलेन्दुमुखीत्यत्र धर्मवाचक-
लुणोपमालङ्कारः । विलासो नाम प्रतिमुखसन्ध्यङ्गन । द्रुतविलम्बितं च
छन्दः ।

“तत्क्षणैकपदे तुल्ये सद्यः सपदि च स्मृतम्” इति हृल्लायुधः । इति मदनो-
त्सुकः कामलालसः निष्ठति) शकुन्तलेऽपि—“शान्तमिदमाश्रमपद स्फुरति
च बाहुः कुतः फलमिहास्य” (१-१५) १९।

(ततः प्रविशति आकाश-यानेन गगनमार्गेण उर्वशी चित्रलेखा च)

चित्र०—सखि उर्वशी ! कुत्र खलु न निर्दिष्ट कारण यस्य सद् यथा
स्यात्तया गम्यते ? कुत्रचित्तु “किं नु खलु तस्य राजपे पृथ्वसः सकाश प्रस्थिता-
ऽसि ?” इति पाठः

उर्वशी—(लज्जासहित यथास्यात्तथा मदनस्य वेदना कामपीडाम्
अभिनीय) सखि ! तदा हेमकूटसिखरे लताविट्पान्तरे वंजयन्तिका लग्ना ।
भोचय इति भणिता कथिता सती मयि त्व मामुपहस्य भणसि दृट खलु लग्ना न
चक्या भोचयितुम् । इदानीं च पृच्छसि कुत्र गम्यते । एतेन राजपरेव सकाश
यच्छामीति भङ्ग्यन्तरेण सूचितम् ।

अनुवाद राजा०—तो आप नहीं सोच रहे हैं ।

विदू०—लो, सोच रहा हूँ । आप रो-पीट कर मेरी समाधि को भग कर
देना । (माचने का अभिनय करता है)

राजा—(शकुन को सूचित करता हुआ मन में) पूर्णचन्द्र के समान
मुखवाली वह (उर्वशी) सरलता से मिलनेवाली नहीं है और उस पर काम की
यह विचित्र चेष्टा ! फिर भी मेरा मत इस प्रकार शान्ति की ओर प्राप्त हो
रहा है जैसे इच्छित वस्तु की प्राप्ति विलकुल पास ही हो । १९।

(राजा कामोत्कथित होकर बैठना है)

(तत्र आकाशयान से उर्वशी और चित्रलेखा आती हैं ।)

चित्र०—सखि उर्वशी, बिना ही कारण बतलाये कहां जा रही हो ?

उर्वशी—(कामपीडा का अभिनय करती हुई लज्जा के साथ)
सखि ! उस समय हेमकूट के शिखर पर लता की डालियों में मेरी वैजयन्ती
माला फँस गयी थी । मैंने कहा था, “छुड़ा दो” तो तुमने उपहास बरके मुझसे
कहा था, “खूब मजबूती से फँस गयी है, छुड़ायी नहीं जा सकती ।” और अब
पूछती हो, “बिना कारण बताये कहां जा रही हो ?”

टिप्पणी । ममाधि—समाधीयतेऽनेन इति समाधिः । यमनियमादि आठ
योगाङ्गो मे अन्तिम । यहाँ इस शब्द का प्रयोग ‘गम्भीर चिन्तन’ के लिये
हुआ है ।

निमित्त—शुभ शकुन जैसे दाहिनी आँख या भुजा का फटकना ।

अभिमुखीपु—अभित मुखानि यासा ताः अभिमुख्यः तानु ।

सकलेन्दुमुखी—कलाभिः सहित सकल । सकलश्चासी इन्दु इति
सकलेन्दु । स इव मुख यस्या सा ।

न सुलभा०—इस श्लोक में द्रवविलम्बित छन्द है । इसमें नगण, भगण,
भगण और रगण ऋमश होते हैं । इस श्लोक से मिलता हुआ शकुन्तल में भी
है—“शान्तमिदमाश्रमपद स्फुरति च बाहु वुत्त फलमिहास्य ।”

एकपदे—यह अव्यय है । सहसा, अचानक ।

अनिदिष्टकारणम्—न निदिष्ट कारण यस्य तत् यथा स्यात्तथा ।

मूलपाठ चित्र०—किं णु तस्मै राएसिणो पुरुरवस्स सआस पधियदा
सि । [किं नु तस्य राजपेः पुरुरवस सकाश प्रस्यिताऽसि ?]

उर्वशी०—एगो मे अवहृद्यद-लज्जो व्यवसाओ । [एव ममापहस्तित-
लज्जो व्यवसाय ।]

चित्र०—महि ! तथापि सपथारीअदु दाव । को उन सहीए तहि
पदम पेगिदो । [मग्नि ! तथापि गम्प्रधायता तावत् । क पुन. सख्या सप
प्रथम प्रेषित !]

उर्वशी—ण हिअअम् । [ननु हृदयम् ।]

चित्र०—को णु तुम णिओजेदि ? [को नु त्वा नियोजयति ?]

उर्वशी—मअणो णु म णिओजेदि । [मदन गानु मा नियोजयति ।]

चित्र०—अदो अवर णत्थि मे वज्रणम् । [अतः अपरं नास्ति मे वचनम् ।]

उर्वशी—तेण आदेसदु मे सही मग्गं जेण तहि गच्छन्तीए न अन्तराओ भवे । [तेन आदिशतु मे मत्तो मार्गं येन तत्र गच्छन्त्याः नान्तरायो भवेत् ।]

चित्र०—सहि ! वीसध्वा होहि । गं भवअदा देवगुरुणा अवराइदं नाम मिहावन्धणं विज्जं उवदिसन्तेण तिदसपडिवस्सम्म अलङ्घणिज्जा कदम्ह । [सखि ! विस्रब्धा भव । ननु भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिवावन्धिनी विद्यामुपदिशना त्रिदश-प्रतिपक्षस्थालङ्घनीये कृते स्वः ।]

उर्वशी—(सलज्जम्) ताए प्रयोअं सव्वं सुमरेसि ? [तस्याः प्रयोगं सर्वं स्मरसि ?]

चित्र०—सहि ! हिअअं एदं सव्वं जानादि । [सखि ! हृदयमेतत् सर्वं जानाति ।]

(उभे भ्रमणं रूपयतः)

व्याख्या : चित्र०—चित्रलेखया सर्वं स्मृतम् । अतः सा कथयति किं नु तस्य राजर्षेः पुरुखसः सकाशं प्रस्थिताऽस्ति ?

उर्वशी—एए मेऽपहस्तिताऽर्षंचन्द्र दत्त्वा निष्कासिता नारीजनोचिता लज्जासङ्कोचः येन तद्दृशो व्यवसाय उद्योगः । अहं निर्लज्जा भूत्वा स्वयमेव तत्सकाशं प्रस्थिताऽस्मि ।

चित्र०—तयापि सप्रधायताम् सम्यग् विचार्यताम् तावत् । तत्र गमने औचित्यानीचित्ये ज्ञायताम् । भवत्या स्वागमनसूचनाय कस्तन प्रथमं प्रेषितः ? कस्यापि दर्शनकामेन प्रथमं तस्यानुजा लब्धव्या । तदर्थं च कश्चिन् सन्देश हरः प्रेषितव्यः । भवत्या तत्र कः प्रेषित इति प्रश्नः ।

उर्वशी—मया हृदयमेव पूर्वतः प्रेषितम् ।

प्रश्नस्य साधूत्तरं न प्राप्य पुनः प्रश्नं करोति चित्रलेखा—गुरुरवनं सनीये गमनाय भवन्तं कौ नियोजयति प्रेरयति ?

उर्वशी—कामो मदन एव तत्र गन्तुं सा नियोजयति ।

चित्र०—(सर्वथा वयस्यामुचितानुचितविवेकेऽशक्ता मदनपरवशा विज्ञाय कथयति)—अतः पर प्रतिवचन त्वदुत्तरानन्तरमन्यत् किमपि वक्तव्य नावशिष्यते ।

उर्वशी—तेन तस्मात् कारणात्, यतस्त्वमनुत्तरा सबृत्ता तस्मात् त मार्गंम आदिशतु प्रदर्शयतु भवती येन मार्गेण तत्र नृप-सन्निधौ गच्छन्त्याः मम कोऽपि अन्तरायो विघ्नो न भवेत् ।

चित्र०—सखि विलम्बधा विश्वस्ता भव । भगवतो पूज्येन देवगुरुणा बृहस्प-
तिना अपराजिता नाम यस्य अधिगमेन कस्मादपि पराजयो न जायते तथा-
विधा, शिखा बध्नातीति शिखाबन्धिनी ता विद्याम् उपदिशता प्रयच्छता तिलः
शैशव-वैशोर्य-तारुण्याख्या दशा येषां ते विदशाः देवाः। तेषां प्रतिपक्षस्य प्रति-
कूलस्य विरोधिनी दैत्यादे अलङ्घनीये जेतुमशक्ये स्व आवाम् जाते । बृहस्प-
तिना शिखाबन्धिनी अपराजिता विद्या उभाभ्याम् आवाभ्यां प्रदत्ता तस्याः
बलेनावा सर्वेषामपि शत्रूणामभिभवनीये सबृत्तं स्वः । शिखाबन्धिनी नाम विद्या
सा यस्या शिखा बद्ध्वा मन्त्राः पठ्यन्ते । कालिदासेन शाकुन्तले पठ्ठाङ्केऽयस्या
उल्लेखः कृतः । सर्वदमनोऽयस्या निष्णाता आसीत् ।

उर्वशी०—(सलज्जम्) तस्याः विद्याया प्रयोगम् विधिं सर्वं स्मरति
किम् ? यथा सा प्रयुज्यते तत् स्मर्यते त्वया किम् ?

चित्र०—सखि ! एतन्मे हृदय सर्वं प्रयोगविधिं जानाति ।

(उभे उर्वशी चित्रलेखे भ्रमणम् आकाशे चङ्क्रमण रूपयत् नाटयतः)

अनुवाद :—

चित्र०—क्या उस राजपि पुरवा के पास जा रही हो ?

उर्वशी—हाँ, मैं लज्जा को अपहस्तित करके (बाहर निकाल कर) यहाँ
कर रही हूँ ।

चित्र०—तो भी यह तो विचारियें । आपने पहले वहाँ किसको भेजा है ?

उर्वशी—हृदय को ।

चित्र०—इसके लिय तुम्हे कौन प्रेरित करता है ?

उर्वशी—निश्चय ही कामदेव मुझे प्रेरित करता है ।

चित्र०—इसके आगे रहने के लिये कुछ नहीं है ।

उर्वशी—तो मुझे मार्ग बतलाओं जिससे वहाँ जाने में बाधा न हो ।

चित्र०—विश्वाम रसो । भगवान् बृहस्पति ने अपराजिता नाम की शिखा-
चन्धिनी विद्या का उपदेश देकर हम दोनों को ऐसा बना दिया है कि देवताओं
के विरोधी हमें आक्रान्त नहीं कर सकते ।

उर्वशी—(लज्जा के साथ) उसका सारा प्रयोग याद है ?

चित्र०—सखि ! हृदय यह सब जानता है । (दोनों भ्रमण का अभिनय
चरती हैं)

टिप्पणी :—अपहस्तितलज्जः—अपहस्तिता दूरीकृता लज्जा यस्मात् ।
निरस्तत्रपः । मृच्छकटिक में भी कहा है—“न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्त्यता
दयिन प्रति ।”

संप्रघार्यताम्—सम् उपसर्ग + धृ (धारण करना) + णिच् (इ) + कर्म-
चाच्य लोट् = चिन्त्यताम् ।

अपराजिता—विद्या का नाम है जो बृहस्पति (देवगुरु) ने दानवों के
आक्रमण के बाद अप्सराओं को शिखा दी थी । इसके प्रभाव से व्यक्ति अजेय
बन जाता था । शाकुन्तल में सर्वदमन (शकुन्तला के पुत्र) को भी ऐसी ही
“शिखाबन्धन विद्या” दी गयी थी । इसमें मन्त्र पढ़ने हुए सिला बाँधी जाती है ।

अलङ्घनीये—न लङ्घितुं पराजितुं योग्ये । अपराजेय । अन्यत्र भी कहा
है, “नास्ति विघेरलङ्घनीयम्” ।

मूलपाठ :—चित्र०—सहि ! पेट्त्वं, पेट्त्वं । एद भवदीए भाई रहीए
जमुना-सङ्गम-भावणेसु सलिलेषु पुष्पेसु ओलो अन्तस्स विअ अत्ताणअं
पइट्ठाणस्स सिहाभरणभूतं विअनस्स राएसिणो भवणं उवगदम्ह । [सखि,
प्रेक्षस्व प्रेक्षम्ब । एतद् भगवत्या भागीरथ्या यमुना-संगम-भावनेषु सलिलेषु
पुष्पेषु अवलोकयत इवात्मनं प्रतिष्ठानस्य शिखाभरणभूतमिव तस्य
राज्येभवनमुपगते स्व ।]

उर्वशी—(सस्पृहमवलोक्य) णं वत्तव्वं ठाणन्तरगदो सगो त्ति ।
[ननु वक्नव्य स्थानान्तरगत स्वर्गं इति ।] (विचार्य) हला ! कहि खु सो
आत्ता णाणुक्कमी भव । [हला क्व खलु स आपन्नानुक्कमी भवेत् ।]

चित्र०—एदस्सिं णन्दण-वनेक्क-पदेसे विअ पमदवणे ओदरिअ
जाणिस्सामो । [एतस्मिन् नन्दनवनैकप्रदेशे इव प्रमदवने अवतीर्य
ज्ञास्यामः ।]

(उभे अवतरतः)

चित्र०—(राजानं दृष्ट्वा सहर्षम्) सहि । एसो पठमोदिदो विअ भवअं चन्दो कोमुदि विप्रपडिद्वद्वदि तुमं । [सखि । एप. प्रथमोदित इव भगवान् चन्द्रः कौमुदीमिव प्रतीक्षते त्वाम् ।]

उर्वशी—(विलोक्य) हला । दाणिं पदम दंसणादो वि सविसेस पिअ-दसणो मे महाराओ पडिभादि । [हला । इदानीं प्रथमदर्शनादपि सवि-शेषे प्रियदर्शानो मे महाराजः प्रतिभाति ।]

चित्र०—जुज्जदि । ता एहि उवसप्पम्ह । [युज्यते । तदेहि उप-सर्पाव ।]

उर्वशी—ण दाव उवसप्पिस्सम् । तिरस्करिणी-पडिद्वद्वण्णा पास-वत्तिणी भविअ सुणिस्स दाव पासवत्तिणा वअस्सेण सह विअणे कि मन्त-अन्तो चिट्ठदि त्ति । [न तावदुपसर्पिष्यामि । तिरस्करिणी-प्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनीभूत्वा श्रोष्यामि तावत्पाश्वर्वर्तिना वयस्येन सह विजने कि मन्त्रयन् तिष्ठतीति ।]

चित्र०—जह दे रोअदि । [यथा ते रोचते ।] (उभे यथोक्तमनुति-ष्ठन ।)

व्याख्या :—चित्र०—सखि ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व, पश्य पश्य । कीतूहल प्रदां-नाय वीप्सा । एतद् भगवत्याः पूज्यायाः भागीरथ्या गङ्गाया यमुनायाः सङ्गेन पावनेषु पुण्येषु जलेषु आत्मानं स्वीय रूपम् अवलोकयत प्रतिष्ठानस्य एतन्नामकस्य नगरस्य शिवाभरणभूतं चूडामणिरिव तस्य महर्षेः पुरुरवस भवनं प्रासादम् उपगते स्व. प्राप्ते स्व ।

पुरुरवमो राजधानी गङ्गातटे आसीत् । तस्या प्रासादानां प्रतिबिम्बं जले स्पष्टं दृश्यते स्म । राजप्रासादस्तु राजधान्या श्रेष्ठं चूडामणिरिव व्यराजत प्रतिष्ठानं नाम स्थानं प्रयागराशीषे गङ्गायमुनासङ्गमे स्थितं आसीत् । तत्रैव शास्त्रतः 'नूरी' इति वक्ष्यते । उपप्रेक्षाऽद्धारः ।

उर्वशी—(स्पृहया लालसया सहैति सस्पृहम् अवलोक्य) ननु वनस्य वचनीयं यद्यं प्रदेशं अन्यत् स्थानमिति स्थानान्तर्गम् तत् (द्वितीयैकवचने) गतः प्राप्तः श्वर्गं एव गाभान् । सदुष्यतमन्यत्रापि या गतिर्योग्यवृत्तस्य तत्त्वज्ञस्य

मनीषिणः । सा गतिस्त्वजतः प्राणान्, गङ्गा-यमुना-सङ्गमे । (विचार्य) क्व कस्मिन् स्थाने नु इति वितर्कं सत्तु स आपनान् अनुकम्पते इति आपन्नानुकम्पी चरणागतवत्पलो भवेत् । क्व न प्राप्यते ।

चित्र०—एतस्मिन् प्रमदवने नन्दनवनस्य एकप्रदेशे एकप्रान्त इव अवतीर्य जास्यान्, क्व लम्प्यः स महाराज इति । यथा राजधानी स्वर्गं इव दृश्यते तथैवास्या, प्रमदवनं नन्दनवनमिव मनोरमम् । अस्थ एकप्रदेशे अवतीर्य नृपानुमन्धानं करिष्यामः । (उभे अवतरतः प्रमदवने)

चित्र०—(राजानं दृष्ट्वा सहर्षम्) सखि । एष राजा प्रथमम् उदितं भगवान् चन्द्रः कौमुदी ज्योत्स्नामिव त्वाम् अवेशते प्रतीक्षते । कौ पृथिव्या मोदन्ते जना यस्या सा कौमुदी । कुमुदानामिदम् कौमुदीति वा । यदा नवोदित-श्चन्द्रः ज्योत्स्ना प्रतीक्षते तथैवान् राजा त्वा प्रतीक्षमाण इव तिष्ठति । एतन् चन्द्रकौमुद्योरिव तयोरपि विरहासहत्वं सूचितम् ।

उर्वशी—(विलोक्य) हलेनि सम्बोधने । इदानीं प्रथमदर्शनादपि विशेषेण सहितं यथा स्यात्तथा सविशेषम् अधिकतरम् प्रियं दर्शनं यस्य न प्रियदर्शनो मनोहारी मे महाराजः प्रतिभाति लक्ष्यते । साम्प्रतमनुराग-वशं गता सा स्वभ्यामनुरक्तं राजानमधिकतरं मनोरमं पश्यति । यतः “वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ।”

चित्र०—युज्यते यद्यपि वदसि त्वम् । तदेहि । उपसर्पतिः तन्निकटं गच्छावः ।

उर्वशी—न तावत् उपसर्पिष्यामि । समीपं गमिष्यामि । तिरस्करिष्या एतन्मन्या विद्यया प्रति-उन्नाञ्जलिं सती तस्य पार्ववतिनी समीपस्था भूत्वा श्रोष्यामि तावत् अथ विज्ञाने एकान्ते पार्ववतिना निकटस्थेन वयस्येन मित्रेण विदूषकेन महं किं मन्त्रयन् विचारयन् तिष्ठति ।

लेखा वा इष्टु क्षमी । नाटकेषु एवविधानामुपायाना प्रयोग सर्वेष्वपि देशेषु दृश्यते । दर्शकारच तिरस्करिणीप्रतिच्छन्न दिव्य जत पश्यन्त्येव । दोक्सपियर नाटकेषु हैमलेट-टेम्पेस्ट प्रभृतिषु वेङ्गुओ (Banguo), वर्जिन मार्टर (Virgin Martyr) दिषु चास्य विधेः प्रयोगो दृश्यते ।

चित्र०—यथा ते तुभ्य रोचते । ते इत्यन 'हच्ययाना प्रीयमाण.' इति चतुर्थी ।

(उभे उर्वशी चित्रलेखे यथोक्त पूर्वोक्तप्रकारेण प्रमदवने निभृतश्रवण-मनुतिष्ठतः कुरुतः ।)

अनुवाद —

चित्र०—सखि, देखो, देखो । ये हम दोनों राजादि के उस भवन के पास आ गये जो प्रतिष्ठान नगर की चूडामणि के समान है और यमुनी के सगम से पावन बनी हुई भगवती भागीरथी की पुण्य जलधारा में अपनी आकृति को देखता-सा प्रतीत हो रहा है ।

उर्वशी—(उत्कण्ठा के साथ देखकर) सचमुच कहना तो यह चाहिये कि स्वर्ग ही दूसरे स्थान पर आ गया है । (सोचकर) न जाने वह शरणागत-वत्सल (राजा) वहाँ होगा ।

चित्र०—नन्दनवन के एक खण्ड जैसा यह जो प्रमदवन है उसमें उतर कर मालूम करें ।

(दोनों उतरती हैं)

चित्र०—(राजा को देखकर हर्ष के साथ) सखि ! जैसे द्वितीया का चन्द्रमा चाँदनी की प्रतीक्षा करता है, वैसे ही यह राजा तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है ।

उर्वशी—(देखकर) अरे ! इस समय तो ये मुझे देखने में प्रथम बार से भी अधिक मुन्दर मालूम होते हैं ।

चित्र०—ठीक है । तो आओ पास चलो ।

उर्वशी—पास नहीं जाऊँगी । मैं तिरस्करिणी विद्या द्वारा छिपकर इनके पास लुट्टी रह कर गुनगुनी कि ये अपने पारिवर्तों दिगूषक के साथ शुकान्त में क्या-क्या गलाह करने बैठे हैं ।

चित्र०—जैसी तुम्हारी इच्छा (दोनों वैसा ही करती हैं) ।

टिप्पणी :—‘अवलोक्यत इवात्मानम्’ मे उत्प्रेक्षाऽलङ्कार है । “भवेत्
सभावनोत्प्रेक्षा प्रवृत्तस्य परेण यत्” ।

प्रतिष्ठानम्—गङ्गा और यमुना के संगम पर बसा हुआ एक नगर जो
पुहरवा की राजधानी थी । इसी स्थान पर आजकल ‘भूखी’ स्थित है ।

स्थानान्तरगत—अन्यत् स्थानमिति स्थानान्तरम् । तद्गत इति स्थाना-
न्तर गतः ।

कौमुदी—की (पृथिव्यां) मोदन्ते जना यस्याम् । अथवा कुमुदानाम् इय
कौमुदी । कुमारसभव मे भी चन्द्र-कौमुदी के साथ का वर्णन है—‘शशिना
सह याति कौमुदी ।’

तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना—तिरस्करिणी अन्तर्धान विद्या है जिसके बल
से व्यक्ति स्वयं तो औरो को देख सकता है पर उसे कोई नहीं देख पाता ।
पात्र को दर्शक तो देखते हैं पर मानो मञ्चस्य अन्य पात्र नहीं देख पाते ।
यह शिखाबन्धनी अपराजिता विद्या से भिन्न है । उत्तररामचरित आदि
अन्य नाटको मे भी इसका आश्रय लिया गया है । शिखाबन्धन विद्या सीखने से
प्राप्त होती है, तिरस्करिणी दिव्य-देव-सिद्ध आदि को स्वतःसिद्ध होती है ।

ते रोचते—‘ते’ मे चतुर्थी “रुच्यमाना प्रीयमाणः” सूत्र से हुई है ।

मूलपाठः विदूषकः—भो चिन्तितो मए दुल्लह-पण इ जनम्म
समागमोवाओ । [भोः चिन्तितो मया दुर्लभप्रणयिजनस्य समागमो-
पायः ।] (राजा तूष्णीमास्ते)

उर्वशी—का उणधण्गा इत्यिआ जा इमिणा पडिमुग्गमाणा अत्ताणअं
विणोदेदि । [का पुनर्धन्या स्त्री या अनेन परिमृग्यमाणा आत्मानं
विनोदयति ।]

चित्र०—ज्ञाणस्म किं विलम्बीअदि ? (ध्यानाय किं विलम्ब्यते ?)

उर्वशी—सहि ! भीआमि सहसा पहावादो विण्णादुम् । (सखि !
बिभेमि सहसा प्रभावतो विज्ञालुम् ।)

विदू०—भो ! णं भणामि चिन्तितो मए दुल्लह-पणइजन-समागमो-
वाओ । (भोः ! ननु भणामि चिन्तितो मया दुर्लभ-प्रणयिजन-समागमो-
पायः ।)

राजा—वयस्य ! कथ्यताम् ।

विदू०—सिक्विण-समागम-आरिणं णिदं सेवदु भवं । अहवा तत्तमोदीए पडिक्किदि चित्तफलए अलिह्मिअ आलोअन्तो अत्ताणअं विणोदेहि । (स्वप्न-समागम-कारिणी निद्रा सेवताम् भवान् । अथवा तत्रभवत्या. उर्वशीया. प्रतिकूर्ति चित्रफलके आलिख्य आलोकयन् आत्मान विनोदय ।)

उर्वशी—(सहर्षम्) हीणसत्त हिअअ ! समस्सस समस्सस । [हीन-सत्त्व हृदय ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।]

राजा—तदुभयमप्यनुपपन्नम् ।

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कयमुपलभे निद्रा स्वप्ने समागमकारिणीम् ।
न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य ता
मम नयनयोरुद्वाष्पत्वं सखे न भविष्यति ॥१०॥

व्याख्या : विदू०—भोः चिन्तितो मया दुर्लभश्चासौ प्रणयिजन अनुराग-पात्र तेन समागमः सगति तस्य उवाच । (विदूषकः चिरं चिन्तयित्वा राजानं उर्वशीसमागमोपायं वृत्ते ।)

(राजापुरुषाः तूष्णीं न किञ्चिदभिभाषमाणं आस्ते)

उर्वशी—वा पुनर्धन्या मौभाग्यवतीं स्त्रीं या अनेन राज्ञा परिभृष्यते इति परिभृष्यमाणा अन्वेष्यमाणा मनसि चिन्त्यमाना सती आत्मानं विनोदयति प्रसन्नतां नयति ।

चित्र०—ध्यानाय ध्यानेन ज्ञानुं वि केन कारणेन विलम्बये । ध्यानेन नु सर्वं ज्ञानुं शक्यम् । तच्छीघ्रं ध्यानावस्थिता भूत्वा जानीहि वा मा धन्या स्त्री इति ।

उर्वशी—मखि विभेषि भीतार्जसि सहमा प्रभावत ध्यानवशात् तां ज्ञानुम् । यदि ध्यानेन काचिद् मदन्या तदनुरागपात्रं ज्ञास्यते तदा मे ताप एव भविष्यतीति भयम् ।

विदू०—यदा विदूषकस्य पूर्वोक्तवचनान्तरमपि राजा नातुरतां दर्शयति केदलं तूष्णींमास्ते तदा विदूषकः पुनरपि स्ववचनं वृद्धयति—भोः ! ननु भणामि

इत्यन्त घ्यानाकर्पणाय चिन्तितो विचारितो मया दुर्लभ-प्रणयिजनस्य समागमोपायः ।

राजा—वयस्य मित्र कथ्यताम्, यदि चिन्तितस्त्वया कश्चिदुपाय इति शेषः ।

विदू०—स्वप्ने समागम कारयतीति स्वप्नसमागमकारिणी ता तादृशी निद्रा भवान् सेवताम् । भवान् स्वपितु अथवा तत्रभवत्याः उर्वश्याः प्रतिकृतिं प्रतिच्छावि चित्रफलके अभिलिख्य रचयित्वा ता प्रतिकृतिनालोकयन् पश्यन् आत्मानं विनोदय रञ्जय ।

उर्वशो—(सहर्षम्) राजा चिन्त्यमाना प्रियाऽहमेवेति ज्ञात्वा प्रसन्नाया उर्वश्या उक्तिरियम्—हीन सत्त्व यस्य तदधीरहृदय समास्वसिहि शान्तिं लभस्व ।

राजा—तदुभयमपि अनुपपन्नम् अयुक्तम् कर्तुं मशक्यत्वात् ।

हृदयमिति—हे सखे कामस्य अनङ्गस्य इषुभिर्वागैः इदं मम हृदयं तदा शल्येन सहितमिति सशल्यं पीडितमास्ते । तेन निद्रा न सुलभा, प्रियाया दर्शनमपि च न सम्भवति । स्वप्ने समागमकारिणी निद्रामहं कथमुपलभे प्राप्नुयाम् । नहि पीडाया सत्या निद्रायाः सम्भवः । मुन्दर वदनं मुखं यस्याः सा तादृशी सुमुखी प्रिया आलेख्ये चित्ररचनायाम् असमाप्य मम नयनोरुद्वाप्यत्वम् उद्गतानि वाष्पाणि अध्रूणि ययोस्ते उद्वाप्ये लोचने तयोर्भावः उद्वाप्यत्वं न भविष्यतीति च न, अपितु भविष्यत्येव । यद्यहं चित्रफलके प्रियामालिखितुम् आरभे तदा लेखनं समाप्तेः पूर्वमेव मम नेत्राम्यामधुपातः प्राप्स्यते तेनाहं चित्रगतामपि प्रियामालोकयितुं न पारयिष्यामि । अनेन द्वितीयोऽप्युपायोऽनाकृतः । हरिणीवृत्तमिदम् । तल्लक्षणं तु—“रस-युगं हर्यन्सौ” श्री स्त्री गो यदा हरिणी तदा” इति ।

अयमेव भावः कविना मेघदूतेऽपि “त्वामालिख्य प्रणयकृपिता घातुरागैः शिलाया”मित्यादिना व्यक्तीकृतः । १० ।

अनुवादः—विदू०—लो, मैंने दुर्लभ प्रेमी से मिलने का उपाय सोच लिया । (राजा मौन बैठा रहता है)

उर्वशी—वह कौन घन्य स्त्री है जो इनके द्वारा खोजी जाती हुई अपना मनोविनोद कर रही है।

चित्र०—ध्यान लगाने में देरी क्यों करती हो?

उर्वशी—सखि ! सहसा ध्यान के प्रभाव से मालूम करने में डर लगता है।

विदू०—अरे ! मैं कह रहा हूँ कि मैंने दुर्लभ प्रेमी से मिलने का उपाय ढूँढ लिया है।

राजा—मित्र ! कहिये

विदू०—आप तो स्वप्न में समागम कराने वाली निद्रा का सेवन कीजिये अथवा श्रीमती उर्वशी की प्रतिकृति (तसवीर) चित्रफलक (चित्र बनाने की तस्ती) पर बना कर उसे देखते हुए अपना मनोविनोद कीजिये

(उर्वशी)—(हृषं के साथ) अरे दुर्बल हृदय ! धीरज घर, धीरज घर।

राजा—ये दोनों बातें सम्भव नहीं है।

मेरे हृदय में सदा भीतर ही भीतर काम के बाण कसकते रहते हैं। फिर स्वप्न में समागम कराने वाली निद्रा कैसे पा सकता हूँ और चित्र बनाऊँ तो उस सुमुखी का चित्र समाप्त करने से पहले ही मेरी आँखों में आँसू न भर आयें, यह भी नहीं हो सकता है।

टिप्पणी—दुःखेन लब्धु शक्य इति दुर्लभ । प्रणयोऽनुरागः अस्ति यस्य स प्रणयो चासी जन इति प्रणयिजन । दुर्लभश्चासी प्रणयिजन इति दुर्लभ-प्रणयिजनः तस्य ।

परिमृग्यमाणा—परिमृग्यते अन्विष्यते इति । परि+मृग्+कर्मणि णानच् ।

प्रभावतः—देवीं एव मित्र आदिव जनो को प्राप्ति सिद्धि प्रभाव बहलाती है । ये निद्रियाँ आठ प्रकार की होती हैं—अणिमा महिमा वैश्व गरिमा लपिमा तथा । प्राप्ति प्राशाम्यमोक्षित्व यशित्व चाष्टगिद्धयः ।

प्रतिकृति चित्रफलकः : मेघदूत में भी यही भाव बणित है—

त्वामाश्रित्य प्रणयकृपिता पातुरागः गिलाषा-
मात्मानं तं परणयितुं यावदिच्छामि वतुंम्

अस्मैस्तावमुहुरूपचित्तं हंष्टिरालुप्यते भै
कूर न सहते सङ्गम नी कृतान्त ।

उद्वाष्पत्वम्—उद्गतानि वाष्पाणि ययोस्ते उद्वाष्पे (नेत्रे) तयोर्भावि
उद्वाष्पत्वम् ।

तदुभयमप्यनुपन्नम्—शाकुन्तल मे भी यही बात कही गयी है—

प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्या स्वप्ने समागम ।

वाष्पस्तु न ददात्यना द्रष्टु चित्रगतामपि ॥

मूलपाठ : चित्र०—सहि, मुद तुए वअणम् ? (सखि ! श्रुत त्वया
वचनम् ?)

उर्वशी—मुद । ण उपा पज्जत्त हिअअस्स । (श्रुत । न पुन पर्याप्त
हृदयस्य ।)

विदू०—एत्तिओ मे मदिविहओ । (एतावान् मम मतिविभव ।)

राजा—(सनि श्वामम्)

नितातकठिना रुज मम न वेद सा भानसी

प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वाऽपि माम् ।

अलब्ध फल-नीरस मम विधाय तस्मिन्ने

समागममनोरथ भवतु पञ्चबाण कृती ॥११॥

चित्र०—मुद तुए ? (श्रुत त्वया ?)

उर्वशी—हृधो हृधो ! म वि एव्व अवगच्छुदि । सहि । असमत्थमिह
अगदो भविअ अत्ताणअ दसिदुम् । ता पहावणिम्मिदेण भुज्जवत्तेण लेह
सपादिअ अन्तरा खिविदुमिस्सामि । (हा धिक् हा धिक् । मामप्येवमव-
गच्छति । सखि ! असमर्थाऽऽस्म्यप्रतो भूत्वात्मान दर्शयितुम् । तद् प्रभाव-
निमित्तेन भूर्जपत्रेण लेख सम्पाद्यान्तरा क्षेप्तुमिच्छामि ।)

चित्र०—अणुमद मे । (अनुमत मे)

(उर्वशी नाट्येनाभिलिख्य क्षिपति)

व्याख्या चित्र०—सखि ! श्रुत त्वया राज्ञो वचनम् त्वत्प्रमव्यञ्जिका
उक्ति ?

उर्वशी—श्रुतम् । न पुनः पर्याप्त हृदयस्य । मे हृदयमतोज्यधिकतर किञ्चित् श्रोतुमिच्छति ।

विदू०—एतावान् एतन्मात्रो मे मति-विभवः विचारणाशक्तिः । नाहमतां-
अधिक चिन्तयितुं शक्नोमि ।

राजा—(सनिःश्वासम् व्यथा प्रकटीकुर्वन्)

नितान्तकठिनामिति—सा उर्वशी मम नितान्तभत्यन् कठिना दुःसहा
गन्तसि भवा इति मानसी ता रज व्यथा न वेद न जानाति । यदि अज्ञास्यत् तदा
अवश्य सा मह्य दशनमदासस्यत् । वा अथवा सा देवागनाप्रभावेण दिव्य-
शक्त्या विदित अनुरागो यस्य त अपि मा अबमन्यते उपेक्षते । अथवा दिव्य-
शक्त्या सा मम स्वा प्रति अनुराग जानाति तथा ममावहेलना करोति । पञ्च-
वाणा यस्य सः पञ्चबाणः कामः तस्मिन् जने उर्वशीरूपे मम समागमस्य
सयोगस्य मनोरथमभिलापम् अलब्धमप्राप्त यत् फल तेन नीरसम् आनन्द-
विरहित विवाय कृती कुलभनेनेति राकामः भवतु । अथोपायान्तर-दर्शनाभावात्
तपन नाम प्रतिमुखसन्ध्यगम् । तदुक्तम्—“उपायादर्शनं यच्च तपन नाम तद्
भवदिति” १११।

चित्र०—श्रुत त्वया । ज्ञात नाम साम्प्रत पर्याप्त तव हृदयस्येति भाव ।

उर्वशी—हा धिक्, हा धिमिति विगर्हणे । मामपि तद्वियोगव्याकुलामपि
एवम् अज्ञात-तदनुराग ज्ञात्वाऽपि बोधेक्षमाणाम् अवगच्छति जानाति । सखि ।
अस्या स्थितौ अग्रता भूत्वा सम्मुखे गत्वा आत्मान दर्शयितुम् असमर्थाऽस्मि ।
तत् तस्मात् प्रभावेण निर्मितेन उत्पादितेन भूर्जपत्रेण लेख सम्पाद्य स्वभाव
भूर्जपत्रे लिखित्वा अन्तरा अनयोर्नृपविदूषकयोर्मध्ये क्षेप्तुमिच्छामि ।

चित्र०—अनुमत मे । अहमस्य विचारस्य समर्थिकाऽस्मि ।

(उर्वशी नाट्येन अभिलिख्य क्षिपति तयोर्मध्ये भूर्जपत्रम्)

अनुवाद—चित्र०—सखि ! तुमने बात सुनी ?

उर्वशी—सुनी किन्तु मेरे हृदय के लिए काफी नहीं है ।

विदू०—मेरी बुद्धि का वैभव तो इतना ही है ।

राजा—(निश्वास के साथ) उसे मेरे मन की अत्यन्त कठिन पीड़ा
मात्रम नहीं है अथवा अपनी दिव्य शक्ति से उसे मेरे अनुराग का ज्ञान है,

फिर भी वह मेरी उपेक्षा करती है। इस व्यक्ति के प्रति मेरे मन में निष्फल होने के कारण रसबिहीन मिलन-कामना पैदा करके कामदेव सक्रम ही।

चित्र०—सुना तुमने ?

उर्वशी—हाय हाय ! मुझे भी ऐसा समझते हैं। सखि ! मैं सामने जाकर स्वयं को प्रदर्शित करने में असमर्थ हूँ। तो अपनी दिव्य-शक्ति द्वारा निर्मित भोजपत्र पर लेख लिख कर बीच में फेंक देना चाहती हूँ।

चित्र०—मुझे स्वीकार है। (उर्वशी अभिनय के साथ लिखकर फेंक देती है)

टिप्पणी—प्रभाव...रागम्—प्रभावेण स्वीकीय-सिद्ध्या विदित. ज्ञातः अनुरागः यस्य सः, तम्। अवमन्यते—राजा उर्वशी की उपेक्षा के कारणों की कल्पना करता है—(१) या तो वह मेरी मनो-पया को जानती न हो अथवा (२) जानकर भी दिव्य नारी होने के कारण मुझ जैसे पारिवर्जन से प्रेम करना अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल न समझती हो और इसलिए मेरी उपेक्षा कर रही हो। अनन्व .. नीरसम्—न लब्ध फल येन स अलम्ब-फल। एवभूतरचासौ नीरसः। सकल न होने के कारण नीरस (फोड़ा)। कृती—कृन्मनेन इति कृती—सक्रम। शाकुन्तल में भी कहा है—“नाम इदानीं सन्मो भवतु।” प्रभावनिर्मितेन—यत्र लिखन के लिए कोई वस्तु समीप न होने से अपनी दैवी शक्ति के बल से भूर्जत्र उलटन करती है। भूर्जत्र भूर्ज नामक वृक्ष की पतली छाल होती है। यह वृक्ष हिमालय पर अधिकता से पाया जाता है। कागज का निर्माण प्रारम्भ होने से पूर्व भूर्जत्र का ही प्रयोग होता था। अन्तरा—बीच में, दो के बीच। यह अव्यय है।

मूलपाठ—विदू०—(दृष्ट्वा) अविद अविद भो, कि णु एदम्। भुजग-णिम्मोओ किं म खादिदुं णिवडिदो ? [अविद अविद भो । किं त्वेनत् ? भुजङ्ग-निर्मोक किं मा खादितु तिपवित ?]

राजा—(विभाव्य) नाय भुजङ्ग निर्मोक । भूर्जपत्रगतोऽयमक्षर-विन्यासः ।

विदू०—न खु अदिदृष्ट्वा ए ज्वमोए भवदो परिदेविअं सुणिअ भुजवतो

समाणाणुराभ-सूअभाइं अख्खराइं अहिलिहिअ विसज्जिआइं भवे । [न खलु अदृष्टया उर्वश्या भवतः परिदेवित श्रुत्वा भूजंपत्रे समानानुराग-सूचकानि अक्षराणि अभिलिख्य विसर्जितानि भवेयुः ।]

राजा—नास्त्यगतिर्मनोरथानाम् । [गृहीत्वाऽनुवाच्य च सहपंम्]
सखे ! प्रसन्नस्ते तर्कः ।

विदू०—अ एत्थ अहिलिहिदं त सुणिदु इस्सामि । [यदत्राभिलिखितं तत् श्रोतुमिच्छामि ।]

उर्वशी—साहु, साहु अज्ज ! णाअरोसि । (साधु माधु आर्य ! नागरोऽसि ।)

राजा—श्रूयताम् । (वाचयति)

सामिअ सभाविआ जह अह तुए अणुमिआ
तह अ अणुरत्तस्स सुहअ एअमेअ तुह ॥१२॥
णवरि अ मेलतिअ-पारिआअ-सअणिज्जम्मि
होन्ति सुहा णदण-वण-वाआ वि सिहिव्व सरीरे ॥१३॥

[स्वामिन् सम्भाविता यथाऽह त्वयाऽज्ञात्री
तथा चानुरक्तस्य सुभग एवमेव तव ॥१२॥
अनन्तर च मे ललित-पारिजात-शयनीये
भवन्ति सुखा नन्दन-वन-वाता अपि शिखीव शरीरे] ॥१३॥

उर्वशी—कि णु खु सपद भणिस्सदि ? [किं नु खलु साम्प्रतं भणिष्यति ?]

व्याख्या—विदू०—(दृष्ट्वा) अविद अविद भो. ज्ञायता ज्ञायतामिति ।
“अदृष्टाश्रुतसम्प्राप्तावविदाविदभोः पदम् ।” इति सागरः । किं नु एतन्
इति आश्चर्यं । भुजङ्गस्य निर्मोकः कचुकः किं मा सादितु निपतितः ?
निर्मोकः ‘केचुली’ इति हिन्दीभाषाया कथ्यते ।

राजा—(विभाव्य सम्यग् निरीक्ष्य) नाय भुजङ्गनिर्मोकः । भूजंपत्रगतो-
राणा विन्यासः । भूजंपत्रे लिखिता. शब्दा. इति तात्पर्यम् । अक्षराणा

विशेषप्रकारको न्यासः अक्षरविन्यासः । क्रमविशेषपूर्वकं लिखितान्यक्षराणि ।

विदू०—मनु इति वितर्कं । सम्भाव्यते इदं यत् सलु अदृष्टया भवता पर भवन्त दृष्टवत्या उर्वंश्या भवतः परिदेवित विलाप श्रुत्वा भूर्जपत्रे अनुरागस्य प्रेम्णः सूचकानि अक्षराणि अभिलिख्य विसर्जितानि अन निक्षिप्तानि भवेयु ।

राजा—नास्ति अगतिः अविषयः मनोरथानामिच्छायाः । मनोरथाना प्रवेशः सर्वत्रास्तीतिभाव । यस्मिन् विषये कस्यचिदभिलापो भवति तद्विषये सः शक्यमशक्य वा सर्वमपि कल्पन करोति । उक्त कुमारसम्भवेऽपि 'मनोरथानामगतिर्न विद्यते' इति (५-६४)

(गृहीत्वा पत्रमनुवाच्य मनस्येव पठित्वा सहर्षम्) सखे, प्रसन्नः शुद्धः ते तर्कौजुमानम् । मालविकाग्निमित्रे तृतीयेऽपि "नैतावता भवन्त प्रसन्नतर्कं मन्ये ।"

विदू०—यदत्र अभिलिखितं तत् श्रोतुमिच्छामि । वाचयतु भवान् येनाहमपि शृणुयामित्यर्थः ।

उर्वंशी—साधु-साधु सम्यगुक्तम् भवता । आर्य ! नागरः नगरे भवः परिष्कृत-रुचिः असि भवान् । नागरग्राम्यात् प्राकृताद् वा विरुद्धः शिक्षितः कलाऽभिज्ञ कलाधिलासी च जनः कथ्यते । बहूक्तमस्मिन् विषये कामसूत्रे ।

राजा—श्रूयताम् । (इति वाचयति लेखं पठति)

सोमिञ्ज इति—हे स्वामिन् प्राणेश्वर ! मया त्वयाऽहं अज्ञात्री त्वदीयानुराग लज्जन्या वेदना चाजानती सम्भाविता कल्पिता अनुमान-विषयी-कृता वा तत्तु तयाविषमनुमानमनुरक्तस्य मयि प्रीतिवतस्तत्र एवमेव तथा सत्यम् । मया तत्र विरहवेदना न ज्ञाता इति यदुक्तं भवता (२-११ श्लोके) तत् सत्यमेव । कश्चित् कालं नाहं ज्ञातवती यद् भवान् मयि अनुरक्त इति । अनन्तरमधुना ज्ञाते च तत्रानुरागे ललित सुकौमल पारिजाताना पारिजात-कुसुमाना शयनीय पारिजातकुसुमरचितशय्या यस्य यदर्थं तत् ललित-पारिजात-शयनीय तस्मिन् मम शरीरे मुखाः मुखकराः मुखयन्तीति मुखाः चन्दनवनस्य वाताः अगर्वनकुसुमगन्धमादाय ~~वास्त~~ ~~नीलानिलाः~~ अपि

शिखा ज्वालाऽस्ति यस्य स शिखी अग्नि स इव दाहका भवन्ति भविष्यन्ति ।
वर्तमानसामीप्ये तद् । एव स्वानुराग प्रकाशयन्ती नृपस्योपालम्भ निराचकार ।
शिखीवेत्यत्र धर्मलुप्तोपमा । चतुष्पदीच्छन्द । अत्र स्वानुरागप्रकाशकस्य
वाक्यस्योपपत्तिमत्वात् 'उपन्यास इति सन्ध्यङ्गमुक्त भवति । १२/१३।

उर्वशी—किं नु खलु साम्प्रत भविष्यति । पत्र पठित्वा किं कथयिष्यति ।
अनेन श्रौत्सुवयातिशयो व्यज्यते ।

अनुवाद—विदू० (देखकर) धरे देखो देखो । क्या है यह ? क्या यह
साँप की केंचुली मुझे खाने के लिए गिरी है ?

राजा—(ध्यान से देखकर) यह साँप की केंचुली नहीं है । यह तो
भूर्जपत्र पर लिखा हुआ लेख है ।

विदू०—ऐसा तो नहीं कि छिपे-छिपे उर्वशी ने भापका विलाप सुनकर
भोजपत्र पर समान प्रेम को प्रकट करने वाले अक्षर लिख कर छोड़
दिये हो ?

राजा—मनोरथो की पहुँच कहां नहीं है ? (लेकर, धीरे पढ़कर प्रसन्नता
के साथ) मित्र ! तुम्हारा अनुमान ठीक ही है ।

विदू०—इसमें जो लिखा है वह सुनना चाहता हूँ ।

उर्वशी—बहुत ठीक भाय ! तुम चतुर हो ।

राजा—सुनो । (पढ़ता है)

ह सुभग स्वामिन् ! तुमने जो यह सम्भावना की है कि तुम मुझपर अनुरक्त
हो और मैं तुम्हारे जैसे अनुरक्त (के अनुराग) को जानती नहीं, यद्यपि यह सच है
तो भी तुम्हारा प्रेम जानने के बाद से पारिजात के कोमल दायन पर भी
नन्दन वन की रुसाद वायु मेरे शरीर में अग्नि वन कर लगती है । १२-१३।

उर्वशी—न जान अब क्या कहेग ?

टिप्पणी—अविद—घट्ट और अथुत विचित्र वस्तु के घा जाने पर
'अविद अविद' इस पद का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है, देखो देखो, मात्रम

करो । आश्रय अर्थात् सहसा चीख उठने के लिए "अविहा अविहा" आता है । नास्त्यगति०—कुमारसभव मे भी कहा है—“मनोरथानामगतिर्न विद्यते ।” प्रसन्नस्ते तर्कः—ठीक अनुमान के लिए कालिदास ने प्रायः 'प्रसन्न' विशेषण का प्रयोग किया है । मालविकाग्निमित्र मे भी आया है—“नैतावता भवन्त प्रसन्नतर्कं मन्ये ।” लुलित शयनीये—लुलित पारिजातशयनीय येन तस्मिन् । जिसमे पारिजात के फूलों का बिस्तर बिखर गया है । स्वामिन् संभाविता—इस श्लोक मे अपने अनुराग की प्रकाशक बात तर्क (उपपत्ति) के साथ कही गयी है । इसलिए यहाँ "उपन्यास" नामक सन्ध्यङ्ग है । शिखीव—इसमे धर्मलुप्तोपमा है । शिखाः सन्ति यस्य सः शिखी=ज्वालाग्रो यः लपटो वाजो अग्नि ।

मूलपाठ—चित्र०—किं णु । भणित एव एदेण मलाण-कमल-णालो-वमेहि अंगेहि । [किं नु । भणितमेवैतेन म्लान-कमल-नालोपमैरङ्गैः ।]

विदू०—दिट्टिआ मए विअ बुभुक्षिदेन सोत्थि-वाअणिअं लद्धं भवदा समस्सासण-कालणम् । [दिष्ट्या मयेव बुभुक्षितेन स्वस्तिवाचनिकमिव लब्धं भवता समाश्वासनकारणम् ।]

राजा—समाश्वासनमिति किमुच्यते—

तुल्यानुरागपिणुन ललितार्थ-बन्धं
पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः ।
उत्पक्षमलं मम सखे मदिरेक्षणया-
स्तस्याः समागतमिवाननमाननेन ॥१४॥

उर्वशी—एद्य णो समभाआ मदी । [अत्रावयो समभागा मतिः ।]

राजा—वयस्य । अंगुली-स्वेदेन मे लुप्प्रन्तेऽक्षराणि । धार्यतामयं स्व-हस्ते निक्षेपः प्रियायाः ।

विदू०—(गृहीत्वा) तदो किं तत्तभोदी उव्वसी भवदो मणोरह-तरु-कुसुमं दसिअफले विसंबदिस्सदि ? [ततः किं तत्रभवती उर्वशी भवती मनोरथ-तरुकुसुमं दर्शयित्वा फले विसंबदिष्यति ?]

ध्याख्या—चित्र०—विनु इति सन्देह-निरसनाय । भणितं ध्यक्तीकृतमेव एतेन राज्ञा म्लानानि यानि कमलनालानि तानि उपमा येषा तैः तथाविधैः अङ्गैः । कमल-नालवत् म्लानैरस्याङ्गैरन्तर्गुहा प्रेमव्यथा स्पष्टैवेति भावः ।

वस्तुतस्त्वत्र 'कमलनालायमानैरङ्गैरिति पाठ एव वरीयान् । तत्र कमलनालवत् सुकुमारैरपि कण्ठवितैरङ्गैरित्यर्थः । उर्वस्या 'किं भविष्यतीति औत्सुक्यप्रदर्शने पार्श्वस्था चित्रलेखा पद्मपठनाज्जात रोमाश्च' नृपशरीरे वीक्ष्य कथयति नाधुना भणनस्यावश्यकता, तत्र पत्र-प्राप्ति-जात-सहर्षेण तस्य शरीरे यो रोमाश्च आविष्कृतः स स्वयमेव तस्य हृद्य-प्रकर्षमभिव्यनक्ति ।

विदू०—दृष्ट्या भागेन मया खलु भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा सा सजाता यस्मिन् स बुभुक्षितः तेन, स्वस्तिवाचनाल्लब्धम् उपायन स्वस्तिवाचनिकम्-स्वस्ति-वायनमिति पाठे स्वस्त्यर्थं वायनमुपहारो दक्षिणा वा इव लब्ध प्राप्त भवतः समाश्वसनस्य धैर्यस्य कारण साधनभूतं भूर्जपत्रम् । यथा कोऽपि बुभुक्षितो ब्राह्मणः मोदकादिक स्वस्तिवायन प्राप्य सन्तुष्टो भवति तथैव भवानिदम् पत्रं प्राप्य जातः ।

राजा—समाश्वसन सान्त्वमिति किमुच्यते; कोऽत्र सन्देहः समाश्वसने । यतः—

तुल्यानुरागेति—सखे ! तुल्यः समानो योऽनुरागः तस्य पिशुनम् सूचकम् समानप्रेमसूचकम् । "पिशुनो खलसूचको" इत्यमरः । ललितः सुन्दरः अर्थस्य बन्धः नियोजन यत्र, यद्वा ललितौ अर्थबन्धौ अभिधेय-वाक्यरचने यत्रेति ललितार्थ-बन्धम् मधुरार्थयुक्तम् सुन्दरशब्दार्थमयम् पत्रे निवेशितं लिखितं प्रियाया उदाहरणमुक्तिः काव्यखण्ड वा उद्गते पक्ष्मणी नेत्रलोमानि यस्याः सा उत्पक्ष्मा तस्याः मदिरे ईक्षणे यस्या सा तस्याः मदधूर्णितनेत्राया आनन मम आननेन समागत सगतमिव । अस्य पत्रस्य प्राप्तिः प्रियासमागम-तुल्यैव । अतः कथं न पत्र सना-श्वसनकारण भवेत् । मदिरा दृष्टिस्तु सगीतकलिकायाम् "सौष्ठवेन परित्यक्ता स्मेरापाङ्गमनोहरा । वेपमानान्तरा दृष्टिमंदिरा परिकीर्तिते"ति परिभाषिता । अत्र वसन्ततिलकावुक्षम् । उक्तं च 'उक्ता वसन्ततिलका तमजा जगौ यः ।' १४।

उर्वशी—अत्र आवयोः समभागा समाना मतिः । इयं चित्रलेखा प्रति उर्वरीयाः उक्तिः । चित्रलेखया यदुक्तं "भणितमेवेतेन म्लानकमलनालोप-मैरङ्गैरिति तदेव समर्थयति उर्वशी ।

राजा—वयस्य अगुलीस्वेदेन मे लुप्यते परिमृष्टानि भवन्ति अस्य पत्रस्य अक्षराणि । स्वेदोऽनानुरागजन्यः सात्त्विकभावः । धार्यताम् अथ स्वहस्ते निक्षेपः न्यासः प्रियायाः । निक्षेपरूपेण गृह्यतामिति कथनेन पुनरपि पत्रस्य देयता प्रतिपादयति ।

विदू०—(गृहीत्वा राज्ञो हस्तात् पत्रमादाय) ततः अनन्तर किं तत्रभवती मान्या उर्वशी भवतस्तव मनोरथ एव तद्दृश्यते तस्य कुसुम कुसुमरूप स्नेहाद्धितपत्रदर्शयित्वा फले समागमरूपे फले विसर्गदिष्यति मिथ्या भविष्यति । यथा तद्दृश्यते पुष्प प्रदर्श्य फलमपि जनयति तथैव उर्वशीमनोरथरूपस्य ततोः कुसुमतुल्य पत्र प्रेषयित्वा समागममवश्य साधयिष्यति ।

राजा अक्षर रक्षणाय विदूषकस्य हस्ते पत्र ददाति । विदूषकस्तु मूर्ख इव राज्ञोऽभिप्रायमन्यथैव गृह्णाति । स चिन्तयति यद् राज्ञा प्राप्तं समये प्रमाणरूपेण समुपस्थापनायैतत् पत्र तद्दृश्यते न्यस्तामिति । अतएवैयमुक्तिः ।

अनुवाद—चित्र०—क्या कहेंगे ? मलिन पढ़े हुए कमल-नाल जैसे अङ्गो से कह ही दिया है ।

विदू०—जैसे मुझ भुक्खड को स्वस्तिवाचनिक (मंगल कार्य के बाद बांटी जाने वाली मिठाई) मिल जाय वैसे ही आपको यह (पत्र) समाधान का साधन मिल गया है ।

राजा—समाधान का साधन क्या कहते हो ? मित्र ! मेरी प्रिया का पत्र पर लिखा हुआ वक्तव्य (गीत) पाकर जो मेरे समान ही उसके अनुराग को सूचित करता है और जिसमें मनोरथ अर्थ गुम्फित है, ऐसा लग रहा है मानो मंदिर नेत्रों वाली मेरी प्रिया का ऊपर उठी हुई पलकों वाला मुख ही आकर मेरे मुख से मिल गया हो । १४।

उर्वशी—इस विषय में हम दोनों का विचार एक-सा ही है ।

राजा—मित्र ! मेरी उँगलियों के पसीने से इसके अक्षर मिटे जा रहे हैं । इसलिये मेरी प्रिया की यह धरोहर अपने हाथ में रख लीजिये ।

विदू०—(लेकर) तब क्या माननीया उर्वशी आपके मनोरथ के वृक्ष में फूल खिलवा कर फल के विषय में उससे उलटा व्यवहार करेंगी ?

टिप्पणी—मुखकमलनालोपमैः—म्लानानि कमलनालानि उपमा येषा
तानि तैः । वास्तव मे यहाँ पर 'कमलनालायमानैरङ्गैः' पाठ अधिक
समीचीन है । उर्वशी के यह प्रश्न करने पर कि "मेरा पत्र देखकर अब न
जाने क्या कहेगा ?" चित्रलेखा का यह उत्तर देना कि "कमलनाल जैसे
कुम्हलाये हुए अङ्गो ने बता ही दिया है ।" ठीक नहीं । उसके स्थान पर
"इसके रोमाञ्चित (सुम्हारा पत्र देख कर इसके शरीर मे ऐसे हर्षजन्य रोगटे
खडे हो गये हैं जैसे कमलनाल पर होते हैं) शरीर ने बता तो दिया है"
यह उत्तर अधिक उपयुक्त है । स्वस्तिवाचनिकम्—स्वस्तिवाचनात्
लब्धम् (उपायनम्) आशीर्वाद प्रदान तथा स्वस्तिवाचन के उपलक्ष मे मिली
हुई भेंट या दक्षिणा । ललितार्थबन्धम्—ललित. सुन्दरः अर्थस्य बन्धः
यस्मिन् तत् । उदाहरणम्—उत् + आ + हृ + ल्युट् = गीत या कविता ।
मदिरेक्षणा—मदिरे ईक्षणो लोचने यस्या. सा । मदिरे दृष्टि की परिभाषा
'सगीतकलिका' मे यो दी है—सौष्टवेन परिश्रुक्ता स्मेरायाङ्गमनोहरा—
वेपमानान्तरा दृष्टिर्मंदिरा परिकीर्तिता ।

मूलपाठ —उर्वशी—हला जाव उवगमण-कादर हिवअ पज्जवथ्या-
वेमि दाव तुम से अत्ताण दसिअ ज मे खम त भणाहि । [हला यावदुपगमन-
कातर हृदय पर्यवस्थापयामि तावत्त्वमस्मै आत्मान दर्शयित्वा यन्मम क्षमं
तद् भण ।]

चित्र०—तह । [तथा] (इति तिरस्करिणीमपनीय राजानमुपसृत्य)
जेदु जेदु महाराजो ! [जयतु जयतु महाराज ।]

राजा—(ससभ्रममादरगर्भम्) स्वागत भवत्यै । (पार्श्वमवलोक्य) भद्रे ।
न तथा नन्दयसि मा सहया विरहिता तथा ।

सङ्गमे पूर्वहृष्टेव यमुनागङ्गाया यथा ॥१५॥

चित्र०—ण पढम महराई दीसदि, पछठा विज्जुल्लदा । [ननु प्रथम
मेघराजिदृश्यते पश्चाद्विद्युल्लता]

विदू०—(अपवार्यं) कह ण एमा उव्वसी उवगदा । तत्तभोदीए
उव्वसीए सहअरीए एदाए होदव्वम् । [कथ नैपा उर्वश्युपगता । तन-
भवत्या उर्वश्याः सहचर्यैतया भवितव्यम् ।]

राजा—एतदासनमास्यताम् ।

चित्र०—उर्वसी महाराजं शिरसा पणमिथ विण्णवेदि । [उर्वशी महाराजं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति ।]

राजा—किमाज्ञापयति ?

चित्र०—मम तस्मिं सुरारि-संभवे दुष्णए महाराजो एवञ्च सरणं आसी । नंपदं मा अहं मुह दंसणसमुत्थेण आआसिणावलिअं वाधिअमाणा मअणेण पुणोवि महाराजस्य अणुकपणीआ होमि । [मम तस्मिन् सुरारि-सम्भवे दुर्नये महाराज एव शरणमासीत् । माम्प्रतं साऽहं तव दर्शनसमुत्थेनायासिना बलवद् वाध्यमाना मदनेन पुनरपि महाराजन्या-नुकम्पनीया भवामि ।]

राजा—अपि सखि !

पर्युत्सुकां कथयामि प्रियदर्शना ता-
मार्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे ।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयो यतस्व
तां कौमुदीमिव समागमयेन्दु-विम्बे ॥१६॥

व्याख्या—उर्वशी—सखि ! यादृन् यावता कालेन अहम् उपस्थानो राजः समीपे स्थितौ उपगमने समीपगमने कातर भीत स्वमात्मान समवस्थापयामि दृढीकरोमि—उत्सन्निधाने स्थातु स्वमनसि शक्ति सच्चिनोमि तावत् त्वम् आत्मान दर्शयित्वा तिरस्करिणीमपनीय प्रकटित-स्वरूपा यन् मे अनुमतमनुकृतं तद् नए कथय ।

चित्र०—तथा एवमेव करिष्यामि । (तिरस्करिणीमपनीय दक्षिणावृत्तिः राजानमुपगृह्य राज्ञ समीपे गत्वा) जयतु-जयतु विजयेन वर्धताम् महाराजः ।

राजा—(सतम्भ्रमाद् विस्मय अन्य-मयान् आश्चर्यभङ्गं प्रियायाः वयस्येति प्रादर प्रदर्शयन्) स्वागत भवत्ये । (पार्श्वमवलोक्य इत आम्बतामिति बोधनाय) नद्रे !

न तथेति—तया मन्या उर्वस्या विरहिता विहीना त्व मा तया न नन्दयसि न मोदयसि यथा गङ्गाया विना सङ्गमे पूर्वदृष्टा पूर्वं प्रथम दृष्टा

यमुना न नन्दयति । यथा सङ्गमे प्रयागे सङ्गमा मिलिता यमुना दृष्टवान्
कश्चित् पश्चादेकाकिनी यमुना पश्यन् न तथा आनन्द भजते तथैव उर्वर्या
सह दृष्टा त्वमेकाकिनी न पूर्ववदानन्द साम्प्रत प्रयच्छसि । उपमालङ्कार ।
अनुष्टुप्वृत्तम् । १५ ।

चित्र०—तन् प्रथम मेघराजि घनपक्ति दृश्यते पश्चाद् विद्युत्लता ।
राजा पूर्वं चित्रलेखा यमुनारूपेण उर्वशी च गङ्गारूपेण वर्णिता । यमुना
श्यामला गङ्गा च शुभ्रा । चित्रलेखाऽपि तदेव वर्णित्वादृश्यमनुसृत्यात्मानं
मेघराजि, सखी च विद्युत्लतामिव वर्णयति ।

विदू०—मूर्खो विदूषकश्चित्रलेखासीन्दयमेव बहुमन्यमानस्तामेव
उर्वशीमनुमिनोति । अतः साश्चर्यं कथयति—कथमित्याश्चर्ये, तेषां उर्वशी
आगता । तर्हि एनया तत्रभवत्या उर्वश्या सहचर्या सख्या भवितव्यम् ।

राजा—एतदासनम् विस्तीर्णमिति शेषः । आस्यताम् अस्मिन् उप-
विश्यताम् ।

चित्र०—उर्वशी महाराज शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति स देशं प्रहिणोति ।
राजा—उर्वश्या विज्ञापनामाज्ञामिव गृहणन् पृच्छति—किमाज्ञापयति
देवी उर्वशीति ।

चित्र०—मम तस्मिन् सुरारे सम्भव उत्पत्तिर्यस्य तस्मिन् केचिदानव-
कृते दुनये दुराचारे विप्लवे वा महाराज एव शरणं रक्षक आसीत् । साम्प्रत
साऽहमुर्वशी तव दर्शनात् समुत्तिष्ठतीति दर्शनसमुत्थं अवलोकनजन्य-
त्वेन आयासिना कष्टप्रदेन मदनेन कामेन बलवत् प्रसह्य बाध्यमाना पीड्यमाना
पुनरपि महाराजस्य अनुकम्पनीयाऽनुधास्या भवामि । एकदाऽहं भवता दैत्य
बाधानो रक्षिता साम्प्रत पुनरपि मदनबाधातो रक्षणीया । शाकुन्तलेऽप्येतादृशी
उक्तिरुच्यते—“बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला” (तृतीयेऽङ्के)

राजा—अयि सखि ! पयुंस्सुखामिति—ता प्रियदर्शना सुदरी, प्रिय
दर्शन यस्यां सा ता पयुंस्सुखं मुत्त्वशिष्टता कथयति वर्णयति परं तस्यै इयमिति
कथयति ताम् तस्मिन्मिति पुरन्दरस्य आति मदनपीडा न पश्यसि । अयम् प्रणयो-

जुरागः उभयोः सदृशः समानः । अतः कौमुदीमिव ता नेत्राह्लादकरी इन्दुबिम्बे इव मयि तदाश्रयभूते समागमय सम्मेलय । यतस्व तदर्थं प्रयत्न कुर्वन्व । शाकुन्तलेऽपि समार्या उक्तिः तृतीयेऽङ्के लभ्यते—“तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिश मा पुनर्दहत्येव” तथा “राजा—भद्रे ! साधारणोऽयं प्रणयः ।” इति वसन्ततिलका वृत्तम् । १६।

अनुवाद—उर्वशी—सुनो । जब तक मैं पास जाने में डरते हुए हृदय को स्थिर करती हूँ तब तक तुम स्वयं को प्रकट करके जो मेरे अनुकूल बात हो वह कहो ।

चित्र०—ठीक है (तिरस्करिणी को हटाकर राजा के पास जाकर) महाराज की जय हो, जय हो ।

राजा—(हडबडाकर आदरपूर्वक) आपकी स्वागत है (बगल की ओर देखकर) भद्रे !

अपनी उस सखी से अलग होकर तुम मुझे ऐसे ही उतना आनन्दित नहीं कर रही हो जैसे सगम के स्थान पर पहले देखी हुई यमुना गंगा के बिना अकेली उतना आनन्दित नहीं बरती ।

चित्र०—पर पहले मेघमाला दिखाई देती है और बाद में विद्युत्-लता ।

विदू०—(एक ओर)—क्या ? यह उर्वशी नहीं आई है ? तो श्रीमती उर्वशी की सहचरी होगी ।

राजा—यह आसन है । बैठिये ।

चित्र०—उर्वशी सिर से महाराज की प्रणाम करके सूचित करती है—

राजा—क्या आज्ञा कर रही है ?

चित्र०—दानव से किये जाने वाले अत्याचार में महाराज ही मेरे रक्षक थे । इस समय मैं फिर से आपके दर्शन से उत्पन्न, कष्टकारक कामदेव से अत्यन्त पीडित हूँ और आपकी अनुकम्पा की पात्र हूँ ।

राजा—सखि ! तुम उस प्रियदर्शना को कामोत्सुक बता रही हो

उसके निमित्त पीडित पुरुषवत् को नहीं देखा रही हो । यह प्रणय तो हम दोनों का एक-सा है । इसलिये प्रयत्न करो और चाँदनी जैसी उर्वशी को इन्दुविम्ब जैसे मुझसे मिला दो ।

टिप्पणी —पर्यवस्थापयामि—परि + अवपूर्वक णिजन्त स्था धातु का लृट् उत्तम पु० का रूप । धर्यं बँधाती हूँ, ढाढस देती हूँ या स्थिर करती हूँ । तत्रभवत्या भवितव्यम्—यह वाच्य भाववाच्य मे है । अकर्मक धातु का प्रयोग या तो कर्तृवाच्य मे होता है या भाववाच्य मे जब कि सकर्मक धातु का कर्तृवाच्य या कर्मवाच्य मे होता है । भू-धातु अकर्मक है । इस वाच्य का कर्तृवाच्य रूप होगा—“तत्रभवत्या उर्वश्याः सहचरो एषा भवेत् ।” किमाज्ञापयति—चित्रलेखा कहती है “उर्वशी ने कहलाया है” किन्तु राजा नम्रता-पूर्वक उसके सन्देश का आज्ञावत् सम्मान करता हुआ पुछता है—‘क्या आज्ञा दी है ?’ बलवद् वाध्यमाना—बहुत अधिक पीडित । वाष् धातु से कर्मवाच्य मे धानच् । शकुन्तल मे भी बलवत् का प्रयोग इसी प्रकार नियाविशेषण के रूप मे हुआ है—‘बलवद्स्वस्थशरीरा शकुन्तला ।’ (तृतीय अङ्क) साधारणोऽ प्रणय —शकुन्तल के तृतीय अङ्क मे भी ऐसी ही बात कही है—तपति तनुयात्रि मदनस्त्वामनिश मा पुनर्दहत्येव ।’ ता कौमुदीमिव विम्बे—किसी किसी पुस्तक मे श्लोक का चतुर्थ चरण इस प्रकार है “तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ।” गर्म लोहा गम लोहे से जोड़ना ठीक होता है । पर्युत्सुकाम्—इस श्लोक मे वसन्ततिलका छन्द है । साधारणोऽयम्—शकुन्तल मे भी दुष्यन्त यही कहता है—“राजा—भद्रे ! साधारणोऽयं प्रणय ।”

मूत्रपाठ —चित्र०—(उर्वशीमुपेत्य) हला इदो एहि । णिमुअदर भीषण मअग पेवित्रअ पिअदमस्स द दूदिमिह सवुत्ता । [सखि, इत एहि । निभूततर भोषण मदन प्रेक्ष्य प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि सवृत्ता]

उर्वशी—(तिरस्करिणीमपनीय) अयि अणवधियद । नहु एव्व तुए उम्भिमिदमिह । [अयि अनवस्यिने । सधु एव त्वया उज्जिताऽस्मि ।]

चित्र०—(सस्मितम्) इदो मुहुत्तादो जाणिस्स का क उम्भिमिस्तदिति ।

आचारं दाव पडिवज्ज । [इतो मुहूर्ताज्ज्ञास्यामि का कामुज्जिष्यतीति ।
आचारं तावत् प्रतिपद्यस्व ।]

उर्वशी—(सपाध्वसमुपसृत्य मन्त्रीडम्) जेदु जेदु महाराजो । [जयतु
जयतु महाराजः ।]

राजा—(सहर्षम्) सुन्दरि !

मया नाम जितं यस्य त्वयाऽयं समुदीर्यते ।

जयशब्द. सहस्राक्षादागतः पुरुषान्तरम् ॥१७॥

(हस्ते ग्रहीत्वैनामुपवेशयति ।)

चित्र०—(उर्वशीमुपेत्य) सखि, इतः एहि मत्समीप आगमन निभृत्तर
पूडनर पर भीषण बहुकष्टकर मदन प्रेक्ष्य दृष्ट्वा ते प्रियतमस्य पुरुषवमो
द्रुतो सवृत्ता जाताऽस्मि । अनन्तरत्पन्नमाश्रित्य त्वा वक्ष्यामि ।

उर्वशी—(तिरस्करिणीम् अपनीय प्रत्यक्षमगच्छ) जयि अन्वन्धिते
अस्थिरे उत्साह-विशेषात् क्षिप्रकारिणि । तद्यु शीघ्रम् एव त्वया उज्जिष्ता
रपक्ताऽस्मि । “तद्यु क्षिप्रमर द्रुत”मित्यमर । स्वीयोत्साह गोसायितु चातुर्येण
उर्वशी चित्रलेखामेव भणति ।

चित्र०—(उर्वश्या अभिप्रायं विदित्वा सस्मितन) इतो मुहूर्तात् ज्ञास्यामि
का काम् उज्जिष्पति परित्यज्य गमिष्यति । राज्ञो प्रीतिं निमग्ना त्वमेव मा
वित्मृत्यु गन्ताऽऽसीति भावः । आचारं राज्ञः समक्षे उपस्थितौ ज्यादि-
शिष्टाचारं प्रतिपद्यस्व आचर । अत्र त्वं नाम सन्व्यङ्गम् परिहासस्य गम्य-
मानत्वान् ।

उर्वशी—(साध्वस सभयमुपसृत्य चित्रलेखा समीप गत्वा क्रीडया
लज्जया सहिर्नामनि मन्त्रीडम्) जयतु-जयतु महाराजः ।

राजा—(सहर्षम् उर्वशीदर्शनेन सजानहर्षः) सुन्दरि !

मया महेन्द्र—सहस्रम् अक्षीणि यस्य स सहस्राक्ष इन्द्रस्तस्मान् अन्यः
पुरुष इति पुरुषान्तरम् आगतः न प्राप्तः अयं जयशब्द जय इति शब्दः त्वया
यस्य मम विषये उदीर्यते उच्चार्यते तेन मया जितं नाम । त्वं न कदाचिदपि

महेन्द्राद्वैज्यस्य वस्यापि जयमुदीरितवती । तथा यत्नाम्प्रत मे वित्रयाद्यता
त्रियते तत्सत्यमेवाह जयी भविष्यामि । इन्द्रः गीतमशापवशात् शरीरे महस्र-
छिद्राणि प्राप्तवान् पश्चात् क्षान्ति छिद्राणि प्रसादवशात् अक्षीणि जास्तानीति
पौराणिकी कथा । वस्तुतस्तु वेदे पुरुषसूक्ते यत् कथितम् “सहस्रशीर्षं पृथ-
सहस्राक्ष सहस्रपात्” तत एवेव कल्पना । अत्र प्रगमन नाम प्रतिमुखसन्व्यङ्गम् ।
तदुक्त साहित्यदर्पणे “प्रगमन वाक्य स्यादुत्तरोत्तरम्” (सा० दर्प० ६-९७) ।
अनुष्टुप्चतुष्टम् । १७।

(एना उर्वशी हस्ते गृहीत्वा उपवेशयति । अनेन प्रेमानिशयो व्यज्यते ।
उपपूत्रकस्य विश्वातीणिचि प्रयोग.)

अनुवाद—चित्र०—(उर्वशी के पास जाकर) सखि ! इधर आयो ।
भीतर दबे हुए भयकर कामदेव को देखकर तुम्हारे प्रियतम का दूती बन
गयी हूँ ।

उर्वशी—(तिरस्करिणी को हटाकर) अरे चचले ! इतनी जल्दी तूने
मूझे छोड़ दिया है ।

चित्र०—(मुस्कराकर) इस क्षण के बाद मालूम होगा कि कौन किसे
छोड़ता है । शिष्टाचार का तो पालन करो ।

उर्वशी—(डरती डरती पास जाकर लज्जा के साथ) जय हो, महाराज
की जय हो !

राजा—(हर्ष के साथ) सुन्दरि ! जो जय शब्द तुम्हारे मुख से इन्द्र
को छोड़ कर और किसी के लिए नहीं निकला है वह यदि तुमने मेरे लिए
कहा तो मेरी जय ही है । १७।

(हाथ पकड़ कर उसे बैठाता है)

टिप्पणी—अनवस्थिते—अस्थिर विचार वाली ! मेरी ओर से मेरी बात
कहने आयी थी किन्तु यहाँ आकर राजा की ओर से बोलने लगी । इसीलिए
उर्वशी प्रेम की मीठी झिड़की देती हुई उसे 'अनवस्थित' कहती है । लघु—
त्रियाविशेषण है अतः नपु० लिङ्ग एकवचन । “लघु क्षिप्रमर द्रुतम्” ये
शौघ्र के पर्याय हैं । आचारम्—राजा के सम्मुख जाने पर प्रथम प्रणाम करना

चाहिये । उर्वशी यह बात भूलकर सीधे चित्रलेखा से बातें करने लगी । इसी लिए वह उसे स्मरण दिलाती है । प्रति + पद + लोट मध्यम पु० प्रतिपद्यस्व । समुदीर्यते—सम् + उद् + ईर् + कर्मणि लट् अन्य पु० एकवचन = कहा जाता है । मया नाम—इसका कर्तृवाच्य रूप होगा—“अह नाम जितवान् यस्य त्वं इम समुदीर्यसि ।

मूलपाठ :—विदू०—भोदि ! रण्णो पिअवअस्सी ब्रह्मणो किं न वन्दोअदि ? [भवति ! राज्ञः प्रियवयस्यो ब्राह्मणः किं न वन्द्यते ?]

(उर्वशी सस्मितं प्रणमति)

विदू०—सोस्थि भोदीए । [स्वस्ति भवत्यै ।]

(नेपथ्ये देवदूतः) चित्रलेखे ! त्वरयोर्वशीम्—
मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
भवतीष्वष्ट-रसाश्रयो निबद्धः ।

ललिताभिनयं तमद्य भर्ता

मरुतां द्रष्टुमनः सलोकपालः ॥१७॥

(मूर्धे आकर्णयन्ति । उर्वशी विपादं रूपयति ।)

चित्र०—सुद तुए देवदूअस्स वडणम् । ता क्षणुजानीहि महाराअम् ।
[श्रुतं त्वया देवदूतस्य वचनम् । तदनुजानीहि महाराजम् ।]

उर्वशी—(निःश्वस्य) णत्थि मे वाआविहवो । [नास्ति मे वाग्विभवः ।]

चित्र०—महाराअ ! उव्वसी विण्णवेदि-परावसो अअं जणो ता ।
महाराएण अव्वण्णणादा इच्छामि देअदेअस्स अणवरद्धं अक्कणअं काटुं ।
[महाराज ! उर्वशी विज्ञापयति परवशोऽयं जनः । तन्महाराजेनाऽभ्यनु-
ज्ञाता इच्छामि देवदेवस्य अनपरादृमात्मानं कर्तुम् ।]

राजा—(कथंकथमपि वचनं सस्थाप्य) नास्मि भवत्योरीश्वर-
नियोग परिपन्थी । विन्तु स्मर्तव्यस्त्वय जनः (उर्वशी वियोगदुःखं रूप-
यित्वा राजानं पश्यन्ती सहस्रस्या निष्क्रान्ता)

व्याख्या—विदू०—वन्द्यते इति वन्द्घातो कर्मणिरूपम् । स्मिनेन सहेति सस्मितम् ।

चित्र०—त्वय शीघ्रमुपसर । मुनिनेति—मुनिना नाट्यशास्त्रविधात्रा भरतेन अष्टौ शान्तवर्जिता. रसास्तेषामाश्रय सकला रसालकृत, प्रयोगः नाट्य-प्रयोगः भवतीषु अप्सर सु निबद्धः स्थापितः तम् ललित. मनोहरः अभिनयो यस्मिन् स त प्रयोगम् अद्य द्रष्टु मनः यस्य स एवभूतः द्रष्टुकामः लोकान् पालयन्तीति लोकपालाः तैः सह मरुता देवाना भर्ता अस्ति । सर्वे आकर्षयन्ति शृण्वन्ति । उर्वशी विपाददु ख रूपयति अभिनयेन प्रदर्शयति ।

चित्र०—त्वया देवदूतस्य वाक्य वचन श्रुतमाकर्णितमेव । तदनुजानीहि महाराजम् । महाराजात् शन्तुम् अनुज्ञा प्राप्नुहि ।

उर्वशी—तास्ति मे वाचोविभवऐश्वर्यं ववतु सामर्थ्यम् ।

चित्र०—महाराज । उर्वशी विज्ञापयति निवेदयति । परवश. पराधीनोऽय जन. । महाराजेन अभ्यनुज्ञाता गमनाज्ञा प्राप्य इच्छामि आत्मानम् अनपराधम् अपराधदोषमून्यम् कर्तुम् । अद्यपूर्वकाद् राघ्वातोः क्तःप्रत्ययः ।

राजा—(कथकथमपि येन केन प्रकारेण आत्मानं सस्थाप्य स्ववशे कृत्वा) भवत्योः युवयोरीदवस्य स्वामिनो नियोग आज्ञा तस्य परिपन्थी विरोधको नास्मि । नाह भवत्यामंहेन्द्राज्ञापात्रने वाधको भविष्यामीत्यर्थं । किन्तु स्मर्तव्योऽय जन । गमनानन्तर नाह विस्मर्तव्यो भवतीभ्याम् ।

उर्वशी वियोगपीडा नाट्यन्ती सख्या चित्रलेखया सह, राजान पश्यन्ती प्रेमवशात् तन्मुखमवलोकयन्ती निष्प्रान्ता बहिर्गता ।

अनुवाद—विदू०—श्रीमति । राजा के प्यारे ब्राह्मण मित्र को क्यों प्रणाम नहीं करती ?

(उर्वशी मुस्कराती हुई प्रणाम करती है ।)

विदू०—कल्याण हो आपका ।

(नेपथ्य में देवदूत) भरत मुनि ने जो आठो रसों से पूर्ण नाट्याभिनय आप लोगों को सिखाया था उसे देवपति इन्द्र लोकपालों सहित देखना चाहते हैं । १७।

(सब मुनते हैं । उर्वशी विपाद मूर्खित करती है ।)

चित्र०—देवदूत का वचन तुमने मुन लिया ? तो महाराज से चलने की आज्ञा ले लो ।

उर्वशी—मुझम बोलन की शक्ति नहीं है ।

चित्र०—महाराज ! उर्वशी निबदन करती है कि मैं परश्वर व्यक्ति हूँ ।

तब महाराज की आज्ञा लेकर जाना चाहती हूँ जिससे देवेन्द्र का अपराधिनी न बनूँ ।

राजा—(जैसे-तैसे धैर्य धर कर) मैं आपके स्वामी की आज्ञा म वाधक नहीं बनूँगा किंतु मुझे वाद रखना ।

(उर्वशी वियोगदुःख का अभिनय करती हुई राजा को देखती देखती सहली के साथ चली जाती है)

मूल पाठ—राजा—(मनि श्वासम्) वैयर्थ्यमिव चक्षुष सम्प्रति ।

विदू०—(पत्र दर्शयितुकाम) ण भुज्ज (इत्यर्घोक्तेनात्मगतम्)
अविद अविद मो ! उव्वसीदसणविम्हिदेण मए त भुज्जवत्त पव्वमट्टं वि
हत्ताणो ण विण्णादम् । (ननु भूर्ज—हा धिक् हा धिग् भा । उर्वशादर्शन-
विम्मितन मया तद् भूर्जपत्र हस्तात् प्रभ्रष्टमपि न विज्ञातम् ।)

राजा—किमसि वक्तुकाम ?

विदू०—वअस्स ! एतम्हि वत्तुकामो । मा भव अगाईं विमुच्चदु ।
दिढक्खु तुई वद्धभावा उव्वमो । ण मा इदो गदुअ एद अणुवघ सिटिली-
करेदि । (वयम्य ! एतदस्मि वक्तुकाम । मा भवान् अङ्गानि विमञ्चवन्तु ।
दृढ खलु त्वयि वद्धभावा उर्वशी । न सा इतो गत्वा एनमनुबन्ध शिथिली-
करोति ।)

राजा—ममाप्येतदेव मनसि वर्तत । तथा खलु प्रस्थाने—

अनीशया शरीरस्य हृदय स्ववश मयि ।

स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्त नि श्वसितैरिव ।

विदू०—(स्वगनम्) वेवदि मे हिअअ केत्तिए वेलाए तम्म भुज्जवत्तस्स
अत्तभवदा वअस्सेण णाम गेण्हिदव्वत्ति । (विपत्त मे हृदय कम्पा वेलाया
त्तस्य भूर्जपत्रस्यानभवता वयस्येन नामग्राह्यमिति ।)

द्वार्या—राजा—आम्प्रतमुवशाप्रयाणानन्तर चक्षुषो नेत्रस्य वयस्य
व्ययता ।

विदू०—(पत्र दर्शयितुं कामो यस्य स दर्शयितुमिच्छुः) ननु भूर्जं इत्यर्थमुक्त्वा स्वसविधे भूर्जपत्रं न पश्यन् मौनमालम्बते । कथयति च स्वमनसि धिङ् माम् । उर्वंश्याः दर्शनेन विस्मित इति उर्वंशीदर्शनविस्मितत्वेन उर्वंशी दृष्ट्वा चकितेन मया तद् उर्वंशीलिखितं भूर्जपत्रं हस्तात् स्वकरात् प्रभ्रष्टमघोषति-
तमपि न विज्ञातम् । विपूर्वकात् ज्ञाघातो क्तः प्रत्ययः ।

राजा—विदूषक किमपि अस्पष्टं कथयन्तं पृच्छति—किं वक्तुकामोऽसि किं कथयितुमुत्सुको भवानिति ।

विदू०—वयस्य मित्र ! एतदस्मि वक्तुकामः । अहमेतद् वक्तुमिच्छामि । भवान् अङ्गानि धैर्यं स्थिरता वा न विमञ्चतु त्यजतु । उर्वंशी स्वयि दृढं बद्ध-
भाषा बद्धो भावो यस्याः सा बद्धप्रणया । सा इतोऽस्मात् स्थानाद् गत्वा एव-
मनुबन्धमासक्तिं शिथिलीकरोति न्यूना करिष्यति ।

राजा—अमाप्यतदेव मनसि वर्तते । प्रस्थाने गमनवेलायां तथा—अनीशयेति शरीरस्य स्वदेहस्य अनीशया न ईष्टे इत्यनीशा तथा यस्याः अधिकारः स्वदेहस्यो परि नासीत् तथा उर्वंश्याः स्ववशं स्वाधीनं हृदयं मयि स्तनयोः कम्पः तस्य क्रिया तथा लक्ष्यैरनुमेयं निश्चसितैर्निष्वासेर्वा न्यस्तं स्थापितमिव । शरीरं तु पराधीनमतो हृदयं मयि स्थापितम् ।

विदू०—(स्वगतम्) मे हृदयं वेपते कम्पते । न जाने कदा प्रियवयस्यो भूर्जपत्रविषये मां पृच्छेत् । भूर्जपत्रं तु नष्टम् । अतएव मे मनसि भयं विद्यते ।

अनुवाद राजा—(निश्वासं छोड़ता हुआ) अब नेत्रों का कोई उपयोग नहीं ।

विदू०—(पत्र दिखलाने की इच्छा करता हुआ) तो भोज ..(इतना आधा बहकर मन में) अरे हाथ हाथ ! उर्वंशी को देखने में मैं ऐसा विस्मित हो गया कि मुझे हाथ से गिर जाने पर भी भोजपत्र का पत्र न चला ।

राजा—क्या कहना चाहते हो ?

विदू०—मित्र ! कहना यह चाहता हूँ कि आप साहस रखिए । उर्वंशी आप से बहुत प्रेम करती है । वह यहाँ से जाकर इस स्नेह को शिथिल नहीं कर देगी ।

राजा—मेरा विचार भी ऐसा ही है । उसने आते समय शरीर पर अधिकार न होने के कारण अपना मन, जिस पर उसका अधिकार है, मुझे सौंप दिया है । यह काम जिसके कांते हुए स्तनों को देखने से मालूम पड़ने वाले निःश्वासों ने किया है ।

विद्व०—(नन मे) मेरा मन बाँस रहा है । न जाने धीनान् किञ्च समय उक्त भूर्जपत्र का नाम ले दें ।

मूल पाठ—राजा—वयस्य ! केनेदानी उन्नमसमात्मानं विनोदयामि । (स्मृत्वा) उपनय भूर्जपत्रम् ।

विद्व०—(सर्वतो दृष्ट्वा सविपादम्) हा कहं न दिस्सदि । भो, दिव्वं क्वु तं भुज्जवत्ता गदं उव्वसीम्मणेण । (हा ! कथं न दृश्यते । भोः ! दिव्यं खलु तद्भूर्जपत्रं गतमुर्वशीमार्गेण ।)

राजा—(नासूयम्) सर्वत्र प्रमादी वैधेयः ।

विद्व०—णं विचिणु (उत्थाय) इदो भवे । एत्य वा भवे । (ननु विचि-
नुहि । इतो भवेत्, अत्र वा भवेत् ।)

(इति विचेतव्यं नाटयति ।)

(ततः प्रविशत्यौशीनरी चेट्री च विभक्तश्च परिवारः ।)

औशी०—हञ्जे गिउगिए ! सच्चं किं लदाघरं विसन्तो अज्जमाण-
वअसहाओ दिट्ठो तुए महाराओ ? (हञ्जे निपुणिके ! सत्यं किं लतागृहं
विशन्नार्यमाणवकसहायो दृष्टस्त्वया महाराजः ?)

चेट्री—अलीअं किं मए भट्टिणो विण्णविदपुव्वा ? (अलीकं कि मया
भट्टिणो विज्ञापितपूर्वा ?)

देवी—तेण हि लदाविडवन्तरिदा सुणिस्स दाव वीसंभमतिदाइं जं
तुए कहिद सच्चं न वेत्त । (तन हि लताविटपान्तरिता श्रोष्ये तावदि-
श्रम्भमन्त्रितानि यत्त्वया कथित सत्यं न वेत्ति ।)

चेट्री—जं देवोए रच्चदि । (यहेव्यै रोचत ।)

देवी—(परिक्रम्य पुरस्तादवलोक्य च) गिउगिए ! कि णु एदं वत्तं

णवचीभरं विअ इदो दक्खिणमारुदेण आणीअदि ? (निपुणिके ! किन्तु एतत्पत्रं नवचीवरमिवेतो दक्षिणमारुतेनानीयते ?)

चेटी—(विभाव्य) भट्टिणि । पडिवत्तणविभाविदक्खरं भुज्जवत्तं क्खु एदम् । हन्त, कह् देवीए एव्व णेउरकोडिलगम् (गुह्णीत्वा) कहं वाची-अदु एदम् । (भट्टिणि । परिवर्तनविभाविताक्षरं भूर्जपत्रं खल्वेतत् । हन्त कथं देव्या एव नूपुरकोटिलगनम् । कथं वाच्यतामेतत् ।

व्याख्या—राजा—वयस्य मित्रं केन साधनेन इदानीम् उन्मनसं खिन्नं स्व विनोदयामि गतस्तेदं करोमि । उद्विग्नं मनसं उन्मनास्तम् ; कथं नाम मया खिन्नं मनो विनोदयितव्यम् । भूर्जपत्रं स्मृत्वा—उपनयं देहि मे भूर्जपत्रम् ।

विदू०—सर्वंती दृष्ट्वा सखेदम् कथयति । हा । कुतो गतम् । कथं न दृश्यतेऽन । तद् भूर्जपत्रं दिव्यं द्युलोकसम्बन्धिमासीत् । तेन यथा सा दिव्या-ऽम्सराः गता तथैव तद् भूर्जपत्रमपि गतम् । दिव्यत्वेन तस्मिन् सचेतनत्वमासीत् ।

राजा—असूयया सहितम् यथा स्यात्तथा सक्रोधम् । सर्वं न प्रमादी असावधानो वैधेयः भूहस्त्वम् । “भूह्वेधेयवालिशा ” इत्यमरः ।

विदू०—ननु विचिनुहि अन्वेपय तद् भूर्जपत्रम् । उत्थाय इतस्ततो मार्गणाभिनयं करोति । ततो औशनसी चेटी परिचारिकाश्चागच्छन्ति ।

औशी०—चेटी पृच्छति—निपुणिके । किं त्वया आर्यमाणवकं विदूषक-सहायो यस्य स एवविध—सह अयं गच्छति ससहायं सहगामीत्यर्थं-महाराजस्त्वया लतागृहं लतावेष्टितं मण्डपं प्रविशन् दृष्टोऽवलोकितः ।

चेटी—किं मया भट्टिनी स्वामिनी मया पूर्वम् अलीकं मध्येव विज्ञापिता सूचिता । पूर्वं विज्ञापिता इति विज्ञापितपूर्वा । निम्नकोटिका भृङ्गा स्वामिनी भट्टिनीति सम्बोधयन्तीति नाट्यशास्त्रनियमः ।

देवी—तेन त्वत्कथं परीक्षितुमहं ततावित्पे अन्तरितोऽऽत्मानं सगोप्य तावद् महाराजस्य विदूषकेन सह विश्रम्भे एवान्ते विदवांसपूर्वकं मन्त्रिणानि गुप्तवर्चां शोषयामि । ज्ञास्यामि चैव यत् त्वया कथितं तत्सत्यमलीकं वेति ।

चेटी—यद् देव्यै रोचते । ये भवन्मनः प्रीत भवति तथा कुरुष्व । 'रुच्य-
थाना प्रीयमाणः' इति सूत्रेण चतुर्यो ।

देवी—परिश्रम्य इतस्ततो द्वित्रिपदानि चलन्ती अवलोक्य । पत्र पश्यन्ती
कथयति—निपुणिके । नवचीवर दूतन मुनिवस्त्रमिवेद किमपि पत्र दक्षिणेन
मास्तेन वायुना इत आनीयते ।

चेटी—विभाव्य हृष्टा-विपूर्वकात् एयन्ताद् भूधातोर्ह्यपिरूपम् । भट्टिनि
स्वामिनि । परिवर्तनेन विभावितानि अक्षराणि यस्मिन् एनादृश खलु भूर्जपत्र-
मेतत् । अहो एतत् देव्या एव द्रुपुरस्य कोटी अग्रभागे लग्नम् । कथं वाच्यम्
एतत् पठितव्यं किमत्र लिखितमिति ।

अनुवाद—राजा—मित्र ! मन खिन्न हो रहा है । किससे अपना मनो-
विनोद करूँ ? (याद करके) भूर्जपत्र लाओ ।

विदू०—(सब ओर देखकर विषाद के साथ) हाय ! दिखना ही नहीं ।
अरे ! वह भूर्जपत्र दिव्य था । जैसे उर्वशी गयी वैसे ही वह भी चला गया ।

राजा—(क्रोध के साथ) मूलं, हर जगह असावधानी करता है ।

विदू०—ढूँडो तो । इधर होगा, या यहाँ होगा । (ढूँडने का अभिनय
करता है)

(तब औशीनरी, चेटी और रानी के परिचारक आते हैं)

औशी०—अरे निपुणिके ! क्या तूने सचमुख आर्य माणवक के साथ
महाराज को लतागृह में प्रविष्ट होते देखा था ?

चेटी—क्या मैंने पहले आपको कभी झूठी सूचना दी है ?

देवी—तो लताओ की डालियों में छिन्न कर इन दोनों का गुप्त वार्तालाप
सुनो कि तूने जो कहा वह सच है या नहीं ।

चेटी—जैसा आपको अच्छा लगे ।

देवी—(बुद्ध चलकर और देखकर) निपुणिके ! दक्षिणी वायु क्या नये
चीवर जैसे इस भोजपत्र को इधर (उड़ाए) ला रही है ?

चेटी—(देखकर) मालकिन ! उलटने पुलटने से इसके अक्षर दिखायी दे रहे हैं । यह भोजपत्र ही है । अरे ! यह तो आपके नूपुर की नोक में ही अटक गया । पढ़ इसे ।

मूल पाठ—देवी—अवलोएहि दाव एदम् । जदि अविदुद्दम् तदो सुणि स्सम् । (अवलोकय तावदेतत् । यद्यविदुद्द तद् श्रोष्यामि)

चेटी—(तथा कृत्वा) भट्टिणि । त एद कोलीण विअम्भदि महारअ उद्दिस्सिअ उव्वसी अक्खरो कव्ववन्धो ति तक्केमि । अज्ज माणवअण्य मादादो अम्हाण हत्य आगदम् । (देवि ! तदेतत्कोलीन विजुम्भते । भट्टारकमुद्दिश्य उर्वश्यक्षर काव्यबन्ध इति तर्कयामि । आर्यमाणवकप्रमादा दावयोर्हस्तमागतम् ।)

देवी—ण गिहीदत्था होहि । (ननु गृहीतार्या भव ।) (चेटी वाचयति)

देवी—एदेण एव्व उव्वारेण त अञ्जराकामुअ पेक्खम्ह । (एतेनैवो पचारेण तमप्सर कामुक प्रेक्षावहे ।)

चेटी—ज देवी आणवेदि । (यद्देव्याज्ञापयति)

(इति परिजनसहिते लतागृह परिक्रामत)

विदू०—भो वअस्स ! कि एद पवणवसगामि पमदवणसमीवगद काडापव्वदपज्जते दीसदी ? (भो वयस्य ! किमेतत् पवनवशगामी प्रमदवणसमीपगतक्रीडापर्वतपर्यन्ते दृश्यते ?)

राजा—(उत्थाय) भगवन् ! वसन्तसख मलयानिल ।

वासायं हरसम्भूत सुरभि यत्पीप्य रजो वीरुधाम्,
कि मिथ्या भवती हृतेन दयितास्नेहस्वहस्तेन मे ।

जानीते हि भवान् विनोदनशतैरेवविधैर्धारित,
वामातं जनमञ्जसाऽभिभवितुं नालम्बितप्रार्थनम् ॥१६॥

ध्याएरा—देवी—एतद् भूजपत्र तावदवलाक्य । यदि अविदुद्दह्य भवत् सदा श्राप्यामि ।

चेटी—(तथा कृत्वा वाचयित्वा भूजपत्रम्) तदेतत्त वीरिनं लोतापवादा विजुम्भते यतत् । ' कौलीन पद्मिभ्यु ङे कुलीनत्वापवादयो ' इति परणि । भट्ट-

रक महाराजमुद्दिश्य लक्ष्मीकृत्य उर्वंश्यक्षरः उर्वंश्या अक्षराणि यस्मिन् स एवभूतः
वाव्यवन्ध काव्यरचना इति तर्कयामि अनुमिनोमि । आर्यमाणवक्स्य विद्रूपकस्य
प्रमादादनवधानादावयोर्हस्तमागतम् । भट्टारकमिति वचन नाट्यशास्त्रनियमा-
नुकूलम्—‘भट्टारको नृपे नाट्यवाचा देवे तपोधने’ इति मेदिनी ।

देवी—ननु गृहीतार्था गृहीतोऽर्थो यथा सा ज्ञाताभिप्राया भव । अस्मिन् यन्
लिखित तद्विज्ञापयेत्यर्थः । (चेटी वाचयति पत्र पठति)

देवी—एतेनैव उरचारेण अनेनैव पूजाद्रव्येण तमप्सरःकामुकम्—कामयते
इति कामुकः अप्परसः कामुक इत्यप्सरःकामुकस्त प्रेक्षावहे द्रक्ष्यावः । “रिक्त-
हस्तेन नोपेयाद्वाराजान देवता गुह”मिति मनुवचनाद्राज्ञः समीपे किमप्युपायन
गृहीत्वैव गन्तव्यम् । इदं भूर्जपत्र राज्ञोऽस्तीवप्रियमतः एतदेव गृहीत्वा तमु-
पस्थास्यावः ।

चेटी—यद्देवी आज्ञापयति । यथा भवत्या आदेशस्तथैव करिष्ये । (एव
‘परस्पर समन्वय उभौ परिजनेः परिचारकैः सहिते लतागृह परिश्रामतः गमना-
‘मिनय कुरुत.)

विद्रु०—(राजान कथयति) भोः एतन् पवनवशेन पवनगत्यानुसारेण
गच्छतीति पवनवशगामी एतन् किं प्रमदवनस्य समीपे य श्रीडापवंतस्तस्य पर्यन्ते
समीपे वर्तते ? वायुना हियमाण किमपि दृश्यते । न जाने भूर्जपत्रमेतन् किमि-
त्यादाहूते विद्रूपवः । प्रमदवन नगरस्य समीपे राज्ञो विहारोपवन भवति ।
तदुक्तं हलायुधे—‘विज्ञेय प्रमदवन नृपस्तु यस्मिन् शुद्धान्तैः सह रमते पुरोप-
वणम् ।’ इति ।

राजा—(उत्थाय) भगवन् धसन्तस्य सखा वसन्तसखस्तत्सद्बुद्धी, हे वसन्त
सुन्दर मलयानिल दक्षिणपवन !

करुणापरः कामिना व्यथा जानासि । अतएवोपरि 'वसन्तसखे'ति सम्बोधन
सङ्गच्छते । भवान् एवविधैः पत्रलेखनवाचनादिभिः विनोदनानां कृतानि
तरेवविधैः मनोरञ्जनसाधनैः धारित जीवितं यथाकथञ्चिद् धियमाणं कामार्तं
विरहपीडितं आलम्बितप्रार्थनं जनमञ्जसा साधु अभिभवितुं तिरस्कृतुं वा न
जानीये । प्रणयिषु सदा दयालुस्त्वमिति भावः । "कामार्तं जनमञ्जना प्रति
भवानालक्षितप्रार्थनम्" इति पाठे तु पुराणप्रसिद्धा दायोरञ्जनायाश्च प्रणय-
कथाञ्जानुसन्धेया । अत्र शार्दूलविक्रीडित छन्दः । १२६।

अनुवाद—हे वसन्त के मित्र मलय पवन ! तुम सुगन्ध प्राप्त करन के
लिए लतागो के पुष्पो पर सञ्चित रज उडा ले जाओ । मेरी प्रिया के प्रेम-
पत्र का हरण करने से तुम्हें क्या लाभ ? तुम तो कामार्तं जनो के प्राणो को
इस प्रकार के सैकड़ो मनोरजनो से स्थिर रखना जानते हो । प्रार्थना करने
वाले का तिरस्कार नहीं करते । (अथवा—योंकि तुमने भी तो मञ्जनाके
प्रणय की प्रार्थना की थी ।)

टिप्पणी—अत्रास्ति काचित् पुराणकथा—एकदा बुञ्जरनाम्नः प्लवङ्ग-
बुञ्जरस्य पत्नी अञ्जना नगरोपकण्ठे शिशिरवामु सेवमाना आसीत् । तत्र
मस्ताशुवायास्तस्याः सौन्दर्यं दृष्ट्वा पवनः कामार्तों जातः । पश्चात् तयोः
सङ्गमेन हनुमतो जन्म बभूव ।

निपुणिका—भट्टिणि ! एदस्त एध्व घण्णसण वट्टदि । [देवि ! एतस्य
एवान्वेषणं वतते ।]

देवी—पेवरागमि । [प्रेसे ।]

विदू०—भो ! मिलाप्रमाणवेगरच्छविना मोरपिच्छेण विप्लसद्धोग्निः ।
(भोः ! मिलाप्रमाणवेगरच्छविना मयूरपिच्छेन विप्रलम्बोऽस्मि ।)

राजा—गवंदा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः ।

देवी—(सहसोपगृह्य) घग्जउत्त । घाल घावेणेण । एध एध्व त भुग्जयत्तम् ।
(सार्धपुत्र ! घल्मावेणेन ! एतदेव तद्भूर्जपत्रम् ।)

राजा—(गल्भ्रःमारमगतम्) अये ! इय देवी । (प्रकाशम्) स्वागत

देवी—दुरागद दाणि सवृत्तम् । (दुरागतमिदानी सवृत्तम् ।)

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य ! किमत्र प्रतिविधानम् !

विदू०—(जनान्तिकम्) लोत्त्रेण सूइदस्स कुभिलअस्स अत्थि वा पडिव-
अणम् ? (लोत्त्रेण सूचितस्य कुम्भीरकस्य अस्ति वा प्रतिवचनम् ?)

राजा—(अपवार्यं) मूढ ! नाय परिहासकस्तः । (प्रकाशम्) नेद पत्र मया
मृग्यते ! तत्त्वल्लु मन्त्रपत्र यदन्वेषणाय ममायमारम्भ ।

देवी—जुज्जइ अणो सोहणा पच्छादेदुम् । (द्युज्यत आत्मनः सौभाग्य
प्रच्छादयितुम् ।)

विदू०—भोदि ! तुवरेहि से भोजणम् । पित्तोवसमणेन सुत्थो होदु ।
(भवति । त्वरयस्वास्य भोजनम्, पित्तोपशमनेन स्वस्थो भवतु ।)

व्याख्या—निपु०—भट्टिणि स्वामिनि । एतस्यैव भूर्जपत्रस्यान्वेषण
मार्गणं वर्तते ।

देवी०—एतत्तु अहमपि प्रेक्षे पश्यामि ।

विदू०—भो ! म्लायमाना मलिनीकृता केसराणा कुमुमकिञ्जल्काना छविः
शोभा येन तेन म्लायमानकेसरच्छविना मयूरस्य पिच्छेन विप्रलब्धः वञ्चितः
अस्मि । मयूरेण स्वपिच्छेन पत्रमपहृत भवेदित्याशङ्कते विदूपकः ।

राजा—अह मन्दभाग्यं मन्द भाग्य यस्य स भाग्यहीनोऽह सर्वथा सर्व-
प्रकारेण हतो वञ्चितः अस्मि ।

देवी—महसाऽऽकितमेव उरमृत्यु समीपमागत्य वदति—आर्यपुत्र ! अलम्
आवेगेन आवेगं परित्यज । 'अप्रयुज्यमानाऽपि क्रियाकारकविभक्तौ प्रयोजिवा'
इत्यनुसारेण अलयोगे तृतीया । एतदेव तद्भूर्जपत्र यद् भवताऽन्विष्यते ।

राजा—ससम्भ्रमम् सम्भ्रमेण सहितं समयमित्यर्थं—घ्नये कथं देवी उप-
स्थिता । 'सम्भ्रमः साध्वमेऽपि स्यादिति' कोप । देव्यै स्वागतं निवेदयामि ।

देवी—राजानमुपहसन्ती कथयति—स्वागतमिति भवतो वचनं न साधकम्-
यस्तुतस्तु मेऽज्ञागमनं दुरागतं, भवतः पीडाजनकत्वादशुभमेव जातम् ।

राजा—(जनान्तिकम्—अन्यातपवार्यं केवलो विदूपको यया शृणोति

तथा कथयन्) वसस्य मित्र ! अत्र किं प्रतिविधानं कः प्रतीकारः । स्वरहस्य गोपायितुं मया किं कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

विदू०—(विदूषकोऽपि निभृतमेव वदति) लोप्सेण चोरितेन वस्तुना सूचितस्य विज्ञापितस्य कुम्भीरकस्य चोरस्य किं भवति किमपि प्रतिवचनम् प्रत्युत्तरम् । यथा चोरितेन वस्तुना सह गृहीतः चोरः चौपंगोपनाय किमपि वक्तुमसमर्थो भवति तथा भवानपि भूर्जपत्रेण सह गृहीतः किमपि वक्तुमसमर्थ एव ।

राजा—औशीनरी चेटो च परिहरन् विदूषकं कथयति सुगुप्तम्—मूर्ख ! अयं परिहासस्य कालः उचितवेला नास्ति ।

ततो राज्ञीं दृष्ट्वा कथयति—नाहमिदं पत्रमन्विषामि । ग्रहन्तु किञ्चिन्मन्त्रपत्रं राजकीयमन्त्रणासम्बन्धिपत्रं मार्गयामि । तदर्थमेव ममाप्यारम्भः प्रयासः ।

देवी०—दुज्यते युक्तं भवति घ्रात्मनः स्वयं सौभाग्यं प्रणयित्वा प्रच्छादयितुं निगूहितुम् । घ्रात्मनः सानुरागत्वगोपनाय एतादृक्कथनं समीचीनमेव ।

विदू०—भवति देवि ! अस्य राज्ञो भोजनमिष्टं वस्तु त्वरयस्व शीघ्रं प्रदेहि । पित्तस्य वर्धितस्योष्णः उपशमनेन शान्त्याऽयं स्वस्थः प्रकृतिस्थो भवतु । यथा क्षुधितस्य पित्तं वर्धते तेन स व्याकुलीभवति, भोजनेन पुनः पित्तं शाम्यति, तथैवायं पत्रस्य दृते व्यथितः । तच्छीघ्रं भूर्जपत्रप्रदानेन स्वस्थोऽयं भवत्या विधातव्य इत्युपास्यः ।

अनुवाद—निपु०—देवि ! इसी (भूर्जपत्र) की खोज की जा रही है ।

देवी—देख रही हूँ ।

विदू०—केसर की कान्ति को भी फीका कर देने वाले मोरपक्ष ने मुझे पत्र से वंचित किया है । (मोर अपनी पूंछ से भूर्जपत्र को खींच ले गया होगा ।)

राजा—मैं अभागा तो सब तरह से मारा गया ।

देवी—(अचानक पास आकर) आर्यपुत्र ! घबराइये मत । यही है वह भूर्जपत्र ।

राजा (हडबडाकर—मन म) अरे ! यह तो रानी है (स्पष्ट) देवी का स्वागत है ।

देवी—इस समय तो मेरा आना (स्वागत नहीं) दुरागत ही हो गया ।

राजा—(एक ओर) मित्र ! अब क्या उपाय किया जाय ?

विदू०—(एक ओर) क्या घुराई हुई वस्तु के साथ पकड़ा गया चोर भी कोई उत्तर दे सकता है ?

राजा—(एक ओर) मूर्ख ! यह उपहास का समय नहीं है । (सबको सुनाकर) मैं यह पत्र नहीं ढूँढ रहा था । वह तो राजकीय मन्त्रणा का एक पत्र था जिसके लिए यह प्रयत्न चल रहा था ।

देवी—अपना स्नेह-सीमाय छिपाना ही चाहिये ।

विदू०—देवि ! उसका भोजन शीघ्र ही दे दीजिये । पित्त की शान्ति से इस स्वस्थ हो जाने दीजिये ।

मूल पाठ—देवी—णिवणिए ! सोहण खु वह् मणेण आसासिदो वअस्सो । (निपुणिके ! शोभन खलु ब्राह्मणेनाश्वासितो वयम्ये ।)

विदू०—ण पेक्ख ! आसासिदो वअस्सो चित्तभोजणेण । (ननु प्रेक्षस्व आश्वासितो वयस्यश्चित्रभोजनेन ।)

राजा—मूर्ख ! बलादपराधिन मामापादयमि ।

देवी—णत्थिभवदो अवरारो । अहं एव्व अवरारुघा जा पडिउल्लदसणा भविअ अग्गदो चिट्ठामि । इदो गमिस्सम् । (नास्ति भवतोऽपराध । अहमेवापराद्धा या प्रतिकूलदर्शना भूत्वा अप्रतस्तिष्ठामि । इतो गमिष्यामि ।)

(इति कोप नाटयित्वा प्रस्थिता)

राजा—अपराधो नामाह प्रसीद रम्भोट विरम सरम्भात् ।

सेव्यो जनश्च कुपित कथं नु दासो निरपराध ॥२०॥

(इति पादयो पतनि)

देवी—(आत्मगतम्) मा खलु लहुहिमआ अणुणअं बहु मण्णे । किं दु दक्खिण्ण किदपच्छावदस्स भाएमि । (मा खलु लघुहृदया अनुनयं बहु मन्ये, किन्तु दाक्षिण्यकृतपश्चात्तापस्य विभेमि ।)

(इति राजानमपहाय सपरिवारा निष्क्रान्ता)

व्याख्या—देवी—निपुणिके ! शोभन सुष्ठु प्रकारेण विदूषकेन आत्मनः प्रियवयस्य, आश्वासितः सन्तोष प्रापितः ।

विद् ०—ननु इति अनुनये । प्रेक्षस्व पश्य । प्रियवयस्यः चित्रेण विलसणेन भोजनेन भोजनचर्चया आश्वासितः सन्तोषितः ।

राजा—मूर्ख ! हठात् मा अपराधिन कृतागसमापादयसि करोषि ।

देवी—क्रोधमिश्रया वाचा भणति—नास्ति कोऽपि भवतो दोषः । दोषस्तु ममैव । अपपूर्वकाद् राष् धातोः कर्तरि क्तः अत्ययः । या प्रतिकूलमतिष्ट दर्शनं यस्या, सा एतादृशी भवतोऽप्रतः समुक्षे तिष्ठामि । पतिव्रतया सदा पत्युरनुकूलया चरितध्वम् । परमह भवदिच्छाविच्छमत्र तिष्ठामि । तेनापराधस्तु ममैव । (इत्युक्त्वा त्रोधभावस्याभिनय कुर्वन्ती प्रस्थिता गन्तुं प्रवृत्ता)

राजा—हे रम्भे बदलीस्तम्भौ इव उरु यस्या सा रम्भोहस्तत्सबुद्धी, प्रसौद प्रसन्ना भव । अहमेवापराधी । नामेत्यव्ययम् । सरम्भात् त्रौघाद् विरम । त्रौघ शरिहरेत्ययः । यदि सेवितु योग्यः सेव्यः स्वामी कुपितः अप्रसन्नः तदा दासः सेवकः निरपराधः दोषरहितः कथं स्यात् । दासेन सदा स्वामी प्रसन्नो द्रष्टव्यः । यदि स्वामी ऋपस्तदा दासस्यैव दोषो निश्चेतव्यः । तेन ऋद्धाया भवत्या ममैव दोष इति स्वीकार्यम् । इयमार्या जातिः । १० ।

देवी—(आत्मगतम्) नाहं लघु अस्थिर क्षुद्र वा हृदय यस्या. सा तादृशी अस्मि या कृत्रिममनुजय पादपतनादिक बहु मन्ये । किन्तु दक्षिणस्य भावो दाक्षिण्य छन्दानुवर्तनरूप यन्मम दाक्षिण्यप्रत सज्जन्यो यः भावी पश्चात्तापोऽनुत्तापः तर्हितयित्वा विभेमि । यद्यपि मामनुनयो द्रावयति तथापि भाविनः पश्चात्तापाद् भीताऽस्मि ।

(एव चिन्तयता राजान सत्रं च स्थित परिवयज्य दासीसहिता क्रियंता)

अनुवाद—देवी—निपुणिके । ब्राह्मण (विदूषक) ने अपने मित्र को अच्छा आश्वासन दे दिया ।

विदू०—जरा देखिये तो । मैंने मित्र के विलक्षण भोजन का आश्वासन दिया है ।

राजा—मूर्ख ! तुम मुझे जबदंस्ती अपराधी ठहरा रहे हो ।

देवी—अपराध आपका नहीं है । अपराध मेरा है जो मैं इनके न चाहने पर भी इनके आगे खड़ी हूँ । यहाँ से चलूंगी । (कोप का अभिनय करके चलने लगती है)

राजा—अपराधी मैं हूँ । आप प्रसन्न हो जाइये । क्रोध छोड़ दीजिये । यदि स्वामी को शोध हो तो सेवक निरपराध कैसे माना जा सकता है ?

(पैरो पर गिरता है)

देवी—(मन में) मैं इतनी ओछे हृदय की नहीं हूँ कि (बनावटी) खुशामद को बहुत कुछ मान लूँ किन्तु डरती हूँ कि मेरे दाक्षिण्य (अनुकूल आचरण के नियम) के कारण बाद में मुझे पश्चात्ताप न हो ।

(राजा को छाड़ कर नौराजियों के साथ चली जाती है)

मूल पाठ—विदू०—पाउसणदी विअ अप्पसण्णा गदा देवी । णं उट्टेहि । (प्रावृष्णदीवाऽप्रसन्ना गता देवी ननूत्तिष्ठ)

राजा—(उत्थाय) वयस्य ! नेदमुपपन्नम् । पश्य—

प्रियवचनकृतोऽपि योपिता

दयितजनानुनयो रसाहते ।

प्रविशति हृदयं न तद्विदा

मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः ॥२१॥

विदू०—अणुक्त्त एव्व एद भग्गो । ण हु अक्खिदुक्खिदस्स पमुहे दीपनिहा सहेदि । (अनुकूलमेवैतद् भवत । न सत्त्वक्षिदु रित्तम्य प्रमुत्ते दीपशिखा सहते ।)

राजा—भवम् । उर्वशीगनमनसोऽपि मे देव्या स एव बहुमानः । किन्तु प्रणिपात-सङ्घनादहमस्या धैर्यमवलम्बयिष्ये ।

विदू०—चिट्टटु दावधीरदा । युभुवित्तट वम्हणस्त जीविद अयसम्पदु
भवम् । सभभो गु प्हाणभोजने सेविदुम् । (तिठत्तु तावद् धोरता । युम्-
सितद्राह्यनस्य जीवित्तमवलम्बता भवान् । समयं तलु स्नानभोजने
सेविदुम् ।)

राजा—(उध्वंमवलोक्य) कथमर्थं गत दिवसस्य । अतः सन्तु—

उज्जानं शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिषी

निभिद्योगरि कर्णिकारमुत्तान्याशेरते पट्पदाः ।

तत्तु यारि विहाय तीरनलिनी वारण्डक सेवते

श्रीहावेदमनि चैप पञ्जरशुक बलान्तो जल याचते ॥२२॥

(इति निष्क्रान्तौ)

द्वितीयोऽहः (गमाप्तः)

रेफो लघुः गुरुश्च भवन्ति तथा द्वितीयचतुर्थपादयोः नगणजगणो जगणरेफो च सन्ति । २१।

विदू०—एतत्तस्याः इतो गमनं भवतोऽङ्गुलमिष्टमेव । न खलु अङ्गा दुःखितः चक्षुरोगपीडितः तस्य प्रमुखे समुखे दीपस्य सिन्ध्वा ज्योतिः सहते मह्या भवति । यथा चक्षुरोगपीडिताया दीपसिन्ध्वा कण्टका तथैव सा तुभ्यं वर्तते ।

राजा—भवंम् एव न वाच्यम् । उर्वशी गत मनो यस्य स तादृश-स्यापि मे मम देव्याभोशीनर्यां स एव पूर्ववदेवापूर्वंः बहुमान आदरः । विन्तु प्रणिपातस्य पादपतनादिना कृतप्रार्थनाया लङ्घनाद् अनादरादहं तस्या भोशीनर्यां विषये धैर्यमवलम्बिष्ये तस्या अप्रसादविषये सचिन्तो न भविष्यामि ।

विदू०—तिष्ठतु तावद् धीरता । तव नाम धीरता अस्तु । अहं तु बुभुक्षितो न धैर्यं धारयितुं शक्नोमि । बुभुक्षितस्य क्षुधिनस्य ब्राह्मणस्य जीविनं भोजनमवलम्बता भवान् । इति उपहासः । समयः खलु स्नानं च भोजनं चेति स्नानभोजने तयोः सेवनस्य जातः । 'कालसमयवेलासु तुमुन्' इति सेवधातोः तुमुन् ।

राजा—(ऊर्ध्वम् आवाशोऽविलोचय) कथमर्थं गतं दिवसस्य । अतः खलु—

उष्णार्तं इति—इदं मध्याह्नकालस्य वर्णनम् । उष्णेन आर्तः पीडितः शिखी मयूरः शिरोवृंशस्य शिशिरे शीतले मूले कृतः आलवानो जलाधारन्तस्मिन् निपीदति उपविशति । अनेन दिने बलवान् उष्णो जात इत्यनुमीयते । पट्पदा भ्रमराः फणिकारपुष्पाणां मृदुलानि फलिषु निर्भिद्य विदार्य आशेरते स्वपति । उष्णत्वाद् भ्रमरा अपि निद्रां न लभन्ते इत्यभिप्रायः । कारुण्डवः पक्षिविशेषः स्तप्तं मूर्च्छातपादुष्णं वारि जलं विहाय त्यक्त्वा तीरस्था तटवर्तिनीं नलिनीं कमलिनीं सेवते । नलिन्याः शीतलत्वेन तत्र मग्नः सम्पते । एष बलान्तः नृपया चिन्तः पञ्जरस्य शुकः त्रीढार्थं वेस्म इति त्रीढावेस्म तस्मिन् सीतागृहे जलं माचते । मध्याह्ने नृपाजधिकं बाघतेज्जलं माचते । गिन्वा अस्ति यस्य स शिखी मयूरः । शिखा च मयूराणां शिरोवर्तिनी भवति ।

शिखी केनी' इत्यमरः । पट् पादाः येषां ते पट्पादाः भ्रमराः । अत्र च स्वभावोक्तिरलङ्कारः । अनेन अधुना विश्रामसमयः स्नानयोजनबालम्ब समामातः अतीज्जमात् स्थानाद् गन्तव्यमिति ध्यज्यते । २२।

इति निष्क्रान्तौ राजविद्रूपकौ रङ्गभूमिनः प्रस्थितौ ।

इति द्वितीयोऽङ्कः

अनुवाद—विद्रू०—देवी तो पावस नदी की तरह, अप्रसन्न चली गयी । अब उठिये ।

राजा—(उठकर) मित्र, यह ठीक नहीं हुआ । देखो, प्रिय-जनो द्वारा मीठी-मीठी बातों से की हुई स्त्रियों की मनुहार, यदि उसकी योजना बनावटी प्रेम से की गयी हो तो, रस-शून्य होने के कारण बनावटीपन ताड़ लेने वाली स्त्रियों के मन पर इस प्रकार कोई प्रभाव नहीं डाल पाती जैसे कृत्रिम लानी से मिश्रित मणि मणिवार के मन को नहीं खींच पाती । २१।

विद्रू०—आपके लिए तो यह अनुकूल ही हुआ । जिसकी बाँख दुख रही हो उसे सामने की दीप-ज्योति सहन नहीं होती ।

राजा—ऐसा न कहो । मन के उर्वशी में आसक्त होने पर भी देवी के लिए मेरे मन में वैसा ही आदर है । फिर भी मेरे अनुनय को अस्वीकार करने के कारण अब मैं उसके प्रति धैर्यभाव (चिन्ता न करना) का अवलम्बन करूँगा ।

विद्रू०—धीरता रहने दो । आप तो भूखे ब्राह्मण को जीवन देनेवाले भोजन का अवलम्बन कीजिये ।

राजा—(ऊपर देखकर) अरे दिन का आधा भाग बीत गया । अजः मोर गर्मी से ध्वषित होकर वृक्ष के नीचे ठंडे आलबाल में बैठ रहा है । मोरे कनेर की बलियों को फोड़ कर उन पर सो रहे हैं । क्षारप्लव पत्नी गरम जल को छोड़कर किनारे की कमलिनो पर विधाम कर रहा है और श्रीशृगह में यह कवा-सा पिजड़े का तोता जल माँग रहा है । २२।

(चले जाते हैं)

यह दूसरा अंक समाप्त हुआ ।

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशती भरतशिष्यी]

प्रथमः—सखे पेलव ! अग्निशरणाद्गच्छता महेन्द्रमन्दिरमुपाध्यायेन त्वमासन ग्राहितः । अहमग्निशरणरक्षायै स्थापितः । ततः पृच्छामि गुरोः प्रयोगेण देवशरिपदारार्थिता न वेति ।

द्वितीयः—गालव ! ष आणे वह आराधिता भोदि । तस्मि उग सरस्व-
ईन्द्रिदाव्यवन्धे लच्छीसववरे उव्वसी तेनु तेसु रसन्तरेसु उम्माइआ आसि ।
किन्तु (गालव ! न जाने कयमारार्थिता भवति । तस्मिन् पुनः
सरस्वतीकृतकाव्यवन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे उवशी तेषु तेषु रसान्तरेषु उम्मा-
दिनासोत् । किन्तु ।)

प्रथमः—सदोषावकाश इव वाक्यशेषः ।

द्वितीयः—आम । ताए वअण पमादक्कलिद अस्सि । (आम् । तस्या
वचन प्रमादस्त्वलितमासीत् ।)

प्रथमः—किमिव ।

द्वितीयः—लच्छीभूमिआए वट्टमाणा उव्वनो वारुणीभूमिआए वट्टमाणए
मेणआए पुच्छिदा । समागदा तेलोक्कपुरिसा सकेसवा लोअवाला । कदमस्सि दे
हिअआहिणीवेलो स्ति । (लक्ष्मीभूमिकथा वर्तमाना उवशी वारुणीभूमिकथा
वर्तमानया मेनकया पृष्टा । समागताः श्रैलोक्यपुत्र्याः सकेशवा लोका-
पालाः । कतमस्मिंस्ते हृदयाभिनवेश इति ।)

प्रथमः—ततस्ततः ?

द्वितीयः—ताए पुरिसोत्तमेत्ति भण्णिव्वे पुरुरवत्ति त्तिण्णिगदा वाणी ।
(तस्याः पुरुषोत्तम इति भणितव्ये पुरुरवतीति निर्गता वाणी ।)

व्याख्या :—इदानीं पेलव-गालवनाम्नो मंत्रशिष्ययोर्मुखाभ्यां राज्ञः
उवशीसनागमनूचनाय तृतीयोऽङ्कः प्रारम्भमाणः भविष्यति । प्रवेशनाह—तत
इति । ततः राज्ञो रङ्गभूमितो निर्गमनानन्तरं भरतमुनेः शिष्यी रङ्गभूमि-
मवतरतः ।

प्रथमः—सखे पेलव अग्निशरणादग्निहोत्रगृहाद् महेन्द्रस्य मन्दिरमिन्द्रप्रासादं गच्छता—गम् घातोः घातृप्रत्यये तृतीया विभक्तावेकवचने रूपम् । उपाध्यायेन शिक्षकेण मुनिना भरतेन, उपेत्याधीयते यस्मात् स उपाध्यायः शिक्षकः तेन त्वमासन मृगचर्मासनं ग्राहितः । यज्ञशालायाः इन्द्रभवनं गच्छता गुरुणाऽऽसनं तुभ्यं प्रदत्तम् । अहं यज्ञशालायाः रक्षायं इति रक्षार्थं नियुक्तः । ततः पृच्छामि गुरोः प्रयोगेण नाट्याभिनयेन देवानां परिषद्, सभा आराधिता प्रीणिता न वेति । ग्राहित इति प्रहृष्टातोर्णिचि क्तप्रत्ययः गौणे कर्मणि । तेन त्वमित्यत्र अभिहिते कर्मणि प्रथमा । 'शरणं गृहरक्षित्रो'रिति विश्वकोपः ।

द्वितीयः—न जाने कयमाराधिता । देवपरिषत्प्रीणिता नवेत्यहं न जाने । किन्तु तस्मिन् अभिनये सरस्वत्या कृत्वा काव्ये बन्धो यस्य तादृशि लक्ष्मी-स्वयवरे नाम वाच्यमभिनयन्ती उर्वशी तेषु तेषु काव्येषु विद्यमानेषु रसान्तरेषु विविधेषु रसेषु उन्मादिता स्खलिता आसीत् । नाट्यप्रयोगे रसस्थले उर्वश्या प्रमादः कृतः । स्वयं त्रियतेऽस्मिन्निति स्वयवरः ।

प्रथमः—ते वाच्यरसेषु अपूर्णं वाच्यं दोषाय अवकाश इति दोषावकाशस्तेन सहितः । ते अपूर्णमिदं वाच्यमतो दोषयुक्तमस्तीति भावः ।

द्वितीयः—आमिति निश्चये स्वीकारे वा । तस्या उर्वश्या वचनं वाच्यं प्रमादेन स्खलितं प्रमादजन्यदृष्टियुक्तमासीत् ।

प्रथमः—विभिव केन कारणेन जातः स प्रमादः ?

द्वितीयः—लक्ष्म्याः भूमिवायेसः तथा वर्णमाता लक्ष्मीवेशा गृहीत्वार्भिनयं कुर्वन्ती उर्वशी वारुण्याः भूमिना तथा वर्णमातया वारुण्या अभिनयं कुर्वन्तया मेनवया पृष्टा—त्रयाणां लोनाणां समाहारस्त्रिलोपी सा ग्वं प्रैलोक्य तत्रपदाः पुरया इति त्रैलोक्यपुरयाः त्रिलोपीत्यत्र "अनारोन्तोत्तरपदो त्रिगुस्त्रियामिष्ट" इति स्त्रीत्वे ङीप् ॥ वेशकेन सहैति सवेत्तवा, लोनापालाः देवा इति समागताः । एषु वक्तव्यस्तिष्ठे हृदयस्य अभिवेशः सलमता । लक्ष्मीस्वयवरे नाम नाट्ये उर्वशीमेनवेः पात्रविशेषी । तयोर्वेशी लक्ष्म्याः मेनवा एव वारुण्या वेशं परिगृह्य रङ्गभूमिमवतीर्णा । यदा लक्ष्म्याः स्वयवराय सर्वे देवमानवाः सन्निहितान्तरा मेनवया (वारुण्या) उर्वशी (लक्ष्मीः) पृष्टा एतेषु सफाः एषां वाच्यमानेषु एव कारणेणुमिच्छतीति ।

प्रथम—तनस्ततः तदनन्तर किं जातमिति प्रश्न ।

द्वितीय—तदा तथा (उर्वश्या) भणितव्यमासीत्-पुरुषाणामुत्तमः पुरुषोत्तमो विष्णुरिति तस्मिन् । विष्णीं मे हृदयमासक्तमिति वन्तव्यनामीत् पर तस्या चाणी निर्गता पुरुरवसि इति—मे हृदयं पुनरवसि तज्जले इति । अयमेव उर्वश्याः प्रमादः ।

अनुवाद—प्रथम—मित्र पेलव ! यज्ञशाला से महेंद्र के महल को जाते हुए गुरुदेव ने तुम्हें आसन पकड़वाया था और मुझे यज्ञशाला की देतरेख के लिये नियुक्त किया था । तो मैं पूछता हूँ कि क्या मुर्गी के नाटक से देवों की गभा प्रसन्न हुई ?

द्वितीय—भालूम नहीं कि प्रसन्न हुई या नहीं किन्तु सरम्बती द्वारा बनावे गये लक्ष्मीस्वयंवर नामक काव्य के अमिनय में उर्वशी ने भिन्न-भिन्न रसों के अवसर पर भूल कर दी ।

प्रथमः—तुम्हारा वाक्य अपूर्ण होने के कारण दोषयुक्त है ।

द्वितीयः—हाँ, उसका वाक्य प्रमाद के कारण त्रुटियुक्त था ।

प्रथमः—कैसे ?

द्वितीयः—लक्ष्मी की भूमिका में वर्तमान उर्वशी से वारुणी की भूमिका में वर्तमान मेनका ने पूछा कि तीनों लोकों के पुरुष, लोचपाल तथा केसाव आ गये हैं । इनमें से तुम्हारा हृदय किसे चाहता है ?

प्रथमः—फिर, फिर

द्वितीय—तब 'पुरुषोत्तम को' ऐसा कहना चाहिये या किन्तु उर्वशी के मूल में 'पुरुरवा को' ऐसा निबल गया ।

मूलपाठ—प्रथम—मवितम्बनानुसिपावीनि वृक्षोद्भिदाणि । स तामभि-
वृक्षो मनिः ।

द्वितीय—सता ज्वन्ताएण । महिदेण उण अणुगिहीदा । (शान्ता उपा-
ध्यामेन । महेंद्रेण पुनरनुगृहीता ।)

प्रथम—वचमिव ।

द्वितीय—वेग मम गुण उवदसो अद्विरो तेन ए दे दिव्य टाज हवि-
रगदि सि ज्वग्गामस्य यआणसो तावो । पुरदरेण उण एग्गावदमुट्ठि

उच्चसि पेक्त्वञ्च एव भणितम्—'जस्ति बद्धभावासि तुम, तस्त मे रणसहायस्य रायसिणो पित्र करणिज्जं। ता दाव तुम, पुरुरवस जहाकामं उवचिट्ठ जाव सो पडिदिट्ठसत्ताणो भोदि ति। (येन मम त्वयोपदेशो लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्यात्तं भविष्यति इति उपाध्यायस्य सकाशात् शापः। पुरन्दरेण पुनः लज्जावनतमुखीमुखशी प्रेक्ष्यैवं भणितम्—यस्मिन्बद्धभावासि त्वं, तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियं करणीयम्। तत्तावत्त्वं पुरुरवसं यथाकाममुपतिष्ठस्व यावत्स परिदृष्टसन्तानो भवति—इति।)

प्रथमः—सदृश पुरुषान्तरवेदिनो महिन्द्रस्य।

द्वितीयः—(सूर्यमवलोक्य) कथापसङ्गेण अवरद्धा महिसेअ-वेला। ता उवज्जाअस्स पास्मवत्तिणो होम। (कथाप्रसङ्गेणापरादाअभिपेक्वेला। तदुपाध्यायस्य पार्वन्वर्तिनो भवावः।)

(इति निष्क्रान्तौ)

विष्णुभवः।

ध्याएया—प्रथमः—बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्च इन्द्रियाणि च तानि बाह्याः कर्णानि भवितव्यतायाः भाविनः फलस्य अनुविदधतीति अनुविधायीनि अनुवर्तीनि। मानिनः फलमेवानुवर्तन्ते इन्द्रियाणि बुद्धिश्च। स भुनिभंरताता-मुशंसीमनिबुद्धः बुधितः किम्? 'अभिद्रुहोरुपमृष्टयोः कर्म'ति अनिपूर्ववद्बुधघातोपयोगे द्वितीया।

द्वितीयः—उपाध्यायेन सा उवसी शप्ता। एषघातोः क्तः कर्मणि। महिन्द्रेण पुनरनुग्रहीता अनुपूर्ववाद् इद्घातोः क्तः प्रथमः।

तावन्त काल त्व पुरुरवस नाम काम्यमान मम मुद्द काममनतिक्रम्येति यथा-
काममिच्छानुकूलमुपतिष्ठस्व सेवस्व । 'उमाद्य' इति उपपूर्वकस्य स्वाघातो-
रात्मने पदे प्रयोगः । यावत् यावन्त काल स परिदृष्टसन्तानो येन स तादृशो न
भवति । यावन्त काल सः त्वयि उत्पन्नाया सन्तनेर्मुख न पश्यति तावन्त काल
त्व त ययेच्छ भजस्व इति ।

प्रथमः—पुरुषाणामन्तर हृदय वेत्तीति पुरुषान्तरवेदी तस्य महेन्द्रस्य सदृश-
मनुरूपमेवेद वरप्रदानम् ।

द्वितीयः—(सूर्यमवलोक्य दृष्ट्वा कालपरिज्ञानाय) कथाया. प्रसङ्गस्तेन
वार्ताक्रमेण अपरादाऽतिप्रान्ता अभियेकस्य गुरो. स्नानस्य वेला काल अतः
उपाध्यायस्य गुरोः पार्श्वं वर्तिनौ तदन्तिकस्थौ भवावः ।

(इति निष्प्रान्तौ रङ्गभूमितो निर्गता)

विष्कम्भ —एकस्याङ्गस्य सनाप्तौ अन्यस्य च प्रारम्भे किञ्चिद् वस्तु
रङ्गभूमौ प्रदर्शितव्यं न भवति । तच्चोपक्षेपक द्वारा सूच्यते एव । उपक्षेपकाश्च
पञ्चप्रकारा भवन्ति—विष्कम्भ, चूर्णिका, अङ्कास्यम्, अङ्गावतारः,
प्रवेशकश्चेति । तत्र विष्कम्भको भूतमविष्यन्व्यासाना सक्षेपेण निदर्शको
(सूचकः) भवति । सचाङ्गुत्पादौ प्रयुज्यते । तदुक्त दसरूपके—

वृत्तवतिष्यमाशाना कथाशाना निदर्शकः ।

सक्षिमायंस्तु विष्कम्भ व्यादावङ्गस्य दर्शितः ॥

अनुवाद—प्रथम—बुद्धि और इन्द्रियां भविष्यता के अनुमार ही काम
करती हैं । क्या मुनि उस पर क्रुद्ध हो गये ?

द्वितीय—उपाध्याय ने शाप दे दिया किन्तु वाद ने महेन्द्र ने कृपा
कर दी ।

प्रथम—कैसे ?

द्वितीय—'तुमने मेरे निशान का उल्लङ्घन किया इसलिए तुम्हारा वाद
स्वर्ग में नहीं होगा—' यह उपाध्याय से शाप मिला । "जिसमें तुम्हारा मन
लगा हुआ है वह राजपि युद्ध में मेरा सहायक है । तुम उमका प्रिय करो ।
जब तक वह अपनी सन्तान को न देख ले तब तक तुम जैम चाहो वैसे पुरुरवा
के पास रहो ।" ऐसा पुरुरव ने उमे लज्जा से सिर झुकाये देखकर कहा ।

प्रथम—यह बात पुरुषों के मन की बात जानने वाले इन्द्र के योग्य ही है ।

द्वितीय—(सूर्य को देख कर) बातचीत करने में गुहजी के स्नान का समय चूक गया । तो चला उपाध्याय जी के पास ही चलें ।

(दोनों चले जाते हैं)

यह विष्कम्भक हुआ ।

मूलपाठ—(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—सर्वं कल्पे वयसि यतते लब्धुमर्थान् कुटुम्बी,

पश्चात् पुत्रैरपहतभरः कल्पते विश्रमाय ।

अस्माक तु प्रतिदिनमियं सादयन्ती प्रतिष्ठा

सेवा कारा परिणतिरभूत् स्त्रीषु कण्टोऽधिकारः ॥१॥

(परिक्रम्य) आदिष्टोऽस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या—यथा—“व्रत-सम्पादनाय मया मानमुत्सृज्य निपुणिकामुखेन पूर्वं याचितो महाराजः । तदेव महच्चनाद्विज्ञापय” इति यावदहमवसितसन्ध्याकीर्यं महाराजं पश्यामि ।

(परिक्रम्यावलोक्य च)

रमणीयः खलु दिवसावसानवृत्तान्तो राजवेशमनि—

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो

धूपैर्जलविनिःसृतेर्वलभयः सन्दिग्धपारावताः ।

आधारप्रयत. सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः

सन्ध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धान्नवृद्धो जनः ॥२॥

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अये ! इत एव प्रस्थितो देव—

परिजनवनिताकरार्पिताभिः परिवृत एष विभाति दीपिकाभिः ।

गिरिरिव गतिमानपक्षमादादनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः ॥३॥

यावदेनमवलो कन्वमार्गस्थितः प्रतिपालयामि ।

ट्याख्या—ततः विष्कम्भानन्तर कञ्चुकी प्रविशति । कञ्चुकी राज्ञः शुद्धान्नवृद्धो षड्वर्षीयविवेचनरसः वृद्धो ब्राह्मणो भवति । यथोक्तं घनञ्जयेन—

अन्तःपुरचरो राज्ञा वृद्धो विप्रो गुणान्वितः ।

उत्तिप्रत्युत्तिवृत्तलः कञ्चुर्कायमिधीयते ॥

कञ्चुको—पर्व इति—पर्वः कुटुम्बोऽग्रास्तीति कुटुम्बी गृहस्यः कले परित्स्वदपि कनुं समर्थे वपसि यौवन इत्यर्थः अर्षान् विद्वान् पदार्थान् वा न्यु प्राप्नु लम्बातोऽन्तुमुनि रूपम् । यतते उद्योग करोति । पश्चादतोने यौवने पर्वः अग्रहूत गृहीतो नरः यस्य स तादृश विद्वान् सान्तरं वन्दते सान्ति प्राप्नोति । किन्तु अस्माकं तु प्रतिदिन दिने दिने प्रतिष्ठा विद्यान्ति सादयन्तो विनाशयन्ती सेवा कञ्चुर्कार्याणि कारापरिणति काराना परिगतः परिपाको यस्याः स कारागारणा अन्तु । स्त्रीषु म्वांगा सन्धयो अविचारः कार्यवत्त्व कष्टः दुःखप्रदः ।

अत्र भावायः—सर्वेजनां ताण्ड्यादस्याया जीवनीययोगीनि वस्तूनि सञ्चिन्वन्ति । पुनः प्राप्ते वापंवे ते पुत्रेषु गार्हस्थ्यमारं नित्यं सान्ति लभन्त । परमस्मात्कमिन् सेवा वृद्धावम्यायामपि विद्याग्निमन्त्रवृत्ती बन्धनरूपा सञ्जाता । स्त्रीणां सेवा सर्वथा कष्टकारी भवति । कले इति कल्पू (सामर्थ्ये) धाना रूपम् । इदं मन्दाक्रान्ता वृत्तम् । तद्भक्षणं तु—मन्दाक्रान्ता जल्धि पङ्गेमो न तो ताद् गुरु चेत् । यस्य हृदयः चरणेषु मगणमगगी नापतगपो ताण्ड्य गुरुद्वयं च भवति तन्मन्दाक्रान्ताः । अत्रान्तिने चरणेष्वन्तर-न्यासोऽलङ्कारः ॥१॥

(परिक्रम्य)—निपमेन सहिता सान्तरा तदा वतव वा वाधिराजनुव्या राजमहिष्या आदिप्योर्स्मि समाज्ञापितोर्स्मि । आसूवंवादिग्धातोः क्त । मया प्रवस्य सम्पादनाय साधु समाप्त्यं मया माननुत्सृज्य परित्यज्य निपुणिकामुखेन एतान्मया दास्या मुचेन मया पूर्वमेव महाराजो याचितः प्रायितः । तमेवार्थं मद्बचनाद् विज्ञाय निवेदय । इति आदेश गृहीत्वा जहृम् अवसितं समाप्तं सम्पादकार्यं सम्पादित्विधि येन तथाविध महाराज पश्यामि । (परिक्रम्य इत्युत्तरो गत्वा अवलोक्य च)

रमणीय चेन्नोहरः खलु दिवसस्तु अवज्ञानं समाप्तिः तस्य धृत्वात्तः राज-वेदमनि राजप्रासादे सायविला राजनवनेषु विशेषेण मनोहारिणी भवति—

उत्कीर्णा—इवेति—वासाय यष्टय इति वासयष्टयस्तानु पक्षिणां वागार्थं
निमित्तेषु वशदण्डेषु निशाया या निद्रा तथा अलसाः राश्री तन्दिताः वह्निभो
मयूराः उत्कीर्णाः पापाणेषु खचिता इव भान्ति । उत्कीर्णाः पापाणेषु
खचिता इव भान्ति । वर्हाः सन्ति येषां ते वह्निभो 'मयूरो वह्निभो
वर्हीत्यमरः । जालेभ्यो वातायनेभ्यो विनिःशृतास्त्रंः घूर्णः सुगन्धिघूर्णैः
बलम्यः चन्द्रशालाः शिरोगृहाणि वा सन्दिग्धाः शङ्कितः पारावताः यामु
तादृश्यो दृश्यन्त इति शेषः । मयूराः निद्रावशात् वासयष्टिषु निश्रवाः सन्ति
चन्द्रशालासु च प्रतरन्तो घूषाः कपोता इव दृश्यन्ते । आचारैः नियमे प्रयतो
लीनः पवित्रो वा शुद्धान्ते अन्तःपुरे बृद्धो जनः अन्तःपुरस्याः बृद्धाः सेवकाः पूर्णः
कलिभिश्च सहितेषु स्थानेषु अचिध्मतीः ज्योतिर्मयीः सन्ध्यायां मङ्गलाय
स्थापिताः दीपिका इति सन्ध्यामङ्गलदीपिकास्ता विभजते तत्र तत्र निवेशयति ।
पुष्पकलियुक्तेषु स्थानेषु अन्तःपुरसेवकाः दीपकान् स्थापयन्तीति भावः ।
अत्रोत्प्रेक्षाश्लङ्कारः, शार्दूलवित्रीडित च छन्दः । २।

(नेषव्यस्य अभिमुख दृष्ट्वा) अये इति विस्मये । इत एव प्रस्थितो देवः
इहैवागच्छति देवः ।

परिजनेति—एयः परिजनभूतः वनितास्तासा करेषु अर्पिताभिः परि-
चारिकाश्चैहस्तस्यापिताभिः दीपिकाभिः परिवृतो वेष्टितो देवः पक्षाणां
सादः कर्तनं तदभावः अपक्षसादस्तस्मात् पक्षच्छेदनात् प्राक् गतिमान् गमन-
शीलः तदस्य समीपे इत्यनुत्तद पुष्पिताः कुसुमयुक्ताः कर्णिकाराणा लताविशो-
पाणा यष्टयो यस्मिन् तादृशः सत्पार्श्वकुसुमितकर्णिकारः गिरिः पर्वत इव
विभाति शोभते । परिचारिकाशृङ्गेःतदीपिकावृत्तो राजा सपुष्पकर्णिकारः जङ्गमो
गिरिरिव दृश्यते ।

पुरा हि पर्वताः सपक्षा भासन् । ते चेतस्ततः उड्डीयन्ते स्म । तेन च लोवना
महती हानिबन्धुव । ततः ऋद्धो महेन्द्रस्तेषा पक्षानच्छिनत् इति पुराणप्रसिद्धिः ।
अत्र पूर्णोपमालङ्कारः । पुष्पिताया च वृत्तम् । तत्तलक्षणन्तु—'पुष्पिताया नीर्या
न्जी ज्यौ । अस्य प्रथमे तृतीये च पादे नकारो रेफ्यकारौ च, द्वितीये
चतुर्थे च पादे नकारजकारौ जवाररेफौ गकारश्च भवन्ति । ३।

अनुवाद—(इसके पश्चात् वंशुकी प्रवेश करता है)

कच्चुकी—हर गृहस्थ यौवन काल में सासारिक वस्तुयें कमाने का प्रयत्न करता है और बाद में गार्हस्थ्य का भार पुत्रों को सौंप कर विश्रान्ति प्राप्त करता है। किन्तु हमारा तो यह सेवाकार्य प्रतिदिन विश्रान्ति को नष्ट करना हुआ कारा (जेल) जैसा बन गया है। स्त्रियों की सेवा का कार्य बड़ा कष्टदायी होता है। (इधर-उधर टहलकर) व्रताचरण करने वाली काशिराज की पुत्री ने आदेश दिया है कि "मैंने व्रत पूरा करने के लिये मान का परित्याग कर निपुणिका द्वारा महाराज से प्रार्थना की थी। मेरी ओर से वही बात महाराज से कह दो।" इसलिये जब महाराज सन्ध्या-कार्य कर लें तो मैं उनसे मिलूँ।

(इधर-उधर टहलकर और देव कर) राजमहल में सन्ध्याकाल की हलचल मनोहर होती है। रात्रि की निद्रा के कारण वाँसों से बने बसेरो पर मुस्त बैठे हुए मोर पत्थरो पर खुदे हुए से मालूम पड़ते हैं। झरोखों से निकल कर अदरियों पर जहाँ तहाँ जमा हुआ धुआँ देख कर सन्देह होता है कि ये कबूतर हैं। अपने अपने काम में व्यस्त रनिवास के कर्मचारी फूल और बलि चढ़ाये हुए घर के स्थानों में अलग-अलग जलते हुए सान्ध्याकालीन मंगलदीप रख रहे हैं।

(नेपथ्य के सामने देखकर) अरे ! स्वामी तो इधर ही आ रहे हैं—

कर्मचारिणी स्त्रियों द्वारा हाथ सघायी हुई दीपिकाओं से घिरे हुए वे ऐसे मालूम पड़ रहे हैं जैसे पत्त कटने से पहले किनारे-किनारे फूले हुए कनेर के पौधों से मुक्त चलता-फिरता पवन ही।३।

मैं तब तक मार्ग में दिखायी देनेवाले स्थान पर बैठकर प्रतीक्षा करूँ।

मूल पाठ—(तत्र प्रविशति यथानिद्रिष्टः नपरिवारो राजा
विदूषकश्च)

राजा—(आत्मगनम्)

कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनतिवृच्छेण।

अविनोददीर्घयासा कथं नु रात्रिर्गमयिन्यथा ॥४॥

कञ्चुकी—(उपगम्य ।) जयतु जयतु देवः । देव ! देवी विज्ञापयति—
 “मणिहर्म्यं पृष्ठे सुदर्शनश्चन्द्रः । तत्र सन्निहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि
 यावद्रोहिणीसंयोगः” इति ।

राजा—विज्ञापयता देवी यस्तवच्छन्द इति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

राजा—त्रयस्य ! किं परमार्थत एव देव्या व्रतनिमित्तोऽयमारम्भः
 स्यात् ?

विदू०—तर्ककेमि संजादपच्चाद्दावा अत्तभोदो वदव्ववदेसेण
 तत्तभवदो पणिपादलंघण पमज्जिदुकामा ति । (तर्क्यामि संजातपश्चा-
 त्तावा अत्रभवती व्रतव्यपदेशेन तत्रभवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमाप्सुं
 कामेति ।)

राजा—उपपन्नं भवानाह । तथाहि—

अवधूतप्रणिपाताः पश्चात् सन्तप्यमानमनसोऽपि ।

निभूतैर्व्यपन्नपन्ते दयितानुशयैर्मनस्विन्यः ॥१॥

तदादेशय मणिहर्म्यं पृष्ठस्य मार्गम् ।

वशास्या—(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः परिचारिकागृहीतदीपिता-
 चनो राजाविद्वपवश्च)

सयोगो भवति चन्द्रस्य तावत् प्रतिपालयितुमिच्छामि तत्रैव स्यातुमिच्छामि ।
रोहिणीति नक्षत्रनाम । सा दक्षस्य कन्या चन्द्रस्य पत्नीति च ब्रह्मन्ते
पौराणिकैः ।

राजा—विज्ञाप्या निवेद्यता देवी यस्तव छन्दः इच्छा तत्रैव भविष्यति ।
नूनमह त्वया सह प्रतिपालयिष्यामि मणिहर्म्यंपृष्ठे रोहिणीचन्द्रसयोगो
यावत् ।

कञ्जुकी—यद् आज्ञापयति आदिशति देवो भवान् ।

राजा—वयस्य भिन्न किं परमार्थतः निश्चयेनैव देव्याः वाशिराजपुत्र्याः
अयमारम्भः प्रियामः कार्यं वा व्रतं निमित्त कारण यस्य तथाविधः व्रतमिदं
एव स्यात् ?

विदू०—तर्कयामि अहमनुमिनोमि यत् सजातः पश्चात्तापो यस्याः सा
अत्रभवती देवी व्रतव्ययदेशेन व्रतव्याजेन तत्रभवती देवस्य प्रणिपातस्य
छट्पथमनुनयावजा प्रनाष्टुं कामयत इति प्रमाष्टुं वामा प्रशालयितुमिच्छति ।
त्वया व्रतमनुनय तिरस्कृत्य जातपश्चात्तापो साम्प्रत त दोष व्रतमिदं दूरी-
कर्तुं मिच्छति देवी ।

राजा—उपपन्न युक्त भवानाह । तथाहि यतः—

अवधूनेति—प्रशस्त मनो यामा ता एवभूता मनस्विन्यो निपुणा नार्यः
पूर्वं अवधूतः प्रणिपानो याभिस्तास्तिरस्कृतानुनयाः पश्चात् संतन्यमान पीड्यमान
मनो यामा ता अपि निमृत्तः सुगोपितैः दक्षितासम्यग्विभिः अनुशयैरनुत्तार्यः
व्यपन्नपन्ते लज्जन्ते । स्वमाराध प्रमाष्टुं प्रयन्ते च । 'शीघ्रं द्वेषानुत्तपानुभ्ये
त्यनुभ्यः पुमान्' इति विश्वः । आर्यान्छन्दः । १५।

तन् तेन मणिहर्म्यंपृष्ठस्य मानंम् आदेशाय दर्शय ।

अनुवाद—(इसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार से नपरिचर राजा और
विदूषक प्रवेश करते हैं)

कञ्चुकी—(पास आकर) महाराज की जय हो । देव ! देवी ने निवेदन किया है कि मणिहर्म्य पर चन्द्रमा बड़ा सुन्दर लगता है । वहाँ आपने पास बैठ कर जब तक रोहिणी के पास रहे तब तक उसे देखना चाहती हूँ ।

राजा—महारानी से कह दो, जैसी आपकी इच्छा ।

कञ्चुकी—जो आपकी आज्ञा ! (चला जाता है)

राजा—मित्र ! क्या सचमुच ही देवी का यह वायं व्रत के लिये है ?

विदू०—मेरा अनुमान है कि महारानी को पश्चात्ताप हुआ है । व्रत के बहाने प्रणिपात (मनाना) की अवज्ञा को घो डालना चाहती हैं ।

राजा—आपने ठीक कहा । क्योंकि अनुनय का तिरस्कार करने के बाद मन में सन्तप्त होने पर भी स्वाभिमानिनी स्त्रियाँ छिपे-छिपे ही प्रिय की पीड़ा पर लजाती रहती हैं । ५।

तो मणिहर्म्य की छत का मार्ग दिखलाओ ।

मूलपाठ—विदूषकः—इदो इदो एतु भवम् । इमिणा गंगातरंग-सिसिरेण फलिभमाणिसिलासोवाणेण आरोहदु भवं सब्बदा रमणीअं मणिहम्मपिट्टुअलम् । [इत इत एतु भवान् । अनेन गङ्गातरङ्गशिशिरेण स्फटिकमणिशिलासो-पानेनारोहतु भवान्तर्वदा रमणीयं मणिहर्म्यंपृष्ठतलम् ।]

(राजा आरोहति । सर्वे सोपानारोहणं नाटयन्ति)

विदूषकः—(निरूप्य) पञ्चसण्णेण चंदोदएण होदव्वम् । जह तिमिरेण अदिरेचीअमाणं पुव्वदिसामुहं आलोहिअप्पहं दीसदि । [प्रत्यासन्नेन चन्द्रोदयेन भवितव्यम् । यथा तिमिरेणातिरिच्यमानं पूर्व-दिशामुखमालोहितप्रभं दृश्यते ।]

राजा—सम्यग्भवान् मन्यते ।

उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते ।

अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् । ६।

विदूषकः—हीही भो, एसो खण्डमोदअसरिसो उदिदो राआ ओसधीणम् । [हीही भोः ! एष खण्डमोदकसदृश उदितो राजा ओषधीनाम् ।]

राजा—(सस्मितम् ।) सर्वत्रीडरिक्स्यान्भवहायमेव विषयः ।
(प्राञ्जलिः प्रणम्य) भगवन् ऋक्षराज !

रविमाविशते सता क्रियायै सुघषा तपयते पितृन् सुराश्च ।

तमसा निशि मूर्च्छन्ता निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते ।७।

विद्व०—भो वम्हण संकामिदक्खरेण दे पिदामहेण अब्भणुण्णादो
सि । ता आसणगदो होहि जेण अह वि सुहासीणो होमि । (भोः ब्राह्मण
संक्रामिताक्षरेण ते पितामहेनाऽभ्यनुज्ञातोऽमि । तदासनगतो भव येना-
हमपि सुखासीनो भवामि ।)

व्याख्या—विद्व०—इत् इतोऽनेन मार्गेण भवान् एतु आगच्छतु । अनेन
समुल्लस्येन गङ्गायास्तरङ्गालहपंः तंः शीतलेन स्फटिकमणिशिलाना सोपानेन
भवान् सर्वदा सर्वेण ऋतुषु रमणीयं मनोहारि मणिहर्म्यं पृष्ठनलनगरिमाग-
मारोहतु ।

(राजा हर्म्यपृष्ठम् आरोहति । सर्वे सोपानेः आरोहन् नाटयन्ति)

विद्व०—(निरुच्य दृष्ट्वा) चन्द्रस्योदयस्तेन प्रत्यासन्नेन निवर्तवतिना
भक्तिव्यम् । यथा तिमिरेण तमसा अनिरिच्यते इत्यनिरिच्यमान मुष्यमान
पूर्वस्यादिनाया मृगमश्राममन्नाहोहिता रक्ता प्रना कान्तिर्यस्य तादृशं
दृश्यते ।

राजा—गम्यन् समीचीन भवान् मन्वते चिन्तयति ।

उदयेति—उदये उदयगिरी गूढः अन्तर्हितः शशाङ्कश्चन्द्रः तस्य मरोचिभिः
किरलोः तमसि अन्धकारे दूरतर सुदूर प्रतिसाग्वि निष्पासिते सति “यस्य
ष भावेन भावलक्षणमिति सप्तमी । हरिरदवो वाहन मानसाघनं यस्य सः
हरिवाहनः उह्यतेऽनेनेति वाहनम् । हरिवाहनस्य दिग् प्राची तस्या मूसम्
अल्लाना वेगशरोः सयमनादिव मे मम लोचने नेत्रे हरति आवर्षति ।

यथा वेशानामरसारणान् वामिन्यामुष चारतरं दृश्यते तपैव तनत्रां-
ऽसारणान् प्राची दिग् मुरम्यतरा प्रतिमानीति भावः । अल्लमयमनादिवे-
त्रोत्प्रेक्षाऽऽश्रुतः । दृग्बिलम्बित वृत्तम् । तल्लक्षण तु—दृग्बिलम्बितमाह नमो
नरो । ६।

विदू०—ही हीति आश्रये । भोः एष खण्डस्य सितायास्तया निर्मिता मोदका इति खण्डमोदका' तैः सदृशः श्वेतधर्मं उदित उद्गतो राजा ओपधीनाम् । ओपो दीप्तिर्धीयते यनेति ओपधिः नक्षत्रम् । खण्डमोदकेत्युपमानेन विदूषकस्य भोजनप्रियत्व व्यज्यते ।

राजा—(सस्मित स्मितेन सहित यथास्थात्तथा) सर्वत्र सर्वकालस्यानेषु उदरे प्रसित औदरिक्ः भोजनभट्टः, 'पेट्ट' इति भाषायाम्—'उदराट्टगाद्युने इति ठक् प्रत्ययः । अन्यदहार्यं भोज्यमेव विषयः । अयं सदा भोजनविषय एव चिन्तयति । (प्राञ्जलिः प्रगतः अञ्जलिर्यस्य तादृशः अञ्जलिं बद्ध्वा प्रणम्य) भगवन् ऋक्षाणां नक्षत्राणां राजा इति ऋक्षराजस्तत्सबुद्धौ—'राजाहः सखिम्य-ष्टच्' इति टच् प्रत्ययः ।

रविमिति—सन्तीति सन्तस्तेषां सता भद्रजनानां क्रियायै दशंपूर्णमास-पितृयज्ञाद्यनुष्ठानाम् रविं सूर्यमाविशते प्रविशते, पितृन् पितृदेवताः सुरान् देवाश्च मुघयाऽमृतेन तपयते प्रसादयते, निशिरात्रो मूर्च्छन्तीति मूर्च्छन्तस्तेषां प्रशरता तमसामन्धराणां निहन्तीति निहन्ता तस्मै विनाशवाध, हरस्य शिवस्य चूडाया जटायागे निहित. स्थापित आत्मा स्वरूपं येन तस्मै तुभ्य नमः । 'नमःस्वस्तिस्वाहाम्बधाःल वषट्पागारुच' इति चतुर्थी ।

अनावास्याया समस्तत्राहीनोभू वा विधुः सूर्ये प्रविशति । यथोक्तमंतरैय-ब्राह्मणं—'चन्द्रमा वा अनावास्यायामादित्यमनुप्रविशति । सोऽन्तर्धीयते न न निःशान्तिः' इति अनावास्याया दशम्यो होमो धिक्त्रितः ।

हर्म्य की छत पर चढ़ चलिये। (राजा चढता है। सब सीढ़ी चढने का अभिनय करते हैं।)

विद्व०—चन्द्रोदय होनेवाला ही है। अन्धकार से मुक्त होना हुआ प्राची का मुख सब ओर लाल-लाल दिखायी दे रहा है।

राजा—आप ठीक समझे। उदयाचल में लिये हुए चन्द्रमा की किरणों द्वारा अन्धकार के खूब दूर हटा दिये जाने पर प्राची दिशा का अक्षभाग ऐसा मनोहर लग रहा है जैसे बाल समेट लेने पर किसी सुन्दरी का मुख। ६।

विद्व०—ओहो! अरे खांड के लड्डू जैसा द्विजराज (चन्द्रमा) निकल आया।

राजा—पेट की चर्चा-विषय हर जगह भोज्य वस्तु ही रहती है। (हाथ जोड़कर प्रणाम करके) भगवन् द्विजराज! तुम सत्पुरुषों की धार्मिक क्रियाओं के लिये सूर्य में प्रवेश करते हो और फिर (बढकर) अपने अमृत से पितरों और देवताओं को तृप्ति प्रदान करते हो। तुम रात्रि में फैलते हुए अन्धकार का नाश करते हो। हे शिव के जटाजूट में स्थित चन्द्र! आप को प्रणाम है। ७।

विद्व०—अरे, अरे! अपने शब्दों को ब्राह्मण के पास पहुँचा कर उसके द्वारा तुम्हारे पितामह (बाबा) ने तुम्हें अनुमति दे दी है। इसलिये आसन पर बैठो जिससे मैं भी आराम से बैठ जाऊँ। ८

मूल पाठ—राजा—(विद्वपकवचनं परिगृह्योपविष्टः परिजनं विलोक्य) अभिव्यञ्जिताया चन्द्रिकाया किं दीपिकापौनस्वत्येन। तद्विश्राम्यन्तु भवत्यः।

परिजनाः—जं देव आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।]

(इति निष्क्रान्तः।)

राजा—(चन्द्रमवलोक्य) वयस्य। परं मुहूर्तादागमनं देव्या। तद्विचिन्ते वचयामि स्वामवस्थाम्।

विद्वपकः—भो, ण दीसदि एमा। किं दु ताए तारिस अणुराअं पेक्सिअ सवक वसु आसावधेण अत्ताणअं धारिदुम्। [भो, न दृश्यत एया। किं तु तस्यास्तादृशमनुरागं प्रेक्ष्य शक्य खन्वाशावन्धेनात्मान धारयितुम्।]

राजा—एवमेतत् । बलवान् पुनर्मम मनसोऽभितापः ।

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासङ्घटस्खलितवेगः ।

विघ्नितसमागमसुखो मनसि शयस्त्वनुगुणो भवति ॥८॥

विदू०—जहा परिहीअभाणेहि अगेहि सोहसि तथा अछरेहि समा-
गमं दे पेक्खामि । (यथा परिहीयमाणैरङ्गैः शोभसे तथाऽऽसरोभिः
समागम ते प्रेक्षे ।)

राजा—(निमित्त सूचयन्) वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम् ।

अयमास्पर्न्दतैर्बाहुराशवासयति दक्षिणः ॥९॥

विदू०—ण वलु अण्णहा बह्णणस्स वअणं भोदि । (न खल्वन्वया
ब्राह्मणस्य वचन भवति ।) राजा (सप्रत्याशस्तिष्ठति)

व्याख्या—राजा—(विदूषकस्य वचनमासनोपवेशनरूप परिगृह्य स्वीकृत्य
उपविष्टः परिजन परितो वर्तमानान् परिचारकान् विलोक्य) अभिव्यक्ताया
स्फुट प्रसृताया चन्द्रिकाया ज्योत्स्नाया दीपिकाना पुनरुक्तेः भावः बर्भ वा
पौनरुक्त्येन द्विरावृत्त्या किम् । सत्या स्फुटकौमुद्या न दीपिकालोकेन किमपि
प्रयोजनम् । तत्तेनकारणेन विश्राम्यन्तु विरमन्तु भवन्तो दास्यः ।

परिजनः—यद्यथा देवो भवानाज्ञापयति । (इतिः निष्क्रान्तो निर्गतः)

राजा—(चन्द्रमवलोक्य) वयस्य मित्र ! परं मूहूर्तात् क्षणान्तरे देव्या
आगमनं भविष्यति । तत्तेन विविक्ते एकान्तस्थले स्वा अवस्थां विरहजन्या
कथयामि ।

विदू०—भोः न दृश्यते एषा तव प्रियतमा । किन्तु तस्या उर्वस्यास्तादृश
गभीर अनुराग स्नेहं प्रेक्ष्यावलोक्य आशायाः बन्धस्तेन आघातन्तुना आत्मान
स्वं धारयितुं साग्वयितुं शक्यम् ।

राजा—एवमेतत् । सत्यमेतद्यत् त्वयोच्यते । पुनस्तथापि मे मनसो विरह-
दग्धस्य चेतमोऽनुतापः पीडा बलवान् सीतिसयः ।

नद्या इति—विषमाः उच्चावचाः शिलास्तासा सङ्घटेन समूहेन खलितो
वेगो यस्य सः विविधशिलोच्चयरुद्धवेगः नद्याः प्रवाह इव विघ्नित समा-
गमस्य गुप्त यस्य स एवभूतो मनसि शैते इति मनसि शय. मनसिजः वामः पु
अनुगुणोऽनुबलः रागानुवर्ती भवति ।। अयोपमालङ्कारः । आर्याचन्द्रः ।

विदू०—यथा परिहीयमासैः परिहीयन्ते तैः क्षीयमासैरपि अङ्गैः क्षीयते तथाऽप्सराभिर्बवंशीप्रमुखैस्ते समागम प्रेक्षे । शीघ्रमेव ते समागम उर्वरया भविता ।

अनुवाद—राजा—(विदूषक की बात मान कर बैठ गया—सेवकों को देखकर) छिटकी हुई चांदनी के रहने हुए दीपिकाओं की दोहरावट से क्या लाभ ? इसलिये आप लोग विधाम करें ।

परिजन—जो आप की आज्ञा । (चला जाता है)

राजा—(चन्द्रमा को देखकर) वयस्य ! किन्तु शीघ्र ही देवी आने वाली हैं । तो एकान्त में अपनी अवस्था बतलाऊँगा ।

विदू०—अरे ! वह (उर्वशी) तो दिखायी नहीं देती किन्तु उसका वैसा प्रेम देखकर आशापाश से अपने को सम्हाला जा सकता है ।

राजा—यह तो ठीक है किन्तु मेरे मन की पीड़ा बलवती है ।

ऊँची-नीची शिलाओं के समूह के द्वारा जिसका वेग रोक दिया गया है, ऐसे नदी के प्रवाह की तरह समागम के मुख में विघ्न पडने पर कामदेव भी अनुराग की आर और उन्मुख होता है । ८।

विदू०—तुम अपने क्षीण होते हुए अङ्गो से सुन्दर दिख रहे हो । इससे मुझे मालूम होता है कि तुम्हारा अप्सराओं से समागम होगा ।

राजा—(निमित्त सूचित करता हुआ) जिस प्रकार मेरे अत्यन्त व्यथित होने पर तुम आशा दिलाने वाले वाक्यों से आश्वासन देते हो उसी प्रकार यह दाहिना बाहू आसदनो (फडक) से मुझे धैर्य दे रहा है । ९।

विदू०—ब्राह्मण की बात भूठी नहीं होती । (राजा आशा लगाये बैठता है)

मूल पाठ—(ततः प्रविशत्याकाशयानेन कृत्वाभिसरणवेपा उर्वशी चित्रलेखा च ।)

उर्वशी—(आत्मान विलोक्य) सहि रोअदि दे मे अअं मोत्ताहरण भूसिदो णोल सुअ परिग्गहो अहिसारिआवेमो । (नलि ! रोचते ते मे-
ऽय भुवनाभरणभूपितो नीलानुकपरिग्रहोऽभिसारिआवेपः ।)

चित्रलेखा—णत्वि मे वाआविहवो पससिदुम् इद तु चितेमि । अवि
णाम अह एव्व पुरुरवा भवेअत्ति । (नास्ति मे वाग्विभवः प्रशसितुम् ।
इदं तु चिन्तयामि । अपि नामाहमेव पुरुरवा भवेयमिति ।)

उर्वशी—सहि ! असमत्था क्खु अहम् । तुम आणेहि त सिग्गम् । रोहि
मं तस्स वा सुहअस्स वसदिम् । (सखि ! असमर्था खल्वहम् । त्वमानय त
शीघ्रम् । नय मा तस्य वा सुभगस्य वसतिम् ।)

चित्रलेखा—ण पडिबिबिअं विअ जामिणीजमुणाए केलाससिहरस-
स्सिरीअं दे पिअदमस्स भवण उवगदम्ह । [ननु प्रतिबिम्बितमिव यामिनी-
यमुनाया कैलासशिखरसश्रीक ते प्रियनमस्य भवनमुपगते स्वः ।]

उर्वशी—तेण हि प्पहावेण जाणाहि कर्हि सो मम हिअअचोरो किं
वा अणुचिट्ठत्ति । [तेन हि प्रभावेण जानीहि कुत्र स मे हृदयचोरः
किं वानुतिष्ठतीति ।]

चित्रलेखा—(आत्मगतम् ।) भोदु । कीडिस्स दाव एदाए सह ।
(प्रकाशम्) हला, दिट्ठो मए उवहोगवस्समे अवआसे मणोरहअदं पिआस-
मागमसुह अणुभव तो चिट्ठत्ति । [भवतु । क्रीडिव्ये तावदेतया सह ।
सखि ! दृष्टो मयोपभोगक्षमेऽवकाशे मनोरथलब्ध प्रियासमागमसुख-
मनुभवंस्तिष्ठतीति ।]

उर्वशी—अवेहि । हिअअ मे ण पत्तीअदि । हला चित्तलेहे ! हिअए
काउण किं वि जप्पमि । पिअसमागमस्स अग्गदो एव्व अणेण अवहरिद
मे हिअअम् । (अपेहिहृदयं मे न प्रत्येति । सखि चित्रलेखे ! हृदये कृत्वा
विमपि जल्पमि । प्रियसमागमस्याग्रत एवानेनापहृत मे हृदयम् ।)

चित्रलेखा—एसो मणिहम्मप्यासागदो थअस्तसमेत्त सहाओ ।
राएमी । ता उपसप्पम्ह । (एष मणिहर्म्यप्रासादगतो धयस्यमात्रसहायो
राजपिः । तदुपसर्वाव ।)

(उभे अवतरतः)

व्याख्या—उर्वशी—(आत्मानं विलोक्य दृष्ट्वा) सखि । रोचने ते गुण्य
मे अय मुक्तानि आभरणानि यस्मिन् इति मुक्ताभरणं स चासौ भूयित इति
मुक्ताभरणभूयितः, अज्ञानां स्वभावगुणरक्तया परिपक्ताभूयणः अपवा

मृत्तानामाभरणानि तैर्भूषितः नीलाम्बुस्य परिग्रहो धारण यस्मिन् स तादृशो-
ऽभिसारिकायाः वेषः । अभिसरतीत्यभिसारिका प्रच्छन्नरूपेण प्रियसमागमाय
एवान्तप्रदेशं गच्छन्ती । कृष्णामिसारिका रात्रौ तमोगूढाया नीलाम्बराणि
परिधाय गच्छति येन तद्गमनमभिव्यक्तं न भवेत् । अतएव शुक्लानि भूपणानि
रयज्यन्ते । रोचते मे इत्यत्र 'रुच्यमाना प्रीयमाणः' इति चतुर्थी ।

चित्र०—प्रशंसितुं ते शरीर-वेषवैभवमुप्लुतया वर्णयितुं मे वाचो
विभवः ऐश्वर्यं नास्ति । नाहं ते इदं सौन्दर्यं वर्णयितुं क्षमा । इदं तु चिन्तयामि
एवमहं कल्पनां करोमि यदहमेव पुरुरवा, तव प्रियतमो भवेयम् । ततोऽहं ते
वेशसौष्ठवं परिशीलयेमम् ।

उर्वशी—सखि ! असमयां विरहव्यया सोऽनुमत्तामा खल्वहम् । अतः त्व
त् पुरुरवस शीघ्रमानय । मा वा तस्य मुमगस्य सुन्दरस्य वसतिं निवासभूमिं नय
प्रापय ।

चित्र०—ननु प्रतिविम्बितमिव प्रतिफलितमिव यामिन्या रात्रौ यमुना
तस्या रात्रिस्ययमुनाया कंलासस्य पर्वतस्य शिखरेण समाना थीः यस्य तत्
कंलासशिखरसदृशसोभाशालिं ते प्रियतमस्य पुरुरवसः भवनमुपगते प्राप्ते स्वः ।
प्रतिविम्बितमिवेत्यत्रोपेक्षात्कारः ।

उर्वशी—तेन हि प्रभावेण अप्सरमा प्रभावविशेषेण जानीहि कुत्र कस्मिन्
स्थाने म मे हृदयस्य चोरः हृदयापहर्ता प्रियतमो वर्तते किं वाञ्छुतिष्ठति करोति ।

चित्र०—(आत्मगतम्) भवतु अस्तु । श्रीदृष्ये उपहासं करिष्यामि
तावदेतया सख्या सह । (प्रकाशम्) दृष्टो मया उपभोगाय क्षमा योग्यः । तस्मिन्
स्थाने मनोरथेन लब्धं कल्पनया प्राप्तं प्रियायाः समागमस्य मुखं रतिमुख-
भनुभवंतिष्ठति ।

अत्रायनारीस्नेहमग्नं पुरुरवसं दर्शयन्ती चित्रलेखा उर्वशीमुवाहति ।

उर्वशी—अपेहि अप्सरं दूरम् । मे हृदयं न प्रत्येति न विरवसिति ।
मदीयमात्मनः प्रतीक्षमाणो मे प्रियोऽयनारोऽमागममुखभनुभवंतिष्ठतीति तव
वचनं नाहं यथायं मन्ये । सखि चित्रलेखे हृदयं किमपि कृत्वा विनश्यद् हृदये
निधाय त्वं परिहृयन्तं जन्वसि । प्रियेण पुरुरवसा मत् समागमस्य सम्मेलनस्य
अवगतः पूर्वमेव क्षणेन प्रियं आहूतं समादृष्टं मे हृदयम् ।

चित्र०—एष भणिहर्म्यनाम्नि प्रासादे स्थितः वयस्य एवेति वयस्यमात्र
सहायो यस्य स केवलविद्वेषकसहितो राजा चासौ । ऋषिरिति राजर्षिः ।
अनेन तस्य एकान्तसेवित्वं कामवशगत्वं च सूच्यते । तत् अनेन कारणेन
उपसर्षावः तत्र उपैवः । (उभे उर्वशीचित्रलेखे अवतरतः गमनाद्
भूमिमवतरतः ।)

राजा—वयस्य रजन्या सह विजृम्भते मदनवाधा ।

मूल पाठ—उर्वशी—अणिभिभ्रष्टेण इमिणा वज्रणेण आकपिदं मे
हिअभम् । अन्तरिदा सुणुम्ह आलावम् । जाव णो संसअच्छेदो होदि ।
[अनिभिन्नार्थेनानेन वचनेनाकम्पित मे हृदयम् । अन्तरिते शृणुव
आलापम् । थावदावयोः संशयच्छेदो भवति ।]

चित्रलेखा—जं दे रोअदि । (यत्ते रोचते ।)

विद्वेषकः—एण इमे अमिअगग्ग्हा सेवीअंतु चदवादा । [नन्वेतेऽमृतगर्भाः
सेव्यन्ता चन्द्रपादाः ।]

राजा—वयस्य । एषमादिभिरनुपक्रम्योऽयमातङ्कः ।

पश्य—

कुसुमशयनं न प्रत्यर्द्रं, न चन्द्रमरीचयो

न च मलयजं सर्वाङ्गीणं, न वा मणियष्टयः ।

मनसिजलजं सा वा दिव्या ममालमपोहितुम् ।^{१६}

रहसि लघयेदारब्धा वा तदाश्रयिणी कथा । १० ।

उर्वशी—हिअअ ! ज दाणी सि म उज्झिअ इदो संकतं तस्स फलं
तुए उवलदं । [हृदय ! यदिदानीमसि मामुज्झित्वा इतः संक्रान्त तस्य
फलं त्वयोपलब्धम् ।]

विद्वेषकः—आम । भो ! अहं पि जदा जदा सिहरिणी रसालं अ ण
सहे तदा तं एव्व चितयंतो आसादेमि सुहं । [आम । भो ! अहमपि यदा
शिसरिणी रसाल च न लभे तदा तदेव चिन्तयन् आमामिदामि
मुसम् ।]

राजा—मम्पद्यते इदं भवतः ।

विदू०—तुम वि तं अहरेण पाविहिंसि । (त्वमपि तामचिरेण प्राप्स्यसि ।)

राजा—मत्ते ! एव मन्ये ।

चित्र०—सुणु असंतुष्टे । (शृणु अनंतुष्टे ।)

राजा—इद तस्या रयक्षोभादसेनात् निपीडितम् ।

एक कृति शगेरेऽन्मिन्, शेषमङ्गं भुवो भर. ॥११॥

व्याख्या राजा—रजन्या रात्र्या सह विजुम्नते प्रवर्धते मदनस्य कान्त्य बाधा पीडा ।

उर्वशी—अग्निनिद्राः अस्फुटः अर्धः यस्य तादृशेन अग्निनिद्रार्थेन अल्पदृ-
ष्टान्तरेण अनेन वचनेन राज्ञो वाक्येन जावमित विचिन्तुं क्षुब्धमिव मे
हृदयम् । जन्तरितेभूत्वा अदृष्ट आत्मानोदृत्वा अनयोः आलाप दिव्यम्भचर्चा
शृणुवः । यावद्येतावया तदस्यस्य स्नहविषये सन्देहस्य ह्येद उन्मूल भवति ।

चित्र०—यत् ते तुभ्य राचते प्रिय भवेत् ।

विदू०—ननु एते अमृतं गर्भे येषां ते अमृतार्त्ता अमृतमयाश्चन्द्रपादा-
श्चन्द्रविरागाः सेष्यन्ताम् । एते तावद् विरहचन्ताप शमयितुमल भविष्यन्ति ।

राजा—वयस्य अय आतङ्कः इय पीडा एवमादिवेषां तैः एवप्रसरितैः
अनुपशम्य. उपशमितुं न शक्यः नाशः । चन्द्रपादादिनिहतचारैरिव पीडा
शमयितुं न शक्यते । परम । कुमुभेति प्रत्यय नव सद्यनिमित्तं कुमुमाना शयन
पुष्परामृतौता शय्या न, चन्द्रस्य मरीचय. विरगाः न, सर्वान्द्राणि ध्याज्येति
इति सर्वाङ्गीण सर्वत्र देहे ऽपि मलयत्र चन्दन च न, मगोना शृणो हारा
या न मम मनसि च श्व कामगीठानगोहितु दूरीकर्तुमल पारयन्ति । सा वा दिवि
भवा दिव्या अप्नराः मन मनसि च श्वमगोहितुमल सनयां । अथवा रश्मि एजान्ते
आख्या वृत्तारम्भा तामाश्रयतीति तदाश्रयिणी नामाश्रय प्रवर्तमाना कया वा
कामराडा लभयेन् लभयन्ति । “त करोति तदावष्टे” इति सूत्रेण लघुशब्दान्
शरोर्ये कश्चि नामघातोविधिऽपि भवन् । हरिषोवृत्तम् । तत्रप्रपन्तु
‘हरिषोन्तो श्री स्त्री शृनु सन्दूद्र रूपय.’ अस्य पादेषु नाना मग्य नाना रणा
सगता लघु गुर च भवन्ति । एदनिश्चरुनिः सतनिश्च पतिर्भवति ११०।

उर्वशी—हृदय ! यत् येन माम् उज्जित्वा परित्यज्य इत अस्मिन्
 पुरुरवसि सक्रांत सलम्नमसि तस्य फलमिदानी सम्प्रति त्वया उपलब्ध प्राप्तम् ।
 प्राप्ता त्वयाऽपूर्वा प्रीति । उज्जित्वेति त्यागाथकस्य ओहाकुघातो क्त्वाप्रत्यये
 रूपम् । इत इति 'सावविभक्तिकस्तसिलिति सप्तम्यर्थे तसिञ् ।

विदू०—आम् सत्य भो ! अहमपि यदा शिखरिणी मे सन्नामक स्वादु
 भाज्य रसाल पक्वमात्र वा न लभे न प्राप्नोमि तदा शिखरिणीरसालादिक
 चिन्तयन्नव सुख आसादियामि प्राप्नोमि । यथा स्वादिष्टभोज्यपदार्थाभावे
 तत्स्मरणेनैव मन सतोष्यते तथैव उर्वश्यभावे तत्कथया मनस्तुष्टिमधिष्यति ।
 शिखरिणी नु एलाळवङ्गादिमिथितो दुग्धमय पक्वकदलीफलसाररूपो
 भाज्यपदार्थः ।

राजा—सम्पद्यते सुलभमिदं भवत । भवता तु प्राप्यते भोज्य पर मत्प्रिया
 तु दुर्लभैव ।

विदू०—त्वमपि तामुर्वशीमचिरेण शीघ्रमेव प्राप्स्यसि ।

राजा—सखे वयस्य ! अहं तु एव मन्य । एवमित्यस्य अग्निमेण श्लोकेन
 सम्बन्धः ।

चित्र०—शृणु असत्पुष्टे ? उर्वशी दत्तावधाना करोति राज्ञोऽग्रिमामुक्तिं
 धीनुम् ।

राजा—रथस्य क्षीभ उच्चावचप्रदेशेषु गमनेन दोलन तस्मात् कारणाद्
 असेन मदोयासेन निषीडित म्मदित तस्या एकमस स्वघ शरीरेकृति सफल ।
 शेषमङ्ग अयऽवयवा भुवोमर पृथिव्या भारस्वरूपमेव । अनुष्टुप् वृत्तम् । ११ ।

अनुवाद—उर्वशी—इस अस्पष्ट अर्थ वाली बात ने मेरा हृदय कँपा दिया
 है । छिपकर इन दाना का वात्सलाप मुनें जिससे हम दोनों का रन्देह दूर हो
 जाय ।

अपसरा दूर कर सकती है या एकान्त में प्रारम्भ की हुई उसके विषय की चर्चा इस पीडा को कम कर सकती है । १०।

उर्वशी—हृदय ! तुम जो मुझे छोड़कर इनके पास चले गये सो उसका फल तुम्हें मिल गया ।

विदू०—हाँ, तो मुझे भी जब शिखरिणी या पका आम नहीं मिलता तो उनका ध्यान करके सुख पा लेता हूँ ।

राजा—आपको तो वह (आम आदि) मिल जाता है ।

विदू०—तुम भी शीघ्र ही उसे पा लोगे ।

राजा—मैं ऐसा समझता हूँ कि—

चित्र०—अरी असन्तुष्टे ! मुन ।

राजा—रथ के झिलने डुलने से मेरा जो एक बन्धा उसके बन्धे से खरा गया था वही सारे शरीर में कृतकृत्य हुआ । शेष अङ्ग तो पृथ्वी के भार हैं । ११।

मूल पाठ—उर्वशी०—कि दाणी अवरं विलंबिस्सं । (सहसोपगम्य) हला चित्तलेहे ! अग्गदो वि मए ढ्ठिदाए उदासीणो महाराओ । [किमिदानीमपरं विलम्बिष्ये । (सहसोपगम्य) सखि चित्रलेखे ! अप्रतोऽपि मम स्थिताया उदासीनो महाराजः ।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) अदितुवरिदे ! असंखित्ततिरक्करिणी असि । [अतित्वरिते ! असंक्षिप्ततिरस्करिण्यसि ।]

(नेपथ्ये)

इदो इदो भट्टिणी । [इत इतो भट्टिनी ।]

(सर्वे कर्णं दर्शति । उर्वशी सख्या सह विषण्णा)

विदूषक.—अयि भो ! उवढ्ठिदा देवो । ता सुमुद्दिदमुहो होहि । [अयि भो ! उपस्थिता देवी । तत्सुमुद्रितमुत्तो भव ।]

राजा—भवानपि संवृताकारमास्ताम् ।

उर्वशी—हला ! कि एत्थ करणिज्जं । (मत्ति ! विमत्र करणीयम्)

चित्र०—अलं आवेएण । अनरिता दाणी सि तुमं । विद्दिदणिअम् वेमा राअमहिमी दीसुदि । हा एसा चिरं ण चिद्दिम्मदि नि । (अलमा-

वेगेन । अन्तरितेदानोमसि त्वम् । विहितनियमवेपा राजमहिषी दृश्यते ।
सदेपा चिरं न स्थास्यतीति ।)

(ततः प्रविशति घृतोपहारपरिजना देवी)

देवी—(चन्द्रमालोक्य) एसो रोहिणी जोएण अहिअं सोहृदि भवव
मिअलछणो । (एष रोहिणीयोगेनाधिक शोभते भगवान् मृगलाञ्छन.)
(इति परिक्रामतः)

चेटी—ण संपज्जित्तिदि भट्टिणी सहिदस्स भट्टिणी विसेस रमणीअदा
(नून संपत्स्यते भट्टिनी सहितस्य भर्तुर्विशेष रमणीयता ।)

(इति परिक्रामतः ।)

विदूषकः—भो, ण जानामि सोत्थिवाअणं वि देदि । आदु भवंत ।
अंतरेण चदव्वदव्ववदेसेण मुक्करोसा अज्ज मे अक्खीण सुहृदसणा देवी ।
[भो ! ननु जानामि स्वस्तिवाचनमपि ददाति । उत भवन्तमन्तरेण
चन्द्रव्रतव्यपदेशेन मुक्तरौषा अद्य मेऽक्ष्णोः सुखदर्शना देवी ।]

राजा—(सस्मितम्) उभयमपि घटते । तथापि भवता यत्परचाद-
भिहितं तन्मा प्रतिभाति ।

यादत्रभवती—

सिताशुका मङ्गलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका ।

व्रतापदेशोज्जितगर्ववृत्तिना भवि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते ॥ १२ ॥

व्याख्या—उर्वशी—किं किमर्थमिदानीं तत्समीपं गन्तुमपरमधिकं विल-
म्बिष्ये विलम्बं करिष्यामि । (सहसा उपगम्य समीपं गत्वा) सखि चित्रलेखे ।
अप्रतः समुखेऽपि स्थितायां मम उदासीनोद्दत्तचित्तो महाराजः । 'स्थितायाः'
इति अनादरे पठ्यते ।

चित्र०—(सस्मितम्) अतिविरिते अर्धयंक्ति ! न सक्षिप्ता न सहृता
तिरस्वरिणी अलक्ष्यवारी प्रयोगः यया सा तादृशी अस्ति । यतस्त्वया
तिरस्वरिणी न सहृता तेन महाराजस्त्वा द्रष्टुमक्षमोऽस्ति । (नेपथ्ये जवनि-
वान्तमार्गे) इत इताज्जेन मार्गेण भट्टिनी रवामिनी आगच्छतु । (सर्वे कर्णं ददति
ध्यानपूर्वकं नेपथ्यवाचं शृण्वन्ति । उर्वशी सख्या चित्रलेखया सह विषण्णा
न खिता तिष्ठति ।)

विदू०—अधि भो ! उपस्थिता समागता देवी काशिराजदुहिता । तत्
तस्मात् सुमुद्रित सबृत मुख येन स तथाविध मौनावलम्बी भव ।

राजा—भवानपि सबृत मुद्रित. आकारो यस्य सः आस्ता तिष्ठ ।
मौनी तिष्ठ ।

उर्वशी—सखि ! अथ अस्या स्थितौ किं करणीय किं कर्तुमुचितम् ?

चित्र०—आवेगेन सभ्रान्त्या अलम् । मा अधीरा भव । इदानीं त्वम्
अन्तरिता अलक्ष्या असि । राजमहिषी देवी विहितो नियमस्य वेप उपवास
समुचितो वेपो यथा तादृशी दृश्यते तत् तेन कारणेनैवा चिर न स्थास्यति ।
शीघ्रमेव सा गमिष्यतीत्यतस्त्वयाऽजीरया न भाव्यम् । अदृश्या च पुनस्त्वमसि ।
(ततो घृतो गृहीत उपहारः पूजावस्तु येन तथाविध परिजनः सेवकः
यस्याः सा देवी राजमहिषी प्रविशति)

देवी—(चन्द्रमालोक्य दृष्ट्वा) एषः उपरि दृश्यमानः रोहिणी-योगेन
एतदाख्यनक्षत्रसम्बन्धेनाधिक शोभते राजते । रोहिणी चन्द्रप्रिया । मृगः
लाञ्छन चिह्नं यस्य सः चन्द्रः । चन्द्रे विद्यमान. नालिमा नविभिः मृगरूपेण
वर्ष्यते ।

चेटी—नून निश्चयेन भट्टिन्या राजमहिष्या महितस्य भर्तुं राज्ञी विशेषेण
रमणीयता सातिशयसौन्दर्यं संपत्स्यते जनिष्यते यथा रोहिष्या सम्बन्धेन
चन्द्रोऽधिकतरा शोभते तथैव देव्याः योगेन राजाऽधिकतर शोभिष्यते ।
देवीचेट्या राजोऽन्तिक गच्छत । अभिपिक्ता राज्ञी सामान्यजनैः सेवकैश्च
भट्टिनीति भष्यते ।

विदू०—ननु इति वितर्कं । भो न जानामि सा स्वस्तिवाचनमपि
मन्थोपहारमपि दास्यति इतिकारणेन उत अथवा भवन्तमन्तरेण भवन्तमुद्दिश्य
चन्द्रव्रतस्य व्यपदेशेन व्याजन मुक्तस्त्यक्तो रोपः शोषो यथा सा तादृशी सती
अथ मे नयनयोरक्षणोः मुख दर्शनं यस्याः सा तादृशी देवी । सा मे नश्य
दिःमुरिति कारणेनाथवा त्वयि मुक्तरोपेति हेतोरथ मे देवी विशेषेण मुदशंन
प्रतिभाति । स्वस्तिवाचन यज्ञप्रतापनन्तर ब्राह्मणेभ्यो दीपमानमुपहारादिकम् ।

राजा—(सस्मितम्) उभयमपि उभावपि वित्तवौ सङ्गच्छेते । तथापि भवता यत् पञ्चादभिहित मुक्तरोपतेति तन्मा प्रतिभाति सत्य प्रतीयते । यदत्रभवती—सिताशुकेति—सितमशुक यस्याः सा घबलवस्त्रा मङ्गलमेवेति मङ्गलमात्र भूषण यस्याः सा मङ्गलसूत्रमात्रमाभूषण धारयन्ती पवित्र यद् दूर्वायाः अद्भुत तेन लाञ्छिता अलकाः केशा मस्याः सा देवी व्रतस्य नियमोपवासस्य अपदेशेन व्याजेन उज्ज्विता ह्यक्ता गवंबृत्तिरात्ममानिता येन तयाविधेन वपुषा शरीरेण मयि मद्विषये प्रसन्ना हृष्टा लक्ष्यते प्रतीयते । वशस्य चतुर्निदम् । तल्लक्षणन्तु—वदन्ति वशस्यमिदं जतो जरो । १२।

अनुवाद—उर्वशी—अब और विलम्ब क्यों करूं । (सहसा पास जाकर) सखि चित्रलेखे ! सामने होने पर भी महाराज मुझसे उदासीन हैं ।

चित्र०—(मुस्कराती हुई) अत्यन्त अधीरे ! तुमने तिरस्करिणी तो हटायी नहीं है । (नेपथ्य में) मालकिन ! इधर से, इस मार्ग से—

(सब कान लगाकर सुनते हैं । उर्वशी सखी के साथ खिन्न है ।)

विदू०—अरे अरे ! देवी आ पहुँची ! इसलिये मुँह बन्द करके बैठिये ।

राजा—आप भी चुपचाप बैठिये ।

उर्वशी—सखि ! अब क्या करूं ?

चित्र०—घबराओ मत । तुम इस समय अदृश्य हो । राजमहिषी व्रतोपवास का बंध धारण किये हैं । तो ये देर तक यहाँ नहीं ठहरेंगी ।

(उपहार धारण किये हुए सेवकों के माथ देवी प्रवेश करती हैं ।)

देवी—(चन्द्र को देखकर) यह भगवान् चन्द्र रोहिणी के साथ और सुन्दर दिख रहे हैं ।

(आगे चलती है)

चेरी—मालकिन के साथ स्वामी की सुन्दरता भी निश्चय ही अधिक हो जायगी ।

(आगे बढ़ने हैं)

विदू०—अर ! न जाने स्वस्तिवाचन (धार्मिक कार्य के बाद दी जाने वाली दान-दक्षिणा) देती हैं इसलिये अपना आपसे चन्द्र-व्रत करने के

बहाने क्रोध छोड़ दिया है इसलिये आज देवी मेरी आंखों को बड़ी सुदर्शना लग रही हैं।

राजा—(मुस्कराते हुए) दोनों बातें हो सकती हैं तो भी आपने वाद में जो बात कही है वह मुझे अच्छी है। क्योंकि श्रीमती श्वेत वस्त्र पहने हैं। भूपणों के नाम पर केवल मङ्गल सूत्र पहने हैं। दूब के पवित्र अङ्कुर केशों पर धारण किये हैं। व्रत के बहाने क्रोधीला स्वभाव छोड़ देने पर शरीर से मुझ पर प्रसन्न दिखायी दे रही हैं। १२

मूल पाठ—देवी—(उपगम्य) जेदु-जेदु महाराओ। (जयतु-जयतु महाराजः ।)

परिजनः—जेदि-जेदि देवो। (जयति जयति देवः ।)

विदू०—सोत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै)

राजा—स्वागत देव्यै। (ता हस्तेन गृहीत्वोपवेशयति ।)

उवंशी—ट्टाणे इअं वि देवीसद्वेण उच्चारीअदि। णहि किं वि परिहीअदि सचीदो ओजस्सिदाए। (स्थाने इयमपि देवीशब्देनोच्चारयते। न हि किमपि परिहीयते शचीतः ओजस्वितायाः।)

चित्रलेखा—साहु असूहापरंमुहं मतिद। [साधु असूयापराङ्मुखं मन्त्रितम् ।]

देवी—अञ्जउत्त पुरोकदुअ को वि वदविसेसो मए संपादणीओ। ता मुहुत्तं उवरोधो सहीअदु। [आर्यपुत्रं पुरस्कृत्य कोऽपि व्रतविशेषो मया सम्पादनीयः। तन्मुहूर्तं उपरोधः सख्यताम् ।]

राजा—मा मेवम्। अनुग्रहः खलु नोपरोधः।

विदूषकः—ईरिसो णं सोत्थिवाअणएहि दे बहुमो उवरोधो होदु। [ईदृशो ननु स्वस्तिवाचनकैस्ते बहुशः उपरोधो भवतु ।]

राजा—किनामधेयमेतद्देव्या व्रतम् ? (देवी निःशुण्णवामवलीकथयति।)

निपु०—भट्टा ! पिअप्पसादण णाम। [भर्तः ! प्रियप्रसादनं नाम ।]

राजा—(देवी विलोक्य) यद्येवम्—

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं
 व्रतेन गात्र म्लपयस्यकारणम् ।
 प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तबोत्सुकः
 स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ।१३।

व्याख्या—देवी—(उपगम्य समीप गत्वा) जयतु... इति मङ्गलवाक्यम् ।

परि०—जयति-जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते देवो महाराजः ।

विदू०—स्वस्ति कल्याण भवतु भवत्ये देव्यै । 'नम.स्वस्ती'त्यादिना चतुर्थ्या ।

राजा—स्वागत देव्यै प्रसन्नाऽऽस्म्यह त्वागमनेन । (हस्तेन गृहीत्वा तामासने उपवेशयति आसयति)

उर्वशी—स्थाने युक्तमेव यदिय देवीशब्देन उच्चार्यते अभिधीयते । स्थाने इत्यव्ययम् । न किमपि अस्या. परिहीयते न्यूनमस्ति शचीतः ओजस्वितायाः सौन्दर्यस्य तेजसो वा । नेय तेजस्विताया शचीतः कयमपि न्यूना ।

चित्र०—साधु उचितमेव असूया स्पर्धा तस्याः पराङ्मुखं प्रतिकूल-मीर्ष्याविरहितं मन्त्रितं चिन्तितम् । गुणेषु दोषाविष्करणमसूया । सा च स्त्रीषु स्नेहविषयं स्वाभाविकी एतेन उर्वश्या अधीदार्यं दाक्षिण्यं च व्यज्यते ।

देवी—आर्यपुत्र भवन्त पुरस्कृत्य उद्दिश्य कोपि व्रतविशेषो मया सम्पादनी-योऽनुष्ठेय तत्तस्मान्गुहूर्तं स्वल्पकालं यावद् उपरोधः मया कृतः प्रतिबन्धः सहायताम् ।

राजा—मामेवम् नैव त्वया मन्तव्यम् । नायमुपरोधः प्रतिबन्धः प्रत्युत अनुग्रहोऽनुकम्पा एवायम् ।

विदू०—ईदृशः उपरोधो ननु निश्चयेन यदि स्वस्तिवाचनिकैः दानादिभिः सहितो भवति तद् बहुशो बार बार भवतु । एव विदूषको राज्ञा सानुनयं भणति ।

राजा—किं नामधेयं नाम यस्य तत् विघ्नमकमेतद्देव्या व्रतम् (देवी निपुणिवामवलोकयति निरीक्षते उत्तरप्रदानाय ।)

निपु०—भर्तः स्वामिन् ! एतस्य व्रतस्य नाम प्रियप्रसादनमिति प्रियः प्रसाद्यतेऽनेनेति । यस्य व्रतस्याचरणेन प्रिय प्रसाद्यते तदेतद् व्रतम् । प्रपूर्वंकं सद् घातोऽन्युट् ।

राजा—(देवी विलोक्य तस्या दृष्टिं निक्षिप्य) हे कल्याणि सुमङ्गले ! अनेन प्रियप्रसादननाम्ना व्रतेन त्व मृणालमिव कोमल कमलनालवत्सुकुमार तव गात्र अकारण म्लपयसि क्षीण करोषि । या दासजनः सेवकः उत्सुकः उत्कण्ठितो भूत्वा तव प्रसादमनुग्रहम् आकाङ्क्षति वाञ्छति स त्वया किं किमर्थं प्रसाद्यते । योजनस्त-वानुग्रहोव जीवति तस्य प्रसादनाय मृगालसुकुमारस्य शरीरस्यलेपनं नोचितम् ।

अनुवाद—देवी—(पास जा कर) जय हो, जय हो महाराज की ।

परिजन—महाराज को जय है, जय है ।

विदू०—आप का कल्याण हो ।

राजा—देवी का स्वागत है । (देवी को हाथ पकड़ कर बिठाता है ।)

उर्वशी—ठीक ही उसे भी देवी बहकर पुकारा जाता है । अोजस्विता मे दाची से कुछ भी कम नहीं है ।

चित्र०—तुमने बिना ईर्ष्या के ठीक ही सोचा ।

देवी—आप को लक्ष्य कर मुझे एक विशेष व्रतानुष्ठान करना है । इसलिये क्षणभर यह वन्धन सहन कर लीजिये ।

राजा—ऐसा न कहिये । यह अनुग्रह है, वन्धन नहीं ।

विदू०—स्वस्तिवाचनिक मिलते हों तो ऐसा वन्धन (रोक) बार-बार हो ।

राजा—देवी के इस व्रत का नाम क्या है ? (देवी निपुणिना को देखती है)

निपु०—स्वामिन् ! इस व्रत का नाम है, प्रियप्रसादन ।

राजा—(देवी को देखकर) यदि ऐसा है तो—

हे कल्याणि ! तुम इस व्रत से अपने मृणालवत् कोमल शरीर को व्यर्थ ही क्षीण बना रही हो । तुम से मिलने को उत्कण्ठित होकर जो तुम्हारी कृपा की कामना करता है उस दास को ही तुम क्या मना रही हो । १३।

मूल पाठ—उर्वशी—(सवैलक्ष्यस्मितम्) महंतो खु एदस्स इमिस्सि बहुमाणो । [महान् खल्वेतस्यैतस्या बहुमानः ।]

चित्रलेखा—अह मुद्धे ! अण्णसकत्पेमाणो णाअरा भारिआए अहिअं दक्खिणा होत्ति । [अयि मुग्धे ! अन्यसंक्रान्तप्रेमाणो नागरा भार्यायामधिकं दक्षिणाः भवन्ति ।]

देवी—एदस्स वदस्स अअं पहावो ज एत्तिवअं वददि अज्जउत्तो । [एतस्य व्रतस्याय प्रभावो यदेतावद् वदत्यार्यपुत्रः ।]

विदूषकः—विरमदु भव । ण जुत्तं दे सुहासिदं प्पच्चक्खिदुं । [विरमतु भवान् । न युवत ते सुभाषित प्रत्याख्यातुम् ।]

देवी—दारिआओ ! आणेध ओवहारिअं जाव हम्ममदे चदवादे अच्चेमि । [दारिका । आनयतोपहारिक यावद् हर्म्यंगताश्चन्द्रपादानर्चयामि ।]

परिजन.—अ देवी आणवेदि । एसो उवहारो । [यद्देवी आज्ञापयति । एष उपहारः ।]

देवी—उवणेध (नाट्येन कुसुमादिभिश्चन्द्रपादानर्म्यैर्च्यं) हञ्जे ! इमेहि उवहारेहि मोदएहि अ अज्जमाणअव कच्चुई अच्चेध । [उपनयत हञ्जे ! एतैरुपहारैर्मोदकैश्च आर्यमाणवक कञ्चुकिनं चार्चयत ।]

परिजनः—अ देवी आणवेदि । अज्ज माणवअ ! एद उववादिदं सोत्थिवाअणअ । [यद्देवी आज्ञापयति । आर्य माणवक ! एतदुपपादित स्वस्तिवाचनकम् ।]

विदूषकः—(मोदकशराव गृहीत्वा) सोत्थि मोदीए । बहुफल एदं वद होदु । [स्वस्ति भवत्यै । बहुफल एतद्द्रवम् भवतु ।]

चेटी—अज्ज कच्चुइ ! इद तुह । [आर्य कञ्चुकिन् ! इदं तव ।]

कञ्चुकी—(गृहीत्वा) स्वस्ति देव्यै ।

देवी—अज्जउत्त ! इदो दाव । (आर्यपुत्र । इतस्तावत् ।)

राजा—अयमस्मि ।

देवी—(राज्ञः पूजामभिनीय प्राञ्जलिः प्रणम्य च) एसा देवदा-
मिहुणं रोहिणीमिअल्लण सबली करिअ उज्जउत्तं अणुप्पसादेमि ।

अज्जप्पहुदि अज्जउत्तो जं इत्थिअं कामेदि, जा अज्जउत्त समागम-
प्पणइणी, ताए सह अप्पदिवंघेण वत्तिदव्वं (एषा देवतामिधुनं रोहिणी
मृगलाञ्छन साक्षी कृत्यार्यपुत्रमनुप्रसादयामि । अद्य प्रभृति आर्यपुत्रो
या स्त्रिय कामयते, याऽर्यपुत्रसमागमप्रणयिनी तथा सहाप्रतिबन्धेन
वर्तितव्यम् ।)

व्याख्या—उर्वशी—(वैलक्ष्येण स्मितेन च सहितम् आश्चर्येण स्मितेन
च सह) अस्या राज्या राज्ञो महान् खलु बहुमानः समादरः ।

चित्र०—अयि मुग्धे सरलहृदये ! अन्यासु सक्रान्त प्रेम वेपा तेऽन्यस्त्रा
प्रेमपरायणा. नागरा चतुराः प्रणयिन. भार्याया स्वकीयाया दक्षिणा अनुकूला
भवन्ति ।

देवी०—एतस्य व्रतस्य प्रियप्रसादनस्य अय प्रभावः परिणामो यदायंपुत्र
एतावन्मधुर वदति ।

विदू०—विरमतु भवान् व्रतनिषेध न करोतु भवानिति राजान प्रति
वक्ष्यति । ततो देवी प्रति सुभाषित राज्ञो मधुरभाषण प्रत्याख्यातु न युक्त
नोचितम् । यथाकथञ्चिद्यत्नेन मधुरभाषण प्रारब्ध तत्तस्य—प्रत्याख्यान न
कर्तव्यमन्यथा तस्योत्साहभङ्गो भवेत् ।

देवी—दारिकाश्चेत्य. परिचारिका यूनम् औगहरिक उपहाररूपेण दातव्य
वस्तुजातमुपनयत उपहरस यावदह हर्म्यगतान् प्रासादगतान् चन्द्रस्य पादान्
किरणान् अर्चयामि पूजयिष्यामि । “यावत्पुरानिपातयोर्लट्” इति भविष्यदर्थे
लट् ।

परि०—यद्देवी आज्ञापयति आदिशति । उपहारमानीय—एष उपहारः ।

देवी—उपनयत । (नाट्येन अभिनयद्वारा -कुसुमादिभिः चन्द्रपादान्
अभ्यर्च्य सपूज्य) एतं उपहारं मोदकैः मिष्टान्नेन च आर्यमाणवक् विदूषक
वञ्चुकिन च अर्चयत सम्भावयत । एते उपहारा मादकाश्च विदूषकाय
वञ्चुकिने च प्रदेया ।

परि०—यद्देवी आज्ञापयति । आर्यमाणवक् विदूषक ! एतन् ते उपपादित
सर्पित स्वस्तिवाचनक मोदकोपहारम् आनीतवन्तः स्म ।

वि० उ०—११

विद्र०—(मोदकैः पूर्णं शराव पात्र गृहीत्वा) स्वस्ति भवत्यं कल्याण-
मस्तु देव्या । बहु अधिक फल यस्य तदहम् व्रत भवतु भवत्याः ।

चेटी—आर्यंकञ्चुकिन् । इदमुपहारवस्तु तव स्वदर्यम् ।

कञ्चुकी—(गृहीत्वा स्वीकृत्योपहारम्) स्वस्ति देव्यै देव्या कल्याण-
मस्तु ।

देवी—आर्यंपुत्र । इतस्तावत् । इत आगम्य मया सफला करोतु भवान् ।

राजा—अयमस्मि—एष आगत ।

देवी—(राज्ञ पत्यु पूजामभिनीय नाट्येन सपूज्य राजान प्राञ्जलि-
हंस्ती बद्ध्वा प्रणम्य) एषाह देवतामिषुन देवयुगल रोहिणी च मृगलाञ्छन-
ञ्चन्द्रश्च तन्मय साक्षीकृत्य साक्षिस्थाने त्रिभुज्य आर्यंपुत्र त्वामनुप्रसादयामि
त्वा मयि प्रसन्न करोमि । आर्यंपुत्र, अद्यप्रभृति अतः पर यां स्त्रिय कामयते
अभिलषति या वाङ्मयुक्तेण समागमस्तस्य प्रणयिनी वाङ्मिषी तथा सह
अप्रतिबन्धेन अविरुद्धतया अनुकूलतया वा मया वर्तितव्यम् । अहमार्यंपुत्र-
प्रणयिनी प्रति सस्नेह व्यवहरिष्यामि ।

अनुवाद—उर्वशी—(साप्रचर्यं मुस्कराती हुई) इसके प्रति महाराज
का बहुत सम्मान है ।

चित्र०—अरे भोली ! अन्य स्त्री से प्रेम करने वाले चतुर प्रेमी अपनी
पत्नी के प्रति अधिक अनुकूल हा जाते हैं ।

देवी—इस व्रत का यह प्रभाव है कि आप इस तरह बात करते हैं ।

विद्र०—(राजन्) ठहरिये । (रानी से) मधुर भाषण की आलोचना
ठीक नहीं ।

देवी—चेटीयो ! उपहार-द्रव्य लाओ । मैं महल पर चन्द्रकिरणों की
पूजा करूंगी ।

परिजन—जो देवी की आज्ञा । यह रहा उपहार ।

देवी—राजा । (अभिनवपूर्यैकः पुण्यादि से चन्द्रकिरणों की पूजा
करके) धरो ! इन उद्धारों और मोदकों में विद्रूपक और कञ्चुकी का
गन्धान करो ।

परिजन—जा देवी को आज्ञा । आर्यमाणवक ! यह तुम्हें समर्पित किया गया स्वस्तिवाचनिक है ।

विदू०—(मोदक-पात्र लेकर) जान (देवी) का कल्याण हो । इस व्रत का खूब सफल हो ।

चेटी—आर्य वञ्चुकिन् ! यह तुम्हारा उपहार है ।

वञ्चुकी—(लेकर) कल्याण हो देवी का ।

देवी—आर्यपुत्र ! शघर आइये ।

राजा—यह आया ।

देवी—(राजा को पूजा अभिनय करके और हाथ जोड़े प्रणाम करके) राहिणी और चन्द्र की देवता-जोड़ी को, साझी करके मैं आर्यपुत्र को प्रसन्न करती हूँ । आज से लेकर आर्यपुत्र जिस स्त्री की कामना करेंगे या जो स्त्री आर्यपुत्र से समागम की कामना करेगी उसके साथ मैं अच्छा व्यवहार करूँगी ।

मूल पाठ—उर्वशी—अम्महे । ण आणामि किरर से वअणम् । मम उण विस्सासविसद हिअअ सबुत्तम् (अम्महे ! न जानामि कि परमस्या वचनम् । मम पुनर्विश्वासविशद हृदय मवृत्तम् ।)

चित्र०—सहि महानुभावाए पदिव्वाए अठमणुग्गादो अणं तराओ दे पिअसमागमो भविस्सदि । (सांख ! महानुभावया पतिव्रतयाऽम्यनुज्ञातोऽन्तरायस्ते प्रियसमागमो भविष्यति ।)

विदू०—(अपवार्यं) छिन्नहस्तयो पुरतो वज्जे पलाइदे भगादि “गच्छ धम्मो भविस्मदि”ति । (प्रकाशम्) भोदि । कि—उरिसे पिओ तत्तभव ? [छिन्नहस्तः पुरतो वध्ने पलायिते भगति “गच्छ धर्मो भविष्यती”ति । भवति । कि तादृश प्रियः तत्रभवान् ?]

देवी—मूढ ! अहं तु अत्तणो सुहावसानेण अज्जउत्तस्स सुह इच्छामि । एत्तिएण चिन्तेहि दाव पिओ ण वेत्ति । [मूर्ख ! अहं खलु आत्मनः सुहावसानेनार्यपुत्रस्य सुख इच्छामि । एतावता चिन्तय तावत्प्रियो न वेत्ति ।]

राजा—दातुमसहने प्रभवस्वन्यस्यै, कतुमेव वा दासम् ।

नाह पुनस्तथा त्वयि, यथा हि मा शङ्कसे भीरु ॥१४॥

देवी—भोदु मा वा । जघाणिद्द्विदं सपादिदं पिअप्पसादणं व्वदम् ।

आअच्छघ परिजणा, गच्छम्ह । [भवतु मा वा । यथानिदिष्टं सम्पादितं प्रियप्रसादन व्रतम् । आगच्छत परिजनाः, गच्छामः ।]

राजा—प्रिये ! न खलु प्रसादितोऽस्मि यदि सम्प्रति विहाय गम्यते ।

देवी—अज्जउत्त । ण लघिदपुव्वो सपदं णिअमो । (इति सपरिजना

निष्क्रान्ता) [आर्यपुत्र । न लङ्घितपूर्वः साम्प्रतं नियमः ।]

उर्वशी—हला ! पिअकलत्तो राएसी । न उण हिअअं णिवत्तेदुं

सवकणोमि । [सखि ! प्रियकलत्रो राजर्षिः । न पुनर्हृदय निवर्तयितुं शक्नोमि ।]

चित्रलेखा—कथ स्थिरासो णिवत्तोअदि ! [कथं स्थिरासो

निवर्त्यत !]

राजा—(आसनमुपसृत्य) वयस्य ! न खलु दूरं गता देवी ।

व्याख्या—उर्वशी—अम्महे इत्याश्चयं बोधनार्थकम् । न जानामि किं पर

किमर्थकमस्या वचनमिदं वयनम् । न जाने मामुद्दिश्य तथेदं वक्षितं किं वा वामप्यन्या वित्तु मे हृदय पुनः विद्वत्सेन विद्मद् प्रसन्नं सवृत्तं जातम् । न सा राज्ञा वाम्यमाना वामपि प्रति अहिताचरणं वरिष्यतीति वचन-श्रवणेन प्रसन्नं मे मनो जातम् ।

चित्र०—सखि ! महान् अनुभावः प्रभावो यस्याः सा तथा प्रभाववत्या

पतिव्रतया पतिपरायणया महिष्या अभ्यनुज्ञातः अनुमतः अवृत्तविघ्नः ते प्रियेण समागमः नास्ति अन्तराया विघ्नो यस्मिन्निति अन्तरायो निविघ्नो भविष्यति । न ते प्रियसमागमे पापिद् वापा साम्प्रतमवशिष्यते । अभ्यनुज्ञात इति अभि + अनु + ज्ञा + तः ।

चिद्र०—(अपवायं अन्येयं वा श्रूयते तथा । अपवायंलक्षणन्तु—'रहस्य तु यः अन्यस्य परावृत्त्यै प्रवर्तितम् !') पुरतः समुत्सव्ये हन्तुं याम्ये वप्ये मयस्य पलायितं आलादिगंरय पुनर्बलं प्रविष्टे छिन्ना निष्पली गोपीभूतो वा हस्तो यस्य तादृशः शृणामुत्पीडारः पीडारः स्वगतीनालमनुदूषाटयन् यामिष १५

भणति “मया मुक्तस्त्वं यथेच्छ विहर । धर्मो मे भविष्यती”ति । यथा कश्चिन्
स्वीयाया हानौग्निर्वाप्यामात्मानं सन्तोषयति तथैव राज्ञ्या इदमोदार्यप्रकाशन-
मिति विदूषकः सोपहास भणति । (प्रकाशम्) भवति देवि ! किं तत्र भवान्
राजा तव तादृशः प्रियो येन तदर्थं तादृशमपमान सहमाना स्वद्वेष्यायामपि
तत्प्रियायामनुकूलमाचरितुं प्रवृत्ता तत्र भवती ?

देवी—मूर्ख ! एतादृशो मे प्रियस्तव वयस्यो यंताह आत्मनः स्वीयस्य
सुखस्य अवसानेन विनाशेनापि आर्यपुत्रस्य पत्युः सुखमिच्छामि कामये । एतावता
अनेन मम ध्ववहारेण त्वमेव चिन्तय विचारय तावन् यत्स मे प्रियो न वेति ।
अनेन राज्ञ्या धीरस्वभाववत्त्व पतिपरायणत्वं च गम्यते ।

राजा—न सहते इत्येव शोलाऽसहना तत्सबुद्धौ हे असहने त्व मा अन्यस्यै
वस्पर्शित् स्त्रियै दातु स्वस्य वा दास सेवक वतुं प्रभवसि । क्षमये । अह पुन-
स्त्वयि तथा न यथा हे भीरु भयशीले ! त्वा मा शङ्कने । नाहमन्यनारीसक्त
प्रत्युत त्वत्सेवनपर एव । त्वमद्यापि मयि प्रभवसि । आर्याच्छन्दः । १४।

देवी—भवतु मा वा त्वमन्यस्या सकलः स्याः न वा । मया मयानिर्दिष्टं
निर्दिष्टमनतिक्रम्येत्यव्ययीभावः । यथोक्त प्रियप्रसादन पतिपरितोषक व्रत
सपादिन साधु अनुष्ठितम् । परिजनाः परिचारकाः । आगच्छत । कार्यस्य
अनसिष्टत्वाद् वय गच्छामः । वनंमातसामीप्ये भविष्यति लट् ।

राजा—प्रिये ! यदि सम्प्रति सद्य एव विहाय मामेकादिन परित्यज्य
गच्छसि तर्हि बहं न प्रसादितः न प्रसन्नोऽहोऽस्मि । न मामत्र परित्यज्य त्वया
गन्तव्यमिति राज्ञोक्तिस्तु चाटुकारित्वं । वस्तुतस्तु तद्गमनमेव राज्ञोऽभि-
प्रेतम् ।

देवी—आर्यपुत्र ! साम्प्रतमिदानीं यावत् मे नियमो व्रत पूर्वं लङ्घित
इति लङ्घितपूर्वो न । अद्यावधि मे व्रत कदाचिदपि उच्यते न जातमतोऽहं
नात्र न्यित्वा तस्मिन् विघ्नमुत्पादयिष्यामि । ममाभावस्थान तवाप्रियासैव
भविष्यति । तेनैव वनमज्ञो भवेदिति प्रच्छन्नो भावः ।

उर्वशी—नसि राज्ञिः पुत्रवाः प्रियकलत्र यन्म न प्रियकलत्र प्रियरत्नो
कोऽस्ति । न पुन तथापि न हृदय मन चित्तमन्मात्रिवर्तयितुं परावर्तयितुं
राज्ञोपि ।

चित्र०—स्थिरा आशा यस्य स स्थिर प्रणय प्रसरो जन कथ केन प्रकारेण निवस्यते ।

अनुवाद—उर्वशी—ओह ! न जाने किसके विषय में इसने यह बात कहा है । फिर भी मेरा मन विश्वस्त हो जाने से प्रसन्न हुआ है ।

चित्र०—सखि ! महानुभावा पतिव्रता के द्वारा स्वीकृति मिल जाने से अब तुम्हारा प्रिय मिलन निर्विघ्न होगा ।

विदू०—(औरो को बचा कर) हाथ खाली जाने से सामने ही शिकार के भाग जाने पर जैसे कोई कह जाओ, धर्म होगा" (स्पष्ट) श्रीमति ! क्या महाराज आप को इतने प्यारे है ?

देवी—मूर्ख ! मैं अपने सुख का अंत करके आयपुत्र का सुख चाहती हूँ । इतने से सोच लो कि प्रिय हैं या नहीं ।

राजा—अरे असहने ! चाहे तुम मुझ किसी दूसरी स्त्री को सौंप दो या अपना दास बना कर रखो । किन्तु हे भीरु ! मैं तुम्हारे प्रति वैसा नहीं हूँ जैसा तुम मुझे समझती हो । १४।

देवी—हो या न हो । मैंने तो यथोक्त विधि से प्रियप्रसादन व्रत पूरा कर लिया है ।

राजा—यदि आप अभी मुझे छोड़ कर जाती हैं तो मुझे प्रसन्न नहीं कर सकी ।

देवी—आयपुत्र ! मेरा व्रत पहले कभी भङ्ग नहीं हुआ । (परिजनो के साथ चली जाती है ।)

उर्वशी—सखि ! राजपि को पत्नी प्यारी है । फिर भी मैं अपना मन फेर नहीं पाती ।

चित्र०—निश्चित आशा होने पर कैसे छोटाया जा सकता है ?

मूल पाठ—राजा—(आसनमुपसृत्य) वयस्य ससु दूर गता देवी ।

विदू०—भण वीसद्वो ज सि यत्तुवामो । असाज्जो ति परिच्छिदिअ आदुरो विअ वेज्जेण अहरेण सुवको तत्तभव भोदीए । (भण विअ इपो यदमि वयत्तुवामोऽनाध्य इति परिच्छिद्य आतुर इव वैद्येनाविरेण सुवत्तत्तत्रभवान् भवत्ता ।)

राजा—अपि नाम सा उर्वशी—

उर्वशी—(आत्मगतम्) किदत्या भवे । (कृतार्था भवेत् ।)

राजा—गूढं नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्त श्रुतौ पातयेत्,
पश्चादेत्य शनैः करोत्पलवृत्ते कुर्वीत वा लोचने ।
हर्म्येऽस्मिन्नत्रतीर्य साध्वमदशान्मन्दायमाना बलात्,
आनीयेत पदात्पद चतुरया सख्या ममोपान्तिकम् ।१५।

चित्र०—हला उर्वसि ! इमं दाव से मणोरहं संपादेहि । (सखि
उर्वशि ! इम तावदस्य मनोरथं सम्पादय ।)

उर्वशी—(ससाध्वसम्) कीडिस्सं दाव । (कीडिष्ये तावत् ।)

(इति पृष्ठेनागत्य राज्ञो लोचने सवृणोति ।)

(चित्रलेखा विदूषकं संज्ञा लम्भयति ।)

राजा—(स्पर्शं रूपयित्वा) सखे ! न खलु नारायणोरुसम्भवा
वरोहः ।

विदूषकः—कथं भवं अवगच्छदि ? [कथं भवानवगच्छति ?]

राजा—किंमत्र ज्ञेयम्—

राजा—

अन्यत्कथमिव पुलकै कलितं मम गात्रकं करस्पर्शात् ।

नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्येवाशुभिः कुमुदम् ॥१६॥

व्याख्या—राजा—वयस्य मित्र ! देवी खलु दूर न गता भवेत् । अनेन
राजा किञ्चित् तयाऽश्राव्य वक्तुराम. प्रतिभाति ।

विदू०—राज्ञो भाव ज्ञात्वा वदति—यत्किञ्चित् वक्तुं कामयते इति वक्तुं कामो
विवदिषु रसि तद् विश्वव्य विश्वासपूर्वकं भण । सुगोपनीयमपि नग्नि
राज्ञी न धोष्यति । असाध्योऽचिकित्स्य इति परिच्छिद्य मत्वा वैशेन चिकित्स्वनेन
आतुरो रोगीव भवत्या महिष्या भवान् मुक्तः परित्यक्तः । यथा दैवो रोगिण-
मसाव्य मत्वा त परित्यज्य गच्छति तथैव महिषी ते कामरोगमसाध्य मत्वा
त्वा परित्यज्य अचिरेण शीघ्रमेव गता ।

राजा—अपि नाम सा उर्वशी—उर्वशीविरहसन्तप्तो राजा तामेव ध्यायति ।

उर्वशी—(आत्मगत स्वमनसि चिन्तयति) अपि नाम उर्वशी कृतार्था भवेत् । यदि भवान् मामेव स्मरति तर्हि कृतार्थाऽह जायेय ।

राजा—वाक्य पूरयन् वदति—गूढमिति—अपि इति सभावनायाम् । नाम उर्वशी गूढ गुप्तरूपेण मे मम श्रुतौ कर्णे कान्त मनोहर नूपुरस्य शब्दम् एवेति नूपुरशब्दमात्रमपि पातयेत् । सा नूपुरशिञ्जितेनापि मयि कृपा विदध्यात् । अथवा शनै पश्चात् पृष्ठत. एत्यागत्य लोचने मे नेत्रे करो उत्पले इवेति करोत्पले ताम्या वृते करकमलसवृते कुर्वति । अथवा अस्मिन् हर्म्ये प्रासादे अवतीर्य साध्वसवशाद् भयेन मन्दा भवतीति मन्दायते सा_ मन्दायमाना मन्द-मन्द गच्छन्ती चतुरया सत्या चित्रलेखया पदात्नद प्रतिपद मनान्तिरु मम समीपमानीयेत् । कथमपि तया सह मम सङ्गमो भवेदिति राजा सौत्सुक्य-दिचिन्तयति । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥१५॥

चित्र०—सखि उर्वशी । इम पूर्वश्लोकेवर्णित तावदस्य मनोरथ काम सम्नादय पूरय । समीप गत्वा त सम्भावय ।

उर्वशी—(ससाध्वस सभयम्) क्रीडिष्ये तावत् । अप्रत्यक्षैर् लोचनावरणैः तस्याश्चर्यं सम्पादयिष्यामि । (इति एव चिन्तयित्वा पृष्ठेन पश्चादेत्यागत्य राज्ञो लोचने सवृणोति हस्ताभ्यामाच्छादयति) चित्रलेखा विदूषक सर्जा तूष्णीं स्यात् हस्तेन सङ्केतलम्भयति प्रापयति ।)

राजा—(स्पर्शमुर्वशी करसपक निरूप्य अनुभाव्य) सखे ! किं न इय नारायणस्य ऊरुः सम्भवो जन्मस्थान यस्याः सा वरे ऊरु यस्या. शाभनजघना भवत् । किन्नेय नारायणोरुजाता उर्वशी ? इति विदूषक पृच्छति ।

विदू०—अथ भवान् अवगच्छति जानाति ?

राजा—किमत्र ज्ञेयम् । स्पष्टमेवाह तत्स्पर्शमनुभवामि—

अन्यदिति—मम मात्रक देहः वरेण स्पर्शः परस्पर्शस्तस्मात् पुलकैः क्वणित रोमाञ्चितम् सद् अन्यदिव कथम् । यदि तस्याः करस्पर्शो न स्यान्ने देहा रोमाञ्चपृक्ता न भवेत् । चन्द्रस्य विषो अधुभिः वरैरिव सपतीति तामः गूर्प-रतस्य विरर्णः कुमुद न उच्छ्वसिति विवसति । कुमुद यया चन्द्रस्य शीतलै.

किरणं विरसति तथा सूर्यस्य किरणं । तथैव मम गात्रे उर्वशीकरस्पर्शेनैव
रोमाञ्चो भवति नान्यस्पर्शेन । दृष्टान्तालङ्कारः । वल्लक्षणम्—“दृष्टान्तस्तु
सघर्मस्य वस्तुनः प्रतिविम्बनम् ।” आर्याच्छन्दः ॥१६॥

अनुवाद—राजा—(आसन के पास जाकर) मित्र ! देवी दूर तक नहीं
जा पायी होगी ।

विद्व०—जो कहना हा, दिग्वासपूर्वक कहो । जैसे रोगी को असाध्य
जानकर बँध झट से चला जाता है वैसे ही वे भी तुम्हें छोड़ गयी हैं ।

राजा—यदि वही उर्वशी—

उर्वशी—(मन में) कृतार्थ हो जाय !

राजा—चुपचाप मेरे कान में अपने नूपुर का प्यारा शब्द ही डाल दे ।
या धीरे-धीरे पीछे से आकर अपने कर-कमलो से मेरी आँखें मीच ले ।
अथवा इस महल पर उतर कर ढर के मारे धीरे-धीरे चलती हुई उर्वशी को
उसकी चतुर सखी बन्पूर्वक कदम-कदम मेरे पास ले आये ॥१५॥

चित्र०—सखि उर्वशी ! इसके इस मनोरथ को तो पूरा कर दो ।

उर्वशी—(सभय) खेल कहूँगी । (पीछे से आकर राजा की आँखें बन्द
कर लेनी हैं । चित्रलेखा विद्वपक को शान्त रहने का संकेत देती है ।)

राजा—(स्पर्श का अनुभवकर) मित्र ! क्या यह नारायण के ऊह से
उत्पन्न वरोह उर्वशी नहीं है ?

विद्व०—आप किस तरह जानते हैं ?

राजा—इसमें जानना क्या है ? मेरा शरीर इसके हाथों के छू जाने से
रोमाञ्चित होकर कुछ और तरह का ही हो गया है । चन्द्र को किरणों के
समान सूर्य की किरणों से कुमुद नहीं खिल करता ॥१६॥

मूल पाठ—उर्वशी—अम्महे । वज्रलेव घडिद विञ्ज मे हत्यजुम्लं ण
समत्याम्हि अवणेदुम् । (अम्महे ! वज्रनेपलटितमिव मे हस्तयुगलं न
समर्याऽम्यपनेनुम् ।) (इति मुकुलिनाक्षी चक्षुषा हस्तावपनीय स
साधयना तिष्ठति ।)

(राजा हस्वाम्ना गृहोत्था परिवर्तयति)

उर्वशी—(षष्ठादुपसृत्य जंतु जंतु महाराजो । (जयतु जयतु महाराज ।)

चित्रलेखा—मुह दे वअम्भ । [गुण ते वयस्य ।]

राजा—नन्येतदुपपन्नम् ।

उर्वशी—हला । दवीए दिण्णो महाराजो । अदो मे णणयवदी विअ मरीरसगदासि । मा गु म पुरोमादणो ति ममत्पेहि । [मणि । देव्या दत्तो महाराज । अतोऽस्य प्रणयवतीय शरीर सङ्गताऽस्मि । मा खलु मा पुरोभागिनीति समर्थय ।]

विदूषक—वध इह जेव तुम्हाण अत्यमिदो मूरो । [वयमप्रैव युवयोरस्तमित सूर्य ।]

राजा—(उर्वशी विलोचय)

देव्या दत्त इति यदि ध्यापार व्रजसि मे शरीरेऽस्मिन् ।

प्रथम कस्यानुमते चोरितमयि मे स्वया हृदयम् ॥ १७ ॥

चित्रलेखा—वअस्त । निरुतरा एणा । मम सपद विण्णविअ सुणीअदु । [वयस्य । निरुतरा एणा । मम साम्प्रत विजापित्थयताम् ।]

राजा—अवहितोऽस्मि ।

चित्रलेखा—वसन्ताण तर उण्णसमए भअव सुज्जो मेए उवअरिदवो । ता जघा इअ मे पिअसहो मग्गस्त ण उवकठेदि तथा वअस्सेण कादव्वम् । [वसन्तानन्तरमुण्णसमय भगवान् सूर्यो मया उपचरितव्य । तद्यथा इय मे प्रियसखी स्वगस्य नोऽकण्ठते तथा वयस्येन कर्तव्यम् ।

विदू०—भौदि । किंवा सग्गे सुमिरिदव्वम् । ण तत्थ खाई अदि ण पीअदि केवल अणिमिसेहि अच्छोहि मीणा विडम्बनी अदि । (भवति । किंवा स्वर्गे स्मर्तव्यम् । न तत्र खाद्यते न पीयते । केवलमनिमेषैरक्षिभिर्मौना विडम्ब्यन्ते ।

राजा—वयस्य । अनिर्देश्यसुख स्वर्गं कथं विस्मारयिष्यते ।

अनन्यनारीसामान्य दासस्त्वस्या पुहुरवा ॥ १८ ॥

चित्रलेखा—अणुगृहीदमिह । हला उव्वमि । अकादरा भविज
विसज्जेहि मं । [अनुगृहीतास्मि । सखि उर्वंशि । अकातरा भूत्वा विसजंय
माम् ।]

उर्वंशी—(चित्रलेखा परिष्वज्य मकरणात्) सहि । मा खु मं विसु-
मरेसि । [सखि । मा खलु मा विन्मरिष्यसि ।]

चित्रलेखा—(मस्मितम्) वअम्मेण संगदा तुमं मए एव्व जाचि-
दव्वा । [वयस्येन सगता त्वं मयैव याचितव्या ।]

(इति राजान प्रणम्य निष्क्रान्ता ।)

व्याख्या—उर्वंशी—अम्मह इति आश्चर्ये । वजंस्य लेपः तेन घटित
निमित्तमिव मे हस्तयोर्गुणल करयुग अपनेतु राज्ञो नयनोरपसारयितु न
समर्था क्षमाऽस्मि । नायकस्पर्शेन जडोभूताविव हस्तौ जाताविति तात्पर्यम् ।
उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

इति एवमुक्त्वा मुकुलिते निमीलिते अक्षिणी यस्याः तादृशी निमीलित-
नयना राज्ञः चम्पुो नैत्राद् हस्तावपनीय अपचार्यं माध्वनेन महितेति सत्ता-
ध्वसा समया तिष्ठति ।

(राजा पश्चात्स्यता ता हस्ताभ्या गृहीत्वा परिध्वतंयति समुद्ये आनयति)

उर्वंशी—(कथञ्चिन्लज्जावशात्काठिन्येन उपसृत्य पुरतो भूत्वा)
जयतु . एषोऽभिवादनविधिः ।

चित्र०—सुख भवतु ते वयस्य ! सुखी त्व भूया ।

राजा—ननु निश्चयेन एतत् सुखे उपपन्नं चाग्रतः तत्र सखी-समागमेन
सुखं मे सजातम् ।

उर्वंशी—सखि ! देव्या राजमहिष्या दत्तो महाराजा महामिति शेषः ।
स्तस्तयाक्त या स्त्री महाराज कामयते तथा सह मया स्नेहेन वर्तितव्यमिति ।
अनोज्ञेन वारणेन प्रणयवती अस्य स्नेहपात्रमिव अस्य शरीरं सङ्गताऽस्मि ।
अस्य शरीरालिङ्गनमहं तपैव करामि यथा वाचित् प्रेयसी स्वप्रियस्य करोति ।
अनेन व्यवहारेण मा खलु मा पुरोभागिनी दापभागिनी परपति कामयमानेति
मा मामपराधिनी समर्थय मन्यन्व । यताऽनुजाताऽहं तदर्थं राधा । 'दर्यकदूक्
पुरोभागी'ति हेमचन्द्रः ।

विदू०—उर्वशीचित्रलेखयोस्तिस्वर्णिषोच्छन्नत्वाद्द्विदूषणो नाजानात् कस्मान्
 यालात् मेऽत्रावस्थिते इति । अत्रोऽसौ ध्वित सन् पृच्छति—अयं किं युवयो
 सूर्यं, अत्रैव अस्तमितः । किं युवां सूर्यास्तमनकालान् प्रागेव इहागते ?

राजा—(उर्वशी विलोक्य) देव्या इति—देव्या राज्ञाऽहं तुभ्यं दत्त इति
 अनेन धारणेन यदि त्वं मेऽस्मिन् शरीरे व्यापारमालिङ्गनादिकं व्रजसि प्राप्नोषि
 तदा कथयेति शेषः—प्रथममित, पूर्वं कस्यानुमते कस्मानुजया मे हृदयं त्वया
 चोरितम् स्वाधिकार नीतम् । हृदयं तु राज्या अनुमतेः प्रागेव त्वदधीन जातम्
 आर्याच्छन्दः । १७।

चित्र०—वयस्य ! निरुत्तरा प्रत्युत्तरं दातुमक्षमा एषा उर्वशी ! मम
 साम्प्रतं विज्ञापितं सूच्यं श्रूयताम् ।

राजा—अवहितः सावधानः त्वद्वचनं श्रोतुं दत्तावधानोऽस्मि ।

चित्र०—वसन्तानन्तरं वसन्तकालस्य समाप्तौ उष्णमये भगवान् सूर्यो
 मया उपचरितव्यः सेवितव्यः । अप्सरसो भगवन्तं सूर्यं नृत्यादिना, पर्यायेण
 उपतिष्ठन्तीति पौराणिकाः । तद् अहं गमिष्यामि मद्गमनानन्तरं चैव मम
 प्रियसखी स्वर्गस्य नोत्कृष्टते स्वर्गं धारवारं स्मरन्ती तत्र गन्तुं न कामयते तथा
 वयस्येन भवता कर्तव्यम् ।

विदू०—भवति किं वा स्वर्गं स्मृतं व्यम्, किमस्ति तत्र स्वर्गं तादृक् मनोरहं
 यत् स्मृत्वा कश्चित्तत्र गन्तुमुत्सहेत् । तत्र न खाद्यते न पीयते—प्रसिद्धमेव यद्
 देवाः यज्ञेषु प्रदत्तं हविर्भिस्तुष्यन्ति नान्यत्किञ्चिददायन्ति पिबन्ति वा । विदूषकस्य
 भोजनपानप्रियत्वात्तद्विहितः स्वर्गोऽज्ञाकर्षक एव । तत्र केवलमनिमेषः निमेष-
 रहितैरक्षिभिर्नैत्रैर्मीना विडम्ब्यन्ते अनुक्रियन्ते केवलं मीनवत् सुन्दराणि
 नेत्राभ्येव सन्ति परं तान्यपि निनिमेषाण्येव ।

राजा—वयस्य चित्रलेखे ! निर्दोष्टु वरुणयितुं न शक्यमित्यनिर्देश्य सुखं
 यस्मिन् इत्यनिर्देश्यं सुखं, तम् । यस्मिन् स्वर्गोऽवर्णनीयं सुखं विद्यते न कोऽपि
 तं स्वर्गं विस्मारयितुं क्षमः । परम् अन्या नारी अन्यनारी तस्यै सामान्यं साधा-
 रणतया उपमाक्तुं योग्यं इति अन्य-नारी-सामान्यं, न अन्य नारी सामान्यं इति
 अनन्यनारी सामान्यः पुरुषवास्तु अस्य, दासः, विद्वार । दासते आमानं ददाति
 इति दासः । या नान्यानारी लब्धुं शक्नोति सोऽहमस्या, दास इति तु अहं धनु

प्रमदामि । उक्त कुमारसंभवेऽपि पंचमे सर्गे कविना "अद्य प्रमृत्यदनताङ्गि
तवाऽस्मि दामः" इति । अनुपुष्पुत्तम् ॥१८॥

चित्र०—अनुगृहीता अस्मि ईप्सित लाभेनानुक्म्पितामात्मान मन्ये ।
हला उर्वंशि ! अकातरा अभीता भूत्वा मा विस्मयन्तुमनुजानीहि ।

उर्वंशी—चित्रलखा परिप्वज्य—आलिङ्ग्य । सखि मा खलु मा विस्मर ।
यद्यपि साम्प्रत त्वं गच्छति तथापि त्वयाऽह् स्मृतं व्या ।

चित्र०—वयस्येन राजपिणा सगतामिलिता त्वमेव माया एतन्
याचिनव्या । साम्प्रत त्व प्रियेण सगता सर्वमपि सखीजन विस्मरप्यति ।
तेन मयेवेय प्रार्थना त्वा प्रतिकर्तव्या । अह तु नैव विस्मरिष्यामि । (राजान
प्रणम्याभिवाद्य निष्क्रान्ता गाता)

अनुवाद—चित्र०—वसन्त वीतने पर उष्ण काठ मे मुझे भगवान् सूयं
को सेवा-परिचर्या करना है तो आप ऐसा करिये जिमसे मेरी इस सखी को
स्वर्ग की याद न सताये ।

विदू०—श्रीमती ! स्वर्ग मे याद करने के योग्य है ही क्या ? न खाया
जाता है, न पिया जाता है ! केवल निनिमेष नयनों से मधुलिया की नकल
उतारी जाती है ।

राजा—भद्रे ! स्वर्ग का सुख तो अवर्णनीय है । उसे भला कौन मुला
सकेगा ? हाँ, यह पुरूरवा, जिस तक अन्य किसी नारी की पहुँच नहीं है वह
अवश्य इसका दास है ॥१८॥

चित्र०—अनुगृहीत हूँ । सखि उर्वंशि, बिना घबराहट के मुझे विदा करो ।

उर्वंशी—(चित्रलेखा का आलिगन कर) सखि ! मुझे भूल न जाना ।

चित्र०—वयस्य से मिल जाने के बाद अब यह माँग तो मुझे तुमसे करनी
चाहिये ।

(राजा को प्रणाम करके चली जाती है)

टिप्पणी—उपचरितव्य—उप+चर+तव्यः । सेवन करना है, उच-
स्यित होकर पूजा करनी है । स्वर्गस्य नोत्कण्ठेत—'अधीगर्भदयेया कर्मणि'
सूत्र से 'स्वर्ग' मे पठी । यथा मातुः स्मरति । उत्करटेन यह उत्कण्ठा शब्द का
साम्बन्ध है । तथावयस्येनकर्तव्यम्—इससे मानी-विरह की सूचना मिलती

है और इस प्रकार अग्रिम अक्ष के अर्थोपक्षेप के कारण यह अकावतार है । यहाँ शाकुन्तल का यह कथन भी देखें—“वयस्य यया नो प्रियसखी दन्वु-जनसोचनीया न भवति तथा निर्वाह्य ।” अनिमेपैः—न निमेपा सन्ति येषा तानि अनिमेपानि तै । देवताओं के पलक नहीं गिरते, इस विचार से यह बात कही गयी है । दास—दासते आत्मन ददाति इति दासः । देखिये कुमार० (५—८६) ‘अद्यप्रभुत्ववनताङ्गि तवास्मि दासः ।’ याचयितव्या—याच् + णिच् + तब्ध + टाप् । यह द्विकर्मक धातु बन गयी है जिसका एक कर्म है ‘त्वम्’ और दूसरा एतत् । प्रथम ने कर्मवाच्य होने से ‘उक्ते प्रथमा’ है ।

मूल पाठ—विदू०—दिट्टिआ मनोरह-सम्पत्तीए वट्टुदि भव । (दिष्ट्या मनोरथसंपत्त्या वर्धते भवान् ।)

राजा—इय तावद् वृद्धिर्मम । पश्य

सामन्त-मौलिमणि-रञ्जित-शासनाङ्क-
मेकातपत्रमवनेनं तथा प्रभुत्वम्,
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्त-
माज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः ॥१६॥

उर्वशी—नयिय मे विहवो अदो पिअदर मन्तिदुं । [नास्ति मे विभ-
वोऽतः प्रियतरं मन्त्रयितुम् ।]

राजा—(उर्वशी हस्तेनावलम्ब्य) अहो विरुद्ध-संबंधनईप्सितलाभो नाम ।

पादास्त एव शशिन सुखयन्ति मात्रं
वाणास्त एव मदनस्य ममानुकूलाः ।
मरम्भरक्षमिव सुन्दरि यद्यदामीत्
त्वत्सगमेन मम तत्तदिवानुकूलम् ॥२०॥

व्याख्या—विदू०—दिष्ट्या सौभाग्येन मनोरथ-संपत्त्या इच्छानुकूलमिष्ट-
साधनेन वर्धते भवान् ।

राजा—इयं तावद् वृद्धिर्लाभा मय—सामन्तेति—सखे । अस्या
प्रियाया. चरणया. पादयोः कान्तं प्रियम् आज्ञाकरत्व यथावदस्वम् आज्ञा

करोति सम्पादयति स आज्ञाकरः सेवकस्तस्य भावः—अधिगम्य प्राप्य यथा अहम् अयं कृतः निष्पन्नः अर्थः कार्यं येन स कृतार्थः सफल. कृतकृत्यो वा तथा सामन्ताना समन्ते भवाना प्रत्यन्तवर्तिनामधीनाना भूपतीना मौलयः तेषु ये मणयः तैः रञ्जित शोभित शाननमेव अङ्कुरिचह्लं यस्य तत् एवभूतम् एक आतपात् त्रायते इति आतपत्र छत्र यस्मिन् सत् एकच्छत्रम् अवने पृथिव्या प्रभुत्व स्वामिबम् अधिगम्य प्राप्य तथा न (कृतार्थः) यद्यप्यहमेकच्छत्रस्य राज्यस्याधिपति । अनेके सामन्ताश्च मा शिरोभि' सदा प्रणमन्ति तथाऽपि नैतत् प्रभुत्व मा तथा सुखयति या अस्याश्चरणयो दासत्वम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१९॥

उर्वशी—नास्ति मे वाग्बिभवो नास्तिवरुणशक्तिः अतः अस्मादधिकं प्रियतर हृद्यन्तरे मन्त्रयितुं कथयितुम् ।

राजा—(उर्वशी हस्तेन अवलम्ब्य गृहीत्वा) अहो विरहं प्रतिकूल सर्वध-
यतीति विरहः सर्वधनः विरहः प्रभावजनक ईप्सितस्यलाम इच्छितवस्तु
प्राप्तिर्नाम । इच्छितवस्तुनः प्राप्तौ पदार्थाना प्रभावो मनसि पूर्वतः प्रतिकूलमेव
जायते । यतः अस्मात् ।

पादा इति—ते एव ये पूर्वं पीडाकरा आसन् ते एव शशिनः चन्द्रमसः
पादा. किरणागात्र शरीर सुखयन्ति अधुना उर्वशीसमागमे । मदनस्य कामस्य
स एव वाणा ये पूर्वं व्यपयन्ति स्म साम्प्रत मनस. अनुकूला. मनोरमाः
सञ्जाताः । सुन्दरि ! यद् यद् वस्तु सरम्भेण त्वद्वियोगजन्य-चित्तवैकल्येन रक्ष
नीरसमिव आसीत् तत् तत् तव सगमस्त्वत्सगमस्तेन तव सयोगेन अनुकूलम्
अनुनीतमिति पाठे कृतसान्त्वनमिव जातम् । अत्र विरहिणोऽवस्थाया याथाव्येन
वर्णनात् स्वभावोक्तिरलङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२०॥

अनुवाद—विदू०—सौभाग्य से आपकी मनोरम-सम्पत्ति की वृद्धि हो
रही है ।

राजा—यह तो मेरी वृद्धि है । देखो मित्र ! सामन्त लोगो के मुकुटो मे
जडो मणियो के रग से रञ्जित शासनादेश जिसका अक (पहचान) बन गये
हैं ऐसी पृथ्वी का एकच्छत्र साम्राज्य पाकर भी मैं उतना कृतार्थ नहीं हुआ
जितना आज इनके चरणो के सेवक का पद पाकर कृतार्थ हुआ हूँ ॥१९॥

उर्वशी—इससे अधिक प्यारी बात कहने की शक्ति मेरी वाणी में नहीं है।

राजा—(उर्वशी का हाथ पकड़कर) ओह, अमीष्ट वस्तु की प्राप्ति विरुद्ध प्रभाव को बढ़ा देती है।

चन्द्रमा की वे ही किरणें शरीर को सुख पहुँचा रही हैं। कामदेव के वे ही वाण मेरे अनुकूल हो गये हैं। जो-जो कुछ विक्षोभ के कारण नीरस-सा लगता था, तुम्हारे समागम से अब वही-वही मेरे अनुकूल हो गया है ॥२०॥

टिप्पणी—सामन्त...पीठम्—सामन्ताना मौलयः, तेषु भणयः इति सामन्तमौलिमणयः तैः रञ्जित शासनमेव अङ्को यस्य तत् । समन्ते भवाः सामन्ताः ।

एकातपत्रम्—आतपात् प्रायते इति आतपत्रम् । एकं च तत् आतपत्रमिति एकातपत्रम्-एकच्छत्रम् ।

विरुद्धसंवर्धनं —विरुद्धं संवर्धयतीति । परस्परविरोधी बातों या कार्यों को बढ़ाने वाला ।

संरम्भरुक्षम्—संरम्भेण रुक्षम् । रोष के कारण कठोर लगने वाला ।
पादास्त्र एव—इस श्लोक में विरही की अवस्था का यथार्थ वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है। वसन्ततिलका छन्द है। इससे पूर्व "सामन्त-मौलि" आदि श्लोक में भी वसन्ततिलका छन्द है।

मूल पाठ—उर्वशी—अवरध्वाहि चिरकारिआ महाराअस्त ।
[अपराद्धाऽस्मि चिरकारिका महाराजस्य']

राजा—मा मैवम् ।

यदेवोनतं दुःखात् सुखं तद्रसवत्तरम् ।

निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥२१॥

विदू०—भो सेविदा पदोत्तरामणीआ चन्द्रवादा । समथो खु दे वासधर-पवे सस्त । [भोः सेविताः प्रदोष-रमणीयाश्चन्द्रपादाः । समय-खलु ते वासगृहप्रवेशस्य ।]

राजा—तेन हि सत्यास्ते मार्गमादेश्य ।

विदू०—इदो इदो भवदी । [इत इतो भवती ।] (इति परिक्वामन्ति)

राजा—सुन्दरि इयमिदानीमभ्यर्थना ।

उर्वशी—कथं विद्म । [कथामिव]

राजा—अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं
शतगुणितेव गता मम त्रियामा ।

यदि तु तव समागमे तथैव

प्रमरति सुभ्रु ततः कृती भवेमम् ॥२२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

तृतीयोऽङ्कः समाप्तः

व्याख्या—उर्वशी—अपराधा कृतापराधाऽस्मि चिरं करोतीति चिन्तारिका
महाराजस्य ।

राजा—सुन्दरि ! मा मेव एवं न वक्तव्यम् ।

यदेवेति—यत् सुखं दुःखाद् दुःखमनुभूय उन्नतमुपस्थितं तदेव रसोऽस्ति
यस्मिन् तद् रसवत्, अतिशयेन रसवदिति रसवन्तरम् स्वादुतरम् । तरो
छायेति तरुच्छाया तस्य सूर्यात्पेन आयामितस्य हि विशेषतः अर्धकनरं निर्वा-
णाय तृषये सुखाय वा कल्पते । तदुक्तं मृच्छकटिकेऽपि (१-१०) 'सुखं हि
दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्' इति । निर् पूर्वकाद् वायातोः
क्त प्रत्यये निर्वाण इति रूपम् । 'निर्वाणोऽवोत' (८-२-५०) इति सूत्रेण
क्तस्य णः ॥२१॥

विदू०—भवति । सेविताः प्रदोषे सन्ध्याकाले रामणाय मनोहराश्चन्द्र-
पादाः चन्द्रमसो मरीचयः । तत् तेन समयः खलु ते गृहे प्रवेश इति गृहप्रवेश-
स्तस्य ।

राजा—तेनहि सख्या । मार्गमादेशय प्रदर्शय, वासगृहं गन्तुम् ।

विदू०—इत इतोऽनेन मार्गेण गच्छतु भवती । (इति परित्रामन्ति
गच्छन्ति ।)

राजा—सुन्दरि ! इयम् इदानीम् अभ्यर्थना याच्ना, प्रार्थना वा ।

उर्वशी—कथमिव वा साऽभ्यर्थना ?

राजा—हे शोभने भ्रुवी यस्याः सा सुभ्रू. तत्प्रशोधने सुभ्रु ! पूर्वं तव
प्राप्तेः पूर्वं न उपनतः अधिगतः मनोरथः मनोरथस्त्वत्प्राप्तिरूपो यस्य न तस्य

मम त्रियामा रात्रिः त्रयो यामा. यस्या सा "निशा निशीबिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षया" इत्यमर । दशतगुणिता दशतरात्रिसमागता व्यतीता । यदि तु तव समागमे त्वया सह स्थितवति मयि तथैव दशतगुणितैव प्रसरति विन्वृता स्यात् ततः कृती कृतकार्यः सुखी वा भवेयम् । अत्रेय सूचना उत्तराङ्क-वधोपयोगित्वात् विन्दुरित्यबधेयम् । तदुक्तम् "अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेद-कारणम् ।" पुष्पिताग्रा वृत्तम् । तल्लक्षण तु "पुष्पिताग्रा नोयी न जौ ज्यौग्" इति । (इति निघ्नान्ता. रङ्गभूमेर्बहिर्गताः सर्वे) इति तृतीयोऽङ्कः ।

अनुवाद—उर्वशी—महाराज ! देर करके मैंने आपका अपराध किया है ।

राजा—यो न कहो ।

दुःख के बाद प्राप्त होनेवाला सुख अपेक्षाकृत अधिक रसीला होता है । पेठ को छाया घूप से तपे हुए व्यक्ति का और अधिक शान्ति प्रदान करती है ॥२१॥

विदू०—भई, प्रदोष बला की मनोरम चन्द्रकिरणों का सेवन कर लिया । अब चासगृह में तुम्हारे प्रवेश का समय हो गया ।

राजा—तो अपनी सखी को रास्ता दिखाओ ।

विदू०—आप इधर से, इधर से चलिये । (चलते हैं)

राजा—सुन्दरि ! अब यह प्रार्थना है ।

उर्वशी—क्या ?

राजा—हे सुभ्रु ! मनोरथ पूर्ण होने से पूर्व मैंने इस तीन पहर वाली रात को सीपुत्री बनी हुई की तरह बिताया है । यदि यह तुम्हारे समागम में भी वैसी ही लम्बी हो जाय तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ ।

(सब चले जाते हैं)

टिप्पणी—यदेवोनतम्—मच्छकटिक म देखिये—“सुख हि दुःखान्यनुभूय शोभत घनान्धकारेण्विव दीपदर्शनम् ।”

निर्वाणाय—पूर्ण तृप्ति के लिये । निर्+वा+क्त । “निर्वाणोऽत्राते” मूल से क्त के त् को न् हो जाता है ।

अनुपनत—इस अर्थ की सूचना के अग्रिम अङ्क के लिये उपयोगी होने से ‘विन्दु’ जानना चाहिये ।

(तीसरा अङ्क समाप्त हुआ ।)

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विमनस्का चित्रलेखा सहजन्या च)

मूलपाठः—सहजन्या—(चित्रलेखा विलीव्य) सहि मिलाअमाण-सदवत्तस्स विअ दे मुहस्स छाया हिअअस्स अस्सथ्यदं सूएदि । ता कहेहि णिव्वेद-कारण । सम-दुख्खा होदुं इच्छामि । [सखि म्जायमानशतपत्रस्येव ते मुखस्य छाया हृदयस्यास्वस्थता सूचयति । तत्कथय निर्वेदकारणम् । इह सम-दुःखा भवितुमिच्छामि ।]

चित्र०—प्रच्छरा-वार-पज्जाएण इह भअवदो सुज्जस्स पादमूलो वट्टाण वट्टदिस्सि वलिअखु उव्वसीए उव्वकण्ठिदह्ति । [अप्सरो वारपर्यायेण इह भगवतः सूर्यस्य पादमूलोपस्थानं वर्तते इति बलवत् खलुवंश्या उत्कण्ठिताऽस्मि ।]

सहजन्या—जाणे वो अण्डोण्णा सिणेहं । तदो-तदो । [जाने युवयो-रन्योन्यस्नेहम् । ततः ततः]

चित्र०—तदो इमाइ दिवसाइं कोणु खु वृत्तन्तोत्ति पणिघाणट्टिदाए मए अच्छाहिदं उवलध्वं । [तत एतेषु दिवसेषु को नु खलु वृत्तान्त इति प्रणिधानस्थितया मया अत्याहितमुपलब्धम् ।]

सह०—(सावेगम्) कोरिस विअ [कीदृशमिव ?]

चित्र०—उव्वसी किल तं रदि-सहाअं राएसि अमच्चेसु णिव्वेसिद-रज्ज-धुर गेण्हिअ गन्ध-मादण-त्रण त्रिहरिदुं गदा । [उर्वशी किल तं रतिसहायं राजपिममात्येषु निवेशितराज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विह्वुं गता ।]

सह०—सो णाम संभोओ जो तारिसेसु पदेसेसु । तदो तदो । [सनाम संभोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु । ततस्ततः ?]

चित्र०—तर्हि खु मन्दाइणीए पुलिणेसु गदा सिबदा-पव्वद-वैलीहि
कीलमाणा विज्जाधर-दारिभा उदयवती णाम देण राएसिणा चिर णिञ्जआ-
इदत्ति कुविदा उव्वसी । [तत्र खलु मन्दाकिन्या पुलिनेषु गता सिकता-
पर्वत-केलिभि क्रीडन्ती विद्याधरदारिका उदयवती नाम तेन राजर्षिणा
चिर निध्यातेति कुपिता उर्वशी ।]

व्याख्या—(तत तृतीयाङ्कस्य समाप्तेरनन्तर विगत मनो यस्या सा
एवविधा विमनस्का खित्रचिन्ता, “उर-प्रभृतिभ्य कप्” (५-४-१५१) इति
क (प्) प्रत्यय, चित्रलेखा सहज्या च प्रविशति ।)

सहज्या—(चित्रलेखां विद्योक्त्या वा प्रति दृष्टिं निक्षिप्य) सखि ! म्लायते
इति म्लायमान, शत पत्राणि यस्य तच्छतपत्र, म्लायमान च तत् शतपत्रमिति
म्लायमानशतपत्र तस्य इव ते मुखस्य छाया कान्तिः हृदयस्य अस्वस्थता
रग्णावस्था सूचयति प्रकटयति । तत् निर्वेदस्य म्लानेः कारणं कथय । सम दुःख
यस्याः सा समवेदनामयी भवितुमिच्छामि । तव मुखे दृश्यमाना श्यामता
तेज्जन्तवेदना प्रकटयति । तव वेदनया च ममापि दुःख स्वाभाविकं तेन मा
विस्पष्टं कथय स्वमनोवस्थाम् ।

चित्र०—अप्सरसा वार. सेवाया नियुक्तिस्तस्य पर्यायः क्रमस्तेन इह
भगवतो देवस्य सूर्यस्य पौदमूलस्य उपस्थान पूजा सेवा वा वर्तते इति अस्मात्
कारणात् समयाभावेन ता द्रष्टुं गन्तुमसमर्थतया उर्वस्या विनाऽहं बलवदधिक
मुक्तिं ष्ठीताऽस्मि खलु । पुराणेषु प्रसिद्धिर्यत् मिन्नेषु ऋतुषु अप्सरसः पयसिण
भूयंमुपतिष्ठन्ति । गताङ्क एवोक्तं चित्रलेखया “वसन्तान्तरे उष्णसमये”
इत्यादिनेतत् । भागवतानुसारेण श्रीष्मती रम्भा मेनके सूर्यमुपतिष्ठेते दूम-
पुराणानुसारेण च मेनका-सहज्ये । कालिदासेन तु नाभोविषये स्वातन्त्र्य-
मवलम्बितम् । उत्कण्ठालक्षणन्तु “रामे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या—
ससौषिणो तु मात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः ।”

सह०—जामे युवयोरग्योग्य प्रति प्रेम । ततस्तत विं सवृत्तम् ?

चित्र०—तताऽनन्तर एतेषु दिवसेषु को नू खलु वृत्तोऽन्तो यस्य सा वृत्तान्त-
समापारः इति ज्ञातुं प्रणिधाने समाधौ विचारे वा स्थितया मया अख्याहितं मह
भयम् उपलब्धम् । योगाङ्गेषु अष्टसु प्रणिधानं नामाष्टमं अनेन अनुपस्थित-

वस्त्वपि प्रत्यक्षीकृतुं शक्यते । उक्तं च शाकुन्तलेऽपि पठेऽङ्के सानुमत्या—'अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं ज्ञातुम् ।' प्रियेण सह कथं वर्तते उर्वशी इति विचार-
यन्त्या मया महदनिष्टं ज्ञातम् ।

सह०—(जावेगेन सक्षोभेण सहेति सत्रेगम्) कीदृश किम्प्रकारकमिव तदनिष्टम् ।

चित्र०—उर्वशी किल त रती सुरतोपभोगे सहायस्त राजपिम् अमात्येषु मन्त्रिषु निवेशिता स्यापिता राजस्य धूर्मारो येन त गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहृतुं गता । अमा (समीपे) भव इत्यमात्यः 'अव्ययात्यम्' (४-२-१०४) इति सूत्रे 'अमेहक्वतसित्रेभ्य एव' इतिवार्तिके-त्यम् । गन्धमादन नाम हिमवत्पुरस्योपधिप्रत्यस्योपवनम् ।

सह०—स नाम स एव सत्यं समोगस्तुरतविलासी यस्तादृशेषु गन्धमादन-सदृशेषु प्रदेशेषु । ततस्ततः ततः किं वृत्तम् ? कालिदासेन उमासङ्ख्योरपि समागोत्सवो गन्धमादन एव वर्णितः ।

चित्र०—तत्र खलु मन्दम् अवितुं शीलं यस्याः सा मन्दाकिनी सुरसरित् तस्याः पुलिनेषु बालुकामयोत्तप्रदेशेषु गता सिक्तायाः पर्वताः बालुका-निर्मिताः श्रीढनरूपवन्ताः तैः केलयः क्रीडास्ताभिः क्रीडन्तो विद्याधरस्य कस्यचिद् दारिकापुत्रो उदयवती नाम काचिद् राजपिणा तेन चिरं निष्पाता घ्यानपूर्वकमेवाथ दृष्टया वा निरीक्षिता, नि + ध्यै + क्त । विद्याधरो नाम काचिद् देवमानुषमध्यगता जातिः । धरतीति धरः विद्यायाः गुटिकाञ्जनादिरूपायाः धर इति विद्याधरः इति अनेन कारणेन उर्वशी कुपिता ।

चोथा अंक

अनुवाद—

(उदास चित्रलेखा तथा सहजग्या प्रवेश करती हैं)

सह०—चित्रलेखा को देखकर सखि, कुम्हलाते हुए शतदल कमल के समान तुम्हारे मुख की कान्ति हृदय की अस्वस्थता को प्रकट कर रही है । मुझे अपनी उदासी का कारण तो बताओ । मैं तुम्हारे दुःख में सातीदार बनना चाहती हूँ ।

चित्र०—अप्सराओं की भ्रम-भ्रम से वारी के अनुसार मुझे भगवान् सूर्य की सेवा-पूजा करनी है। इस कारण मैं उर्वशी के लिये बहुत अधिक चिन्तित हो रही हूँ।

सह०—तुम दोनों के पारस्परिक स्नेह को मैं जानती हूँ। फिर ? फिर ?

चित्र०—फिर इस बात का पता लगाने के लिये कि इतने दिनों में उसका क्या हाल-वाल रहा, जब मैंने ध्यान लगाया तो मुझे एक बड़ा अनर्थ मालूम हुआ।

सह०—(धवराहट के साथ) कैसा ?

चित्र०—अपने प्रणय के साथी राजर्षि को, जिसने राज्य का भार अमात्यो पर छोड़ दिया था, साथ लेकर उर्वशी विहार करने के लिये गन्धमादन वन में गयी।

सह०—ऐसे प्रदेशों में किया गया संभोग ही वास्तव में संभोग है। फिर ? फिर ?

चित्र०—वहाँ उर्वशी को (राजर्षि पर) शोध आ गया क्योंकि वे गया के बालुका-मय तटों पर जाकर, खेल के लिये बालू के पहाड़ बनाकर उनसे खेलती हुई उदयवती नाम की एक विद्याधर की लड़की को देर तक घूरकर देखते रहे।

टिप्पणी—विमनस्का—विगत मनो यस्याः सा। “उरः प्रभृतिभ्यः कप्” (५-४-१५१) से समासान्त कप्। शतपत्रस्य—शत पत्राणि अस्य इति शतपत्र (कमलम्) तस्य।

प्रणिधानस्यित्या—प्र + नि + धा + ल्युट् = प्रणिधानम् (समाधिः) तस्मिन् स्थितिः तथा। योग की यह उच्चतम स्थिति है। अप्सराओं तथा सिद्धों आदि को यह स्थिति स्वतः प्राप्त मानी जाती थी। शाकुन्तल में साजुमती ने कहा है—“अस्ति मे विभक्वः प्रणिधाने न सर्वं जातुम्।” अत्याहितम्—अतिशयेन आघीयते मनोऽत्र इति।

मूलपाठ—सह०—हादव्य। दूराहटो सु पणओ असहणो। तदो तदो ? [भक्तिव्यम् ! दूराहट. यलु प्रणयोऽसहनः। ततस्ततः ?]

चित्र०—तदो भट्टिणो अणुणजं अण्डि वज्रमागा गुरु-माव-संमूडहिअजा इथ्यिआ-जण-परिहरणित्त कुमारवण पइट्टा । पवेनाणन्तरं च काणणो-वन्त-वत्ति-लदा-भावेण परिणद से ख्वं । [ततो भनु रनुनयमप्रतिपद्यमाना गुरुशाप-संमूट-हृदया स्त्रीजन-परिहरिणीयं कुमारवनं प्रविष्टा । प्रवेशानन्तरं च काननोपान्तवर्ति-लता-भावेन परिणतमस्या रूपम् ।]

मह०—अथिय विहिणो अलड् घडिज्ज । तस्म अगुराजस्म अजं णाम एकवदे ईरिमो अणय्यो । अह किमवय्यो सो राएमी ? [नास्मि विघेरलड् घनीयम् । तस्यानुरागस्यायं नाम एकपद ईदृशोऽर्थः । अथ किमवस्थः स राजपिः ?]

चित्र०—तस्मि एव काणणे पियदम विचिप्पन्तो अहोस्ने अदिवाहेदि । इमिणा उण णिव्वुदाण पि उक्कण्ठाकारिणा मेधोदएण अण अणय्याहीणो हविस्सदि । [तस्मिन्नेव कानने प्रियतमा विचिन्वत्तहो रात्रनतिवाहयति । एतेन पुननिवृत्तानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेधोदयेनानर्थाचिनो भविष्यति ।]

सह०—सहि तारिमा आकिदिविसेमा चिरं दुख्खमाइणो होन्दि । अवस्स किमपि अणुगहणिमित्त भूओ वि समाअम कारण हविस्सदि । ता एहि उद उम्मुहम्म भजवदो सुज्जस्म उवट्टायं करेहन । [सखि तादृशा आकृतिविशेषादिचर दुःखभागिनो न भवन्ति । अवश्यं किमप्यनुग्रह निमित्तं भूयोऽपि समागमकारणं भविष्यति । तदेहि उदयोन्मुखस्य भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कुर्वः ।] (इतिनिष्क्रान्ते)

प्रवेशकः

व्याख्या—मह०—नवितयन् एव भविनु शक्यन् । दूरमारुट इति दूरारुटः प्रकृष्टः क्षतु प्रणयः असहनः न सहते एव शीलः । ततस्ततः अनन्तरं किं वृत्तमिति प्रश्नः ।

चित्र०—तत्र. भनुं स्वामिनोऽनृतय प्रसादनम् न प्रतिनद्यते स्वोक्करोतीति अप्रतिपद्यमाना गुरोर्भरतस्य शान इति गुरुशापस्त्रेण समूड विमोहित हृदय यस्याः सा स्त्रीजनपरिहरणीय वज्रं नारीभिरगम्य कुमारस्य पठानतस्य वनं प्रविष्टा । प्रवेशस्थानन्तरं च अस्या स्तनाकृतिः काननस्य उपान्ते प्रालम्बुमी

वर्तते इति वाननोपान्तवर्तिनीः एवभूता या लता तस्या भावेन स्वल्पेण परिणत परिवर्तितम् । कुमारेण शक्तिवेयेन आजन्मग्रह्याचार्यमनुतिष्ठता स्ववासकने स्त्रीणा प्रवेशः संवन्धा निषिद्ध आसीत् । उर्वश्या शरीरमेव लता रूपेण परिणतमिन्द्रियाणा ग्राहिका शक्तिस्तु तथैवासीत् । अतएव वक्ष्यतेऽपि तथा 'अभ्यन्तरकरणया भया प्रत्यक्षीवृत्तवृत्तान्तः खलु महाराजः' ।

सह०—विधेर्देवस्य अलङ्घनीय लङ्घयितुं न क्षम्य किमपि नास्ति । तस्य प्रकृष्टस्यानुरागस्य प्रेम्णोऽप्य नाम एकपदे सहसैव ईदृशोऽनर्थः । नामेति कुत्सने विस्मये वा । अथ अतोऽन्तर साम्प्रत काऽवस्था यस्य स किमवस्यः स राजपिः ? पुरुरवस काऽवस्था साम्प्रतम् ?

चित्र०—तस्मिन्नेव गन्धमादने वानने प्रियतमा विचिनोतीति विचिन्वन् अन्वेपयन् अहोरात्रान् अहानि च रात्रयश्च अहोरात्रास्तान् "अहः सर्वकदेश-सख्यातपुण्याच्च रात्रे." (५-४-४७) इति समाप्तान्ताऽपि 'रात्राह्लाहाः पु सि च' (२-४-२९) इति पु स्त्वम् । एतेन पुननिवृत्ताना चिन्तारहिताना सन्तुष्टकामाना वा अपि उत्कण्ठा करोतीति उत्कण्ठाकारी तेन शान्तमनस्कानामपि मनसि औत्सुक्य जनयता मेघोदयेन अनर्थाधीन अनर्थस्य वशगतो भविष्यति । उक्त च मेघदूतेऽपि "मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः । कण्ठाश्लेषप्रणयनि जने किं पुनर्दूरसस्थे ?"

सह०—सखि तादृशाः आकृताना विशेषः एवविधा अनिर्वचनीयसौन्दर्या-नुभावसपन्ना. चिर दुःख भजन्ते इति दुःखभागिनो भवन्ति । अत्रस्य किमपि अनुग्रह-निमित्त यस्य तन् भूयोऽपि पुनरपि समागमस्य कारणमुपायो भविष्यति । तदेहि आगच्छ । उदयोन्मुखस्य उदयाचलमारोहत सूर्यस्योपस्थान पूजन कुर्वः । (इति निष्क्रान्ते) अथ समागमस्यावश्यभावि विनिश्चयान् नियतासिरिति चतुर्थवस्था सूचिता । (प्रवेशकः समाप्तः)

अर्थोपक्षेपकोऽयम् । स च प्रथमाद्भुवर्जमन्यथाद्धारम्भे प्रयुज्यते । तयोक्त "प्रवेशकोऽनुदात्ताकर्या नीचपात्रप्रथं जितः—अद्भुद्वयान्तर्विज्ञेय तोय विष्कम्भके यथा ।"

अनुवाद—सह०—हो सकता है । गहरा प्रेम अतहनशील होता है । फिर ? फिर ?

अयमपि पटुर्धारानारो न वाण-परम्परा,
वनव-निवपस्निग्धा विद्युत्प्रिया मम नोवंशी ॥१॥

(विचिन्त्य) क्व नु खलु रम्भोरगता स्यात् ।

तिष्ठेत् कोनशशात् प्रभावविहिता दीर्घं न सा कुप्यति,
स्वर्गायोत्यतिना भवेन्मयि पुनर्भावाद्द्रमस्या ममः ।

तां हतुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्यताः पुरोर्वर्तिनो;
मा चाऽऽप्यन्तमदर्शनं नमनयोर्पानेति षोऽयं विधिः ॥२॥

(दिशोऽवलोक्य मनिःश्वासम् । अये परावृतभागधेयानां दुःख

दुःखानुबन्धि । कुतः—

अयमेकपदे तथा वियोगः प्रियया चोपगतः गुदुःसहो मे ।

नखवारिधरोदयादहोभिर्भविष्यं च निरापत्स्वरम्यैः ॥३॥

पम्पे' (४-१-६९) इति ऊङ्, स्त्रीप्रत्ययस्तेन रम्भऊररिति उकास्वन्तो निष्पन्नः, गता स्यात् ।

तिष्ठेदिति—कोपवशात् क्रोधस्य कारणेन सा प्रभावो मापिहितेति प्रभाव-
पिहिता—तिरस्करिष्यादि । विद्याप्रभावेणाच्छन्ना सा तिष्ठेत् पर सा दीर्घं चिर
न कुप्यति । पिहितेति अपिपूर्वकस्या धा धातो' क्ताक्त रूप धाधातोर्हीत्यादेशः,
अपीत्यकरस्य च 'वष्टिभागुरिरल्लोप्रमवाप्योपंसगंयो'रित्यनुसारेण लोपः ।
स्वर्गाय वा उत्पतिता भवेत् स्वर्गं गन्तुमुड्डीना वा स्यात् पर अस्या मनो हृदय
मयि भावेन आद्रमिति भावाद्रमनुरक्तम् । स्वर्गयिति "क्रियार्थोपपदस्य कर्मणि
स्यानिन" (२-३-१४) इति चतुर्थी । मे पुरः वर्तते इति पुरोवर्तिनी ता समक्ष
स्थिता ता विबुधान् देवान् द्विषन्तीति विबुधद्विषो दानवा अपि हतुं न शक्ताः
न समर्थाः । अनेन स्वशक्तिव्यनाद् व्यवसायो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं भवति ।
तथापि च साऽत्यन्तम् अदर्शनं लोप गत इत्ययं कोऽनिर्वाच्यो मे विधिर्देवम् ।
शार्दूलविश्रीडित छन्दः ॥२॥

अये ! परावृत्त विपरीत भागधेय भाग्य येषान्ते परावृत्तभागधेयास्तेषा
दुःख दुःखमनुबध्नातीति दुःखानुबन्धि । विपद् विपदमनुबध्नाति । तदुक्त
नीतिशतके "प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव या-त्यापद ।" कुतः वस्मादिद
वक्तव्यं भवतीति उच्यते—

अयमेकपद इति—एकपदे सहसा तथा प्रिययाऽयं सुदुःखेन सहत इति
सुदुःसहोऽसह्यः वियोगः च मे उपनतः सप्राप्तः । धरन्तीति धर, वारीणा घरा
इति वारिधरा मेषा, नवाश्च ते वारिधरास्तेषामुदयस्तस्माद् नवमेघोदयाद्
अहोभिर्दिवसैः निर्गतः आतपः येभ्यस्तानि निरातपानि । तेषा भावो निरातपत्व
तेन रम्याणि तैरातपविरहितत्वान्मनोरमैर्भक्तिव्यम् । 'तत्समैकपदे तुल्ये सद्यः
सपदि च स्मृतम्' इति हलायुधः । औपच्छन्दसक छन्दः ॥३॥

अनुवाद—

(इसके बाद पागल का-सा वेप बनाये राजा प्रवेश करता है ।)

राजा—अरे दुष्ट राक्षस ! ठहर, ठहर ! मेरी प्रियतमा को लेकर कहाँ
जा रहा है ? अरे ! पर्वत की चोटी से आकाश में उड़कर भूख पर बाणों की
वर्षा कर रहा है ! (अच्छी तरह देखकर)

अयमपि पटुधरिसारो न वाण-परम्परा,
कनक-निकपस्निग्धा विद्युत्प्रिया मम नोर्वशी ॥१॥

(विचिन्त्य) क्व नु खलु रम्भोरुगता स्यात् ।

तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावविहिता दीर्घं न सा कुप्यति,
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावाद्द्रमस्या मनः ।

ता हतुं विबुधद्विपोऽपि न च मे शक्ताः पुरोर्वतिनी,
सा चाऽत्यन्तमदर्शनं नयनयोर्घातेति कोऽयं विधिः ॥२॥

(दिशोऽवलोक्य सनिःश्वासम्) अये परावृतभागधेयानां दुःख
दुःखानुबन्धि । कुत.—

अयमेकपदे तथा वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।

नववारिधरोदयादहोभिर्भ्रंशितव्यं च निरापतत्त्वरम्यैः ॥३॥

व्याख्या—(ततः प्रविशति उन्मत्तस्यैव वेशो धरय स तथाविध उन्मत्त-
वेशो राजा)—राजा—आ इति कोपे निपातः दुरात्मन् दुष्टरसः इति
सबोधनम्, तिष्ठ तिष्ठ मा अये याहि । क कुत्र मे भियनमामुर्वशीमादाय
(आ + दा + त्यप्) श्रुत्वा गच्छसि ? हन्त इति खेदे शूलस्य शिखर तस्माद्
गगनमाकाशमुत्पत्य उड्डीयमाणौ माम् अभिवर्षसि, आकाशात् प्रहरसि मयि
वाणान् (विभाष्य, वि + म् + णिच् + त्यप्) सम्यग्दृष्ट्वा

पम्पे' (४-१-६९) इति ऊङ्, स्त्रीप्रत्ययस्तेन रम्भऊररिति उक्तास्वन्तो निष्पन्नः, गता स्यान् ।

तिष्ठेदिति—कोपवशात् क्रोधस्य कारणेन सा प्रभावो मापिहितेति प्रभावा-
पिहिता—तिरस्करिण्यादि । विद्याप्रभावेणाच्छन्ना सा तिष्ठेत् पर सा दीर्घं चिर
न क्लृप्यति । पिहितेति अपिपूर्वकस्या घा घातो क्तात् रूप घाघाताहोत्यादेशः,
अपीत्यवरस्य च "वष्टिभागुरिल्लोप्रमवाप्योपंसर्गयो"रित्यनुसारेण लोपः ।
स्वर्गाय वा उत्पतिता भवेत् स्वर्गं गन्तुमुड्डीना वा स्यात् पर अस्या मनो हृदय
मयि भावेन आद्रंमिति भावाद्रंमनुरक्तम् । स्वर्गयिति "कियार्थोपपदस्य कर्मणि
स्यान्नित्" (२-३-१४) इति चतुर्थी । मे पुरः वर्तते इति पुरोवर्तिनी ता समक्ष
स्थिता ता विबुधान् देवान् द्विपन्तीति विबुधद्विपो दानवा अपि हनुं न शक्ताः
न समर्थाः । अनेन स्वशक्तिकथनाद् व्यवसायो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं भवति ।
तथापि च साऽत्यन्तम् अदर्शनं लोप गत इत्ययं कोऽनिर्वाच्यो मे विधिर्देवम् ।
शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥२॥

अये ! परावृत्त विपरीत भागधेय भाग्य येषान्ते परावृत्तभागधेयास्तेषा
दुःख दुःखमनुबध्नातीति दुःखानुबन्धि । विपद् विपदमनुबध्नाति । तदुक्तं
नीतिसतके "प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापद ।" कुतः कस्मादिद
वक्तव्यं भवतीति उच्यते—

अयमेकपद इति—एकपदे सहसा तथा प्रिययाज्य सुदुःखेन सह्यत इति
सुदुःसहोऽसह्यः वियोगः च मे उपनतः सप्राप्तः । वर्न्तीति घर, वारीणा घरा
इति वारिघरा मेघा, नवाश्च ते वारिघरास्तेषामुदयस्तस्माद् नवमेघोदयाद्
अहोभिर्दिवसैः निर्गतः आतपः यंभ्यस्तानि निरातपानि । तेषा भावो निरातपत्व
तेन रम्याणि तैरातपविरहितत्वान्मनोरमैर्भवंदित्यम् । 'तत्समेकपदे तुल्ये सद्यः
सपदि च स्मृतम्' इति हलायुधः । औपच्छन्दसक छन्दः ॥३॥

अनुवाद—

(इसके बाद पागल का-मा वेप बनाये राजा प्रवेश करता है ।)

राजा—अरे दुष्ट राक्षस ! ठहर, ठहर । मेरी प्रियनमा को लेकर वहाँ
जा रहा है ? अरे ! पर्वत की चाटी से आकाश में उड़कर मुझ पर बाणों की
बर्षा कर रहा है ! (अच्छी तरह देखकर)

यह नया वादल उमड़ रहा है, अभिमानो राक्षस नहीं, यह इन्द्र घनुप दूर तक खिंचा हुआ है, घरासन घनुप नहीं; यह तेज वर्षा की धारा गिर रही है, बाणों की धारा नहीं और यह कसौटी पर सोने की रेखा जैसी विद्युत् है, मेरी प्यारी उर्वशी नहीं ॥१॥

(सोचकर) न जाने वह रम्भोरु (केले जैसी जघाजो वाली) वहाँ गया होगी—

वह क्रोध के कारण दिव्यशक्ति से अपने को छिपाकर यही खड़ी रह सकती है किन्तु वह देर तक क्रुद्ध नहीं रहती । शायद वह स्वर्ग के लिये उड़ गयी है । किन्तु उसका मन तो मुझमें अनुरक्त है । मेरे सामने रहने पर उसे राक्षस भी उड़ा नहीं ले जा सकते । फिर भी वह आँखों के सामने से बिल्कुल ओझल हो गयी है । यह भी कैसा भाग्य है ॥२॥

(दिशाओं को देखकर—साँस छोड़ते हुए) जिनका भाग्य पलट जाता है उनका एक टुकड़ा दूसरे को साथ लेकर आता है । क्योंकि—

एक ओर तो सहसा ही प्रिया का यह असह्य वियोग मूझ पर आ पड़ा है और दूसरी ओर नये-नये बरसाती बादलों के उमड़ने से अब बिना घूप के मनोरम दिन होंगे ॥३॥

टिप्पणी—उन्मत्तवेप—उन्मादग्रस्त राजा की ये उक्तियाँ हैं । दशरूपक में कहा है कि सतिपात आदि रोगों के कारण उन्माद हो जाता है जिससे व्यक्ति विचार-शक्ति खो बैठता है । इसमें वह कभी रोता है, कभी गाता है, कभी हँसता है और कभी बँठा ही रहता है । भरत ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि यह इष्टजन के वियोग से उत्पन्न होता है । इसमें अवारण हँसना, रोना, बँठ जाना, चलना, दौड़ना आदि होता है । कनकनिषप—कनकस्य निकप स इव स्निग्धा । सोन की लकीर जैसी सुन्दर । रम्भोरु.—रम्भे इव ऊरू यस्या सा रम्भोरु । 'उत्तरपदादीपम्ये" ४-१-६९ सूत्र से 'ऊड्' स्त्रीप्रत्यय होता है । प्रभावपिहिता—प्रभावेण पिहिता । तिरस्कारिणी विद्या के प्रभाव में छिपी हुई । अपि+धा+क्त स्त्री=अपिहिता । "वष्टि भागुरिरलोप-मवाप्याहपगंगयो." के अनुसार अपि के 'भ' का लोप होने से पिहिता रूप रहता है ता हतुम्—इस वचन में अपनी शक्ति के वचन के कारण ध्यवसाय

तत् किं कथं नाहं जलदाना समयस्त न प्रत्यादिशामि निराकुर्याम् ।
अथवा निराकरणे न कोऽपि लाभो यत् सम्प्रति प्रवर्षतीति प्राकृद् तस्या
भवाः प्रावृषेण्यास्तं 'प्रावृष एष्य' (४-३-१७) इति एष्यप्रत्ययः ।
एव लिङ्गंश्चिह्नं मम राज्ञः उपचारश्छत्रचक्रवन्दिजनवाहनादि. सम्प्रति ।
कथमिव—

विद्युत्लेखात्—विद्युदेव लेखारूपवनत्रयमथवा विद्युतो लेखेति
विद्युत्लेखास्तंवनक तेन रश्मि मनीषेमप्रयोदो मम थियो वितान श्रीमद्
वा वितानमिति श्रीवितान सुन्दरः उल्लोचः । निचुल्लरश्मिमञ्जपं एव
चामराणि इति मञ्जरीचामराणि ममोपरि व्याधूयन्ते वीज्यन्ते घर्मस्य आतस्य
छेदात्ताशात् ग्रीष्मस्य समाप्तेः पटुतरा गीर्षेया ते पटुतरगिरो मधुरतरभापिषो
नीलकण्ठा मयूरा एव वन्दिनो यशोगायकः । वर्षाकाले मयूराः मधुरतर
केकाः कुर्वन्तो नृत्यन्ति । धारासारस्य वर्षासम्पातस्य प्रचुरघनसम्पत्तेश्चोपनयने
पराः सलग्ना अम्बुनि वहन्तीति अम्बुवाहा मेघाश्च नैगमा वणिज सन्ति ।
पयोदाना पक्षे धारा एव सारो द्रव्य, वणिजा पक्षे च भारारूप यत् सार घन
तस्य उपनयने प्रापणे सलग्नाः । निगमे वणिस्पये भवाः नैगमाः । सानुमन्ता
इति पाठे पर्वताः नैगमा सानव सन्ति येषां ते समनुमन्तः पर्वता अत्र
परम्परितरूप कमलद्वारः । सोऽपि पादत्रये शुद्धमन्तिके च पादे शिल्पटम् ।
मन्दाक्रान्ता च वृत्तम् ॥४॥

भवतु किं को लाभ एव परिच्छदस्य उपकरणभूतस्य वस्तुनः श्लाघया
प्रशस्तया ? यद्वदस्मिन् कान्ते प्रियाभन्वेपयामि विचिनोमि (विलोकयेतस्ततो
दृष्टि दत्वा) हन्त इति हर्षे व्यवसितस्य उर्वश्या अन्वेपरो व्यापृतस्य मे
सन्दीपन प्रोत्साहकमिव सर्वत्र जातम् । कुत कथमेवमित्येव विनादयति :—

आरवतेति—इयं नवा चासौ वन्दली वन्दली (इति भाषायां) सलिल
जल गर्भे येषां तानि तैरन्तर्गतजले आरक्ता ईषद् रक्ता राजयो येषु तं कुसुमैः ना
त्स्याः प्रियायाः कापाद् अन्तर्गत वाष्पमयोस्ते ताहो अविगलिताधुणी लाघने
नेत्रे स्मरयति । अन्तर्जलवन्दली कुसुमानि स्वीयवत्तवर्णेन कुद्वायास्तस्या
आरक्ते अश्रुपूर्णं च नेत्रे स्मरयति । वन्दली नाम लघुवृक्षो यस्य कुसुमानि

रक्तानि पीतानि च भवन्ति । स्मरणमलङ्कारः । आर्याच्छन्दः । णिजन्तस्य स्मृधातोस्तकण्ठापूर्वकं स्मरणमन्वयार्थः । अन्यथा स्मारयतीति प्रयोगः ॥६॥

अनेन पथा, इतो गता इति कयं नु केन प्रकारेण तत्रभवती भया सूचयितव्या परिज्ञातव्या । यतः—

पद्म्यामिति—यदि सा सु सुन्दर गात्र यस्याः सा पद्म्या चरणाभ्या वसूनि घनानि सन्ति यस्या सा वसुमती पृथ्वी ता स्पृशेत् ततः तदा मेघैः अभिवृष्टा आर्द्रता नीताः सिकता—यासा तासु वनस्थलीषु वनस्याकृत्रिमभूमिषु गुरु नितम्बो यस्याः सा गुरुनितम्बा तस्याः भावो गुरुनिम्बता तथा पश्चात् पृष्ठभागे नता गाढानुप्रविष्टा अलक्तकमङ्को चिह्नं यस्या सा लाक्षाराममयी अस्याः चारुः पदयोः पङ्कित. दृश्येत उर्वशी गुरुनितोद्वेम्नी वनभूमिश्च वपंगेन मृदुः तेन तस्या अनेन पथा गमने वनस्थल्या पादाङ्काः स्पष्टाः स्युरिति भावः । स्थलो अकृत्रिमा भूमि. । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥६॥

अनुवाद—(हँसकर) सबमुच मैं व्यर्थ ही अपने मन के बढते हुए परिताप की उपेक्षा कर रहा हूँ क्योंकि मुनि लोग भी कहते हैं कि राजा काल का कारण होता है । तो क्यों न मैं वर्षाकाल ही को न आने दूँ । किन्तु नहीं, क्योंकि मेरा राजसी ठाठ-बाट वर्षा में होने वाले साधनो से ही है ।

विजली की सुनहरी रेखा के कारण सुन्दर लगनेवाला बादल मेरा शोभामय शामियाना है । निष्ठुल के वृक्ष मुझ पर अपनी मञ्जरियो के चँवर डुला रह हैं । गर्मी के समाप्त हो जाने के कारण और अधिक मीठी बोली बोलने वाले मोर मेरे वन्दीजन हैं और घुआंधार पानी बरसाने वाले ये पर्वत मुझे भेंट में अविच्छिन्न धन प्रदान करने वाले व्यापारी हैं ॥ ४ ॥

खैर जाने दो, अपने ठाठ-बाट की प्रशंसा करने से क्या लाभ ? पहले इस कानन में प्रिया को ढूँढूँ । (देखकर) ओफ ! ढूँढने का उपक्रम करते ही (मेरी पीडा का) उद्दीपन प्रारम्भ हो गया ।

कदली का यह नया पौधा भीतर पानी और ऊपर लाल-लाल कलंगी लिये हुए फूलों से मुझे उसके भीतर आँसू भरे हुए फों से लाल नेत्रों का स्मरण दिला रहा है ॥ ५ ॥

बँसे पत्ता लगाऊँ कि वह (श्रीमती) इस रास्ते से गयी है ।

यदि उस मुगात्री (सुदरी) ने पैरो से पृथ्वी का स्पर्श किया होता तो बड़े बड़े नितम्बों के कारण इस वनस्थली में घादों की वर्षों से मीली बालू पर पीछे की ओर दबे हुए उसका महावर से रंगे पैरो के निशान दिखायी देते ॥ ६ ॥

टिप्पणी—राजा कालस्य—महाभारत के उद्योगपर्व (१३२-१६) में कहा है—काला वा कारण राज्ञो राजा वा कालवारणम्—इति ते सप्तया मा भूत् राजा कालस्य कारणम् ।

प्रावृषेण्यै—प्रावृषि भवानि प्रावृषैष्यानि तै । प्रावृष एष्य' ४-३-१७ से एष्य प्रत्यय होता है । धारासारोपनयनपरा—यह नैगमा (निगमे वणिक्पथे भवा = व्यापारी लोग) का विशेषण है । साथ ही सानुमन्ता (सानव शृङ्गाणि सति येषां ते = पशु) का विशेषण है । नैगमपक्ष में (१) धारारूप यत् सारम् (बैरोक सम्पत्ति) तस्य उपनयने (लाने में) परा और सानुमान् के पक्ष में (२) धारासारस्य (लगातार वर्षों के) उपनयने परा—यह व्याख्या होगी । आरक्त राजभि—आरक्ता (ईपद् रक्ता) राजयो येषु तानि आरक्तराजीनि तै । कुमुदै का विशेषण है । मेघाभिवृष्ट-सिकतासु—मेघं अभिवृष्टा सिकता यामु ता, तामु । जिनको बालू पर पानी बरस चुका है ।

मूलपाठ—(परिक्रम्यावलोक्य च सहर्षम्) उपलब्धमुपलक्षण येन तस्या कोपना या मार्गोऽनुमीयते ।

हृत्तोष्ठरागैर्नयनोदविन्दुभिर्निमग्ननाभेनिपतद्भिरङ्कितम्,
चप्रत रूपा भिन्नगतेरसशय शुकोदरश्यामिद स्तनाशुकम् ॥७॥

(विभाव्य) कथ से द्रगोप नवशाद्वलमिदम् । कुतो नु खलु निर्जने वने प्रिया प्रवृत्तिरव गमयितव्या । (दृष्ट्वा) अये आसारोच्छ्वसित-शैलेयस्थलीपाषाणमारूढ —

आलोकयति पयोदान् प्रबल पुरोवात ताडित शिखण्ड ।

केकागर्भेण शिखी दूहोत्तमितेन कण्ठेन ॥८॥

(उपेत्य) यावदेनं पृच्छामि—

नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा वनेऽस्मिन् वनिता त्वया,
दीर्घापाङ्गा सितापाङ्गा हृष्टा हृष्टि क्षमा भवेत् ॥६॥

कथमदत्त्वा प्रतिवचनं नर्तितुं प्रवृत्तः । किं नु खलु हर्षकारणमस्य ।
(विचिन्त्य) भवतु, विदितमेतत् ।

व्याख्या—(परिजम्येतस्ततोगत्वा विलोक्य परितो हृष्ट्वा सहर्षम्)
उपलब्ध प्राप्तमुपलक्षण चिह्नोपेन तस्याः कुप्यति एव शीला बोधना तस्याः
मार्गो अनुमीयते कल्पनयता ज्ञायते—

हृतोत्प्रेति—निमग्ना गम्भीरा नाभिर्यस्याः सा तस्याः तथा च रूपा बोधेन
मित्राविसृष्टला गतिर्यस्याः सा तस्याः प्रियायाः हृतः ओष्ठरागः यस्तैः
हृतोष्ठरागः गृहीतोष्ठगतलाक्षारार्गनिपतद्भिरधो विगलद्भिरुदवस्व विन्दव
इति उदविन्दवः (उदकस्योदादेशः) नयनयो रुदविन्दव इतिनयनाद विन्दवस्तैः
बद्धितमुपलक्षितम् इदं शुक्स्य उदरो मध्यभागः स इव श्याम हरितवर्णं च्युतम्
सस्त स्तनाशुक्मुत्तरीयं परिधानम् (दृश्यते)

याद्वले (वालतृणेषु) हरितवर्णं स्थिताः रक्तवर्णा इन्द्रवधूटिकाः दृष्ट्वा
राजा चिन्तयति यदि मे प्रियायाः हरितवर्णं स्तनाशुक्म् । यादृशो वर्णः
स्तन-परिधानदस्नस्य तादृश एव हरितस्य शाद्वलस्य । रुदत्याः मे प्रियायाः
अथुविन्दवः ओष्ठयोः लाक्षाणामपहृत्य तत्सपकवसेन रक्तवर्णा जाताः ।
तैश्च परिधाने निपत्य हरितवर्णं यत्र तत्र रक्त-विन्दु चिह्नानि निहितानि ।
शाद्वले यत्र-तत्र स्थिता इन्द्रगोप्योऽपि रक्तवर्णत्वात् तथैव प्रतिभान्ति अतएव
हरितं दूर्वा तृणेषु राज्ञः स्वप्रिया परिधान-भ्रान्तिः । भ्रान्तिमानलङ्कारः ।
वशस्थविल वृत्तम् ॥७॥

अत्र हृत + ओष्ठरागंरित्यत्र विकल्पेन पररूपम् “ओत्वोष्ठयोः समासं वा”
इति धातिकेन । ओष्ठयोरलक्ष्यतेन रञ्जन प्राचीनकालेऽति प्रसिद्धमासीत् ।
उक्तं च कुमारमभवेऽपिकविना (३-३०) “रागेण बालारुण कोमलेन चूत-
प्रवालौष्टमलन्चकार” इति । निम्ननाभिश्च सौन्दर्यबोधनीतकविभिर्बहुतो
भणितं “मध्ये क्षामा चकित हरिणी प्रेक्षणा निम्ननाभिः” (मेष० २-२२)
शुक्स्य मध्यभागोज्याङ्गापेक्षया हरिततरो न भवति सामान्यतः । तथापि ।
कविना ‘शुकोदरस्याम्’ मिति पदस्य यो व्यवहारः इतः सतु शुक्जाते-

विशिष्टं प्रवारमभिलक्ष्यैव । (विभाव्य घ्यानपूर्वकं दृष्ट्वा) कथाम् इन्द्र
गोपैः सहितमिति सेन्द्रगोप वर्षां कालोद्भवैः इन्द्र गोपास्यैः (वीरवहूटी इति
भाषायाम्) षीट विशेषयुक्तं नव शब्दल यत्र तन् स्थल बालवृषमयीभूमिः ।
कुतः कस्मात् जनात् न खलु इति विसेक प्रियाया प्रकृति. समाचारोऽवागमपि
तस्या लब्धव्या । (दृष्ट्वा)

अये आसारेण घारासम्भातेन उच्छासिता तुपारावृता शिलायाभवा इति
शैलेयी स्थली । “नद्यादिभ्योद्वक्” सतत वृष्ट्या उच्छ्वसन्तीऽश्वेय पापाणमयी
भूमिः । तस्या पापाण शिलाखण्डमारूढः शिखो इति अग्निमेणान्वय ।

आलोकयतीति—प्रवलस्तोत्रश्चासी पुरोवातः पुरतोऽप्रता वहन् ।

वायुस्तेन नतितः शिखण्डो वर्हो यस्य स एवविष शिखो मयूरः दूर दूर
प्रदेशं यावद्दूरतो वा उन्नमितेन उद्गमितेन भेक्का मयूरवाणी गर्भे अन्तरे
यस्य स तेन कण्ठेन पयोदान मेघानालोकयति पश्यति । वर्षा-काले वायुः पुरतो
वाति । मयूरस्यमनसि चप्रसन्नता जनयति तेन स नृत्यन् केवा च कुर्वन् कण्ठ-
मुन्नमव्य पयोदानवलोकयति । (उपेत्य समीप गत्वा) यावद् एतदिति
पृच्छामि—आर्याच्छन्दः कण्ठेनेति उपलक्षणे तृतीया ॥८॥

नीलकण्ठ इति—सितेशुभ्रे अपाङ्गे यस्य स सर्वोघने सितापाङ्ग नीलः
कण्ठ यस्य स नीलकण्ठस्तत्सपुट्टी हे नीलकण्ठ त्वया काचिद् उद्गतः कण्ठ
यस्या सा उत्कण्ठा उन्मुखी दीर्घे अपाङ्गे यस्या सा दीर्घापाङ्गा आकर्णपूर्णं
नयना दृष्टी दर्शनेक्षमा योग्या इति दृष्टिषमा सुदर्शना, अस्मिन् वने दृष्टा
भवेत् । अथवा हे नीलकण्ठा ! इय मे उत्कण्ठा जिज्ञासाऽस्ति । उत्कण्ठा
लक्षण च “रामेदवलब्ध विषये वेदना महतीतु या सद्योपणी तु गाथाणा
तामुत्कण्ठा विदुर्वृषाः ।” इति अनुष्टुप्वृत्तम् ॥९॥

कथम् इत्याश्चर्ये अदत्वा एव प्रतिवचन प्रत्युत्तर नतितु प्रवृत्तः । किं न
खलु हर्षकारणमानन्दहेतुरस्य (विचिन्त्य) भवतु विदित ज्ञातमेतत्—

अनुवाद—(इधर-उधर चलकर और देखकर आनन्द के साथ) अब
पहचान मिल गयी जिससे उम कोपना (गुस्सेल) के मार्ग का अनुमान किया
जासकता है ।

निश्चय ही यह मेरी गहरी नाभि वाली प्रिया का, तोने के पेट के समान गहरा हरा स्तनाशुक (स्तनों पर ओटने का दुपट्टा) है जो त्रौण के कारण चाल के डगमग होने से गिर गया है। इस पर अपने नाभ ओठों पर लगे लाल रंग की वहा लाने वाले, उसकी आँसों से नीचे टपकते हुये आँसुओं के (लाल) चिह्न (दाग) हैं ॥७॥

(ध्यानपूर्वक देखकर) अरे यह तो वीरवहूटियों से युक्त ताजी हरी-हरी घास का मैदान है। तो इस निर्जन वन में प्रिया का हाल-चाल कैसे मालूम करें ? (देखकर) अरे वर्षा की बौछार से कुहरायी हुयी पहाड़ी भूमि में पत्थर पर देठा हुआ—मखों पर तेज पुरवा के थपेड़े साता हुआ यह मोर कण्ठ की खूब ऊँचा उठाये और उसमें केका (मोर की बोली) भरे हुये बादलों को देख रहा है ॥८॥

(पास जाकर) तो इससे पूछूं।

ह सफ़ेद अपागों (नेत्रों की कोरों) और नीले कण्ठ वाले मोर ! क्या सुमने मेरी बड़े-बड़े अपागों और ऊँची गरदन वाली प्रिया को इस वन में देखा है। वह देखने योग्य थी ॥९॥

अरे ! उत्तर बिना दिये ही नाचने लग गया। इसके आनन्द का क्या कारण हो सकता है ? (सोचकर) खैर मालूम हो गया।

टिप्पणी—हृत्तोष्ठरागैः—हृतः ओष्ठम्य रागो वस्त्रैः। हृत्तोष्ठरागास्तैः। “ओष्ठोष्ठयाः सनासे वा” वार्तिक के अनुसार हृत + ओष्ठ = हृतोष्ठ तथा हृतोष्ठ ये दोनों रूप होते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि प्राचीन भारत में स्त्रियाँ साधारणतः ओठों पर लाल रंग लगाती थीं। उद विन्दवः—उदकस्य विन्दवः। विन्दु, मन्य आदि शब्द आगे रहने पर समास में उदक् का रूप उद हा जाता है। आसारो “पापाणम्—आसारेण उच्छ्वसिता इति आसारोच्छ्वसिता। सा चासी शैलेय स्थली। तस्या पापाण तम्। शिलाया मवा शैलेयो। “नचादिभ्याडक्” (४-२-९७) सूत्र से ढक् प्रत्यय और ड को एम आदेश हाता है। प्रवल-शिवारण्ड.—प्रवलश्चासी पुरोवातः। तेन ताडितः शिखण्ड यस्य। पुरोवात का ही वनभ्रमर रूप पुरवा या पुरवाई है। कण्ठेन—उपलक्षणै तृतीया है। उत्कण्ठा—उद्गतः कण्ठः यस्याः सा। उन्नव

कण्ठ वाली । यह वनिता का विशेषण है । दीर्घपाङ्गा—दीर्घे अपाङ्गे यस्याः सा । आँसो की लम्बी कोरी वाली स्त्री । दृष्टिप्रमा—दर्शनीय या सुन्दरी ।

मूल पाठ—मृदुपवन विभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
घन रुचिर कलापो नि सपत्नोऽस्यजातः ।
रति विगलित बन्धे केशहस्ते सुकेश्याः
सति कुसुम-सनाथे किं करोत्येपवर्ही ॥१०॥

भवतु, पर व्यसन निवृत्त न खल्वेन पृच्छामि । (परिक्लम्य)
इयमातपान्त-संधुक्षितमदा जगू द्विपमध्यास्ते परमृता । विहङ्गभेषु
पण्डिता जातिरेया । यावदेनामभ्यार्थ्य—

त्वा कामिनो मदनदूतिमुदाहरन्ति,
मानावभङ्ग निपुण त्वममोघमस्नम् ।
तामानय प्रियतमा मम वा समीपं
मा वा नयाशु कलभापिणि यत्रकान्ता ॥११॥

किमाह भवती । कथं त्वामेवमनुरवत विहाय गतेति । शृणोतु
भवती ।

कुपिता न तु कोपकारण सकृदप्यात्मगत स्मराम्यहम् ।

प्रभुता रमणेपु योपिता न हि भाव स्पलितान्यपेक्षते ॥१२॥

कथं कथाच्छेद कारिणी स्वकार्य एव सवता ।

व्याख्या—मृदुपवनेति—मम प्रियेति मत्प्रिया तस्या विनाशस्तस्मात् मम
प्रियाया अन्तर्घनात् ऽरथ मयूरस्य मृदुना मन्देन पवनेन विभिन्नः विस्तुलिनः,
घनश्चासी रुचिर इति घनरुचिरः, निविडः सुन्दरश्च अथवा घनइव रुचिरः
मेघस्यामः कलापः पिच्छभार वहाँ वा अथ निः सपत्नः प्रतिद्वन्द्विरहितः
जातः । प्रियाया विद्यमानार्थं मयूरवर्हभारः तस्याः केशपात्नेन साम्यं नामजतः ।
अत्र विनाश घन्दोऽमङ्गलमूषक इति मन्वेनाय काव्यदोषेषु परिगणितः ।
शोभना केशा यस्या सा सुकेशी तस्याः रुचिर केशकलापायास्तस्या कुसुमै-
सनाथे पुष्प-मञ्जिते रती सुरत व्यापारे विगलितः दिशिली भूतो बन्ध यस्य
तदुद्योकेना हस्ते केशपात्रे सति विद्यमाने एव वहाँ मयूरः किं करोति । तदा

तु लज्जितं सन्नेवमानन्देन नर्तितुं न सक्तुयात् प्रत्युतः लज्जितः सतधोमुत्तस्ति-
 ष्टेत् । कुसुमसनाथे इति विशेषण मयूरवहं-चन्द्रक-साम्य प्रदर्शनाय ।
 च्चतिरालङ्कारः । मालिनी वृत्तम् । तद्वक्ष्यतु “नन मयमृतेऽय मालिनी
 मञ्जुनोके” ॥१०॥

नवनु परस्यान्यस्य व्यसन कर्ष्यं तेन निर्वृत्त सुखितमतएव नीच प्रवृत्ति-
 म्नेन न पृच्छामि प्रियाविषये । पृच्छामीति भविष्यत्यर्थे लट् “वर्तमान सामीप्य
 चर्तमानवद्वा” इति सूत्रेण । (परिक्रम्य) अये इयम् आतपस्य श्रोम्वकालस्य
 अन्त इति आतमान्तो वर्षाकालः तेन सधुक्षितं सन्दीपितो मदी यस्याः स
 परेणमृता इति परिमृता कोकिलः जम्बू द्विदमम् जम्बूवृक्षशाखां अन्यासने ।
 “अधिसीङ्स्याऽऽसा कर्म” ति द्वितीया । विहङ्गमेषु पक्षिषु पण्डिता जातिरेण
 परमृता । यावद् एनाम् अभ्यर्थये श्रायंयामि प्रियायाः विषये किञ्चित्
 सूचयितुम् ।

त्वामिति—कामोऽस्तिवेषा ते कामिनः कामुक जन त्वा मदनस्यकामदेवस्य
 दूति दूतीं सन्देससहराम् उदाहरन्ति वययन्ति । त्व मानस्य प्रणय रोगस्य
 अवमङ्गो विदारण तत्र निपुण चतुरं अमोधमविफलमस्त्वम् । त्वमेव मानिनीना
 मानविमोचने सदा समया । कल मयुर भाषने कूत्रति इति कलमापिणी
 त सबुद्धो हे कलमापिणि ता प्रियतमा मम समीपमानय । चातुर्येण तस्याः मान
 दूरीकृत्यतामत्रा हर । वा अय वा तस्या अव आनयन न सुकर यदि तदा यत्र
 कान्ता मे प्रिया विद्यते तत्र मा नय । यति शब्द इकारान्दः कविना रघुवशेऽपि
 प्रयुक्त “तेन दूतिविदित्त निवेदुया” इत्यत्र । तदुक्त सन्द्विचिन्तानशी “दूतिर्दतीव
 दूतिका” इति । कोकिलायाः रतिशेय कुमारसभवेऽपि (४-१६) वणित यथा
 “रतिइतिपदेपु कोकिला मयुरालाप निसर्गं पण्डिताम्” इति । मानावनङ्ग
 सम्बन्धेऽपि कुमारसभवे (३-३८) उक्त “चूनाङ्कुरास्वाद् कयाप कण्ठ.
 पु स्त्रोक्विलो यन्मयुर चुक्न—मनस्त्रिनी-मान-विपत् दस तदेव जान वचन
 स्मरन्त्य” ॥११॥

त्रिमाह भवती किं पृच्छति भवती । एवमति गाढम् अनुरक्तं तस्या स्ति-
 ह्यन्त स्था विहाय परित्यज्य कथं गता । शृणोतु भवती अत्योत्तरम् । आन्त-
 भाषितमिदम् वृत्तिनेति—सा कुपिता इति सत्य परम् किन्तु अहमा मान स्व-

निष्ठ सङ्गदपि एकमपि कोपस्य कारण न स्मरामि । सा कुपिता इति तु मे विदित पर केन मेऽपरधेन कुपिता इति मे न ज्ञातम् । योयिता स्त्रीणा रमयन्तिरभ्यते वा येषु ते रमणापतयतेषु प्रभुता पूर्णाधिकारः । सा प्रभुता कोपाय भावस्य प्रेम्णः स्खलितानि नायिकान्तर दर्शानुरागादीनि कारणानि नापेक्षते । कारणान्नावेऽपि मानीनां कोपः सपद्यते न यूयः । विभावना, अयन्तिरन्यासश्चालङ्कारः । वियोगिनी वृत्तम् ॥१२॥

अनुवाद—मेरी प्रिया के खो जाने से अब इसके हीली-हीली हवा में हिलते हुये, घने सुन्दर पखो का कोई प्रतिद्वन्दी नहीं रह गया । यदि उस सुकेशी (सुन्दर बालो वाली) की फूलों से सजी और कामक्रीडा में डीली पडी हुयी चोटी आज होती तो यह मोर क्या करता ? ॥१०॥

जाने दो, दूसरे के दुःख से सुख मनाने वाले इस मोर से नहीं पूछूंगा । (इधर उधर चलकर) यह परभुता कोविल, जिसकी मस्ती शीघ्र ऋतु के बीत जाने से भटक उठी है, जामुन की डाल पर बंठी हुई है । पक्षियों में यह पण्डित जाति होती है । इसी से अभ्यर्चना करूँ—

वामी लोग तुम्हें कामदेव की दूती बहते हैं । तुम (मानिनियों का) मान-भग करने के लिये उत्तम और वभी व्यर्थ न जाने वाला अस्त्र हो । हे मधुर नायिणि ! या तो उस प्रियतमा को मेरे पास ले आओ या जहाँ वह धान्ता है वहाँ मुझे ले चलो ॥११॥

क्या कहा आपने ? तुम तो इतने अनुरक्त थे । तुम्हें छोड़कर कैसे चली गयी ? आद सुनिये ।

यह कुपित हो गयी किन्तु स्मरण नहीं आता कि मैं एक बार भी उसे प्रोष का कोई कारण दिया हूँ । (बैसे) स्त्रियों का अपने प्रेमियों पर ऐसा अधिकार होता है कि उन्हें (शुद्ध होने के लिये अपने प्रेमियों की) प्रेम सम्बन्धी भूलों की आवश्यकता नहीं होती ॥१२॥

से ऐसा अमङ्गलचक्र प्रयाग द्विप्रलम्भ शृङ्गार का पोंपक ही है। रति विगलित बन्धे—रती विगलितः बन्धः दस्य, तस्मिन् । आतपान्त सन्धुक्षितमदा-
आतपस्य अन्तः (सर्पाङ्गल) तेन सन्धुक्षितः (प्रबधितः) मदी यत्स्याः सा ।

परता—परममृता (इसरे के द्वारा पोंपित) कहा जाता है कि नोदल अपने अण्डे प्रसविणी काकी (स्त्री-कौवा) के घोंसले में रख देती है। कौवा (मादा) ही उसे पालती है। इसीलिये कोकिला को परमृता कहते हैं। मदन दूनिम्—दूति शब्द इकारान्त भी है और ईकारान्त भी ।

मूल पाठ—महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः,
प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद् गतस्य ।
अधरमिव मदान्धा पातुमेपा प्रवृत्ता,
फलमभिमुञ्च पाक राज जम्बुद्रुमस्य ॥१३॥

एवं गनेऽपि प्रियेव मे मञ्जुवन्दनेन न कोपोऽस्याम् सुखमास्ता
भवती । साधयामस्तावत् । (परिक्रामितकेन । कर्णदत्त्वा) अये दक्षिणेन
प्रिधाचरण-निक्षेप-शंती नूपुररव । यावदत्र गच्छामि । (परिक्रम्य)
अहोधिग्-दिक्—

मेघ श्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुक चेतनाम् ।

कूजित राजहंसाना नेद नूपुर-शिखितम् ॥१४॥

भवतु, यावदेते मानसोत्सुकाः पतत्रिण. सरसो नोत्पतन्ति तावदेतेभ्यः
प्रिया प्रवृत्ति रव गमयितव्या । (उपेत्य) नो नो जलविहङ्गमराज—

पश्चात् सरः प्रतिगमिष्यति मानस तत्

पाधेयमुत्सृज विस्त गृह्णाय नूनः ।

मा तावद्दुग्धर शुचो दयिता-प्रवृत्त्या

न्वार्यान् मता मुस्तरा प्रणयिष्यैव ॥१५॥

यथोन्मुखो विलोक्यन्ति मानसो सुजेन मया न लक्षितेत्येव वचन-
माह ।

व्याख्या—कथ कथाया कर्तात्पस्य द्वेनो नङ्गस्त करोतीति कथाच्छेद-
कारिणी स्वकार्ये एक्यताभ्यावृता ।

महदपीति—महद् असह्यमपि परेपादुःख पर-दुःख क्षीतलमनुद्वेगजमर्क इति यत् आहुः जनाः कथयन्ति तत् सम्यग् अन्वयमेव । यद् आपदं गत इति आपद्गतस्तस्य मम प्रणयं याञ्चा प्रार्थना वा अगणयित्वा अवमत्य एषा परमृता मदेन भन्धा गर्वेन क्षीवतया वा विवेकरहिता राज-जम्बूद्वुमस्य उत्तमस्य जम्बू बृक्षस्य अभिमुखः सन्निकटः पाक पत्रत्रयस्या यस्य तत् फलमधरमिव पातु प्रवृत्ता । जम्ब्या सह राजशब्द. श्रेष्ठत्व प्रतिपादकः । अवरमिवेत्यत्रोपमा । अर्थान्तरन्यासोऽपि । मालिनी वृत्तम् ॥१३॥

एवगतेऽपि सत्यामपि एतस्या स्थितौ एषा परभृता मे प्रिया इव प्रियः स्वनः शब्दो यस्याः सा प्रियभाषिणी इति अस्मात् कारणात् न कोरोऽस्या (करिष्यामि) सुखमानन्देन आस्ता तिष्ठतु भवती । साधयामो गच्छामस्तावत् । (परिक्रामितकेन इतस्तः परिक्रामन् कर्णं दत्वा किञ्चित् शृण्वन्) अये दक्षिणेन दक्षिणभागे प्रियायाश्चरणी तयोर्दक्षिणेनस्त शसतीति प्रिया चरण-निक्षेपशशी प्रिया-पाद-न्यास सूचकः शब्दः श्रूयते इति शेषः । यावद् अत्र दक्षिणभागे गच्छामि । (परिक्रम्य दक्षिण-दिशि गत्वा) अहो धिग्-धिक् कष्ट-व्यञ्जक-मिदम् ।

मेघेति—मेघः श्यामः इति मेघ श्यामाः घन कृष्णाः दिशो दृष्ट्वा मानसे उत्सुक चेतः—यस्यतेन मानस-सरोवरं जिगमिषुणा राजहसेन कूजित शब्दा-पितम् । इदं नूपुराणां शिञ्जितं शब्दो न । वर्षासु हसा मानसं यांतीति कवि-पुरुषिः । अनुष्टुपवृत्तम् ॥१४॥

भवतु नस्यादेतत् नूपुर शिञ्जितम् । यावत् एते मानसाय उत्सुकाः मानसं जिगमिषवः पत्रत्रयि पक्षाः येषासन्तीति पत्रत्रिणी हसा सरसोऽस्मात्तडागात् न उरपतन्ति नोद्गीयन्ते तावत् एतेभ्यः प्रियायाः प्रवृत्तिः समाचारो वृत्तं वा अवगमयितव्या उपलब्धव्या । (उपेत्य निकटं गत्वा) भोः जलस्य विहङ्गमा-स्तेषां राजा इति जलविहङ्गमराजः तत्सबुद्धौ ।

पश्चादिति—त्वं मानसमेतन्नामकं सरः हृदं प्रति पश्चाद् गमिष्यसि । पथि साधु पाथेयं मार्गोहित साधकं विसं भूय. पुनर्ग्रहणाय त्यज । पथिन् शब्दात् “पथ्यतिथिवसति स्वपतेर्द्वय” (४-४-१०४) इति ढञ् (एय) प्रत्ययः । हंसा मानसं गच्छन्तः विसं पाथेयं गृह्णन्ति । मेघदूतेऽप्युक्तम् ‘आर्वालासाद् विसविस-

लघ्वच्छेद पापेय बन्तः" (२-११) तावत् पूर्वं दयितायाः । प्रवर्त्ति । समाचार-
स्तया दयिता विषयकोदन्त प्रदानेन मा शुच शोकाद् उद्धर वर्हिनिष्का-
स्य । सता सज्जनाना प्रणयिनः याचकस्य क्रिया कार्यमिति प्रणयि क्रिया
स्वार्थाद् गुरुतरा महीयसी । सज्जना स्वकायपेक्षया प्रणयिना कार्यं महतरं
मन्यन्ते । अत्रायन्तिरन्यासोज्ज्वलार । वसन्त तिलका वृत्तन् ॥१२॥

यथा येन त्वम् उन्मुखः मुखमुपरि कृत्वा विलोकयसि ते मानसोत्सुकैः
मानसोपतने दत्तमनसा मया न लक्षिता नावलोकिता इत्येव वचनमाह कथय-
सीति मे प्रतिभाति ।

टिप्पणी—शोतलम्—अनुष्ण अर्थात् जो उद्वेजक न हो । राजजम्बु-
द्रुमस्य—जम्बू द्रुमाणा राजा इति राजजम्बुद्रुमः तस्य । राजन शब्द का प्रयोग
श्रेष्ठ अर्थ में हुआ है और "राजदन्तादिषु परम्" सूत्र से राजन् शब्द का पूर्व
प्रयोग हुआ है ।

मानसोत्सुक चेतसाम्—मानसाय उत्सुक चेत येषा त, तेषाम् । संस्कृत
कविया के अनुसार हंस वर्षा ऋतु में मानस-सरोवर का चले जाते हैं—'पावसे
मानस यान्ति हसाः ।"

शिञ्जितम्—आभूषणो के वजने का शब्द । 'स्वनिने वस्त्रपणाना भूषणाना
तु शिञ्जितम् ।"

अनुवाद—ठीक ही कहा है कि दूसरों का महान् दुःख भी उत्तेजक
नहीं होता (इसलिये) मुझ विपद-ग्रस्त की प्रार्थना की परवाह न करके यह
कोकिल जामुनों के इस पेड़ के पकते हुए फल का चूसने में इस तरह लग
गयी है जैसे मद में अन्धी होकर (प्रिय व) अघर का पान कर रही हो ॥१३॥

ऐसा होने पर भी प्रिया के समान मधुरभाषिणी हान के कारण इस पर
मुझे शोध नहीं है । आप सुखपूर्वक बैठिये । हम जात हैं । (इधर-उधर टहल-
कर-जान लगाकर) अरे ! यह दाहिनी ओर त्रपुर की त्वर प्रिया के पाँव रखने
की सूचना दे रहा है । यही जाता हूँ । (धूम-धूम कर) ओफ, हाय हाय !

यह दिशाओं को बादलों से श्याम देखकर मानस सरोवर को जाने के लिये
उत्कण्ठित राजहंसों का कूजन है । यह त्रपुर का शिञ्जित (शब्द) नहीं
है ॥१४॥

गतमिति गम घातोर्नपु सके भावे क्तः । अर्थापत्तिरलङ्कारः । औपच्छन्दसक
छन्दः ।

अतोऽस्माद्धेतोश्च—हस इतिश्च—हे हस मे कान्ता प्रयच्छ मह्य देहि ।
वअस्यागतिस्त्वया हृता चोरिता इति तु स्पष्टमेव । विभावित. एकदेशः दृष्ट-
चौरितस्याद्य यस्मिन् स विभावितैकदेशस्तेन एतादृशेन चोरेण यद् अभियुज्यते
स्वामिना चोरे चौरितत्वेन यदारोप्यते तत् चोरेण देय भवति । दशरूपककारेणाय
श्लोकोऽस्तप्रलाप नाम्नो वीष्यङ्गस्योदाहरणरूपेणोद्धृतः । अस्तप्रलापश्च
“असवद्वकया प्रायोऽस्तप्रलापो यथोत्तरः” इति । अन चोरत्वकल्पेन उत्तर-
धंस्य वस्तुतो हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । अनुष्टुप् वृत्तम् । १७।

(विहस्य उत्पतन्त हस दृष्ट्या विहस्य) एष राजास्तेनान् चोरान् अनुशास्ति
दण्डयति इति भयाद् उत्पतित. उड्डीनः (परिक्रम्य) अये अयमिदानी प्रिया-
सहायः प्रियासहाया सहचरी यस्य स चक्रवाकस्तिष्ठति । तावदेव पृच्छामि ।

रथाङ्गति—हे रथाङ्गनामन् रथस्य अङ्ग रथाङ्ग चक्र नाम यस्य स
चक्रवाकः तत् सबुद्धौ रथाङ्ग चक्र तद्बद् (वर्तुलं) श्रोणिबिम्ब निम्बमण्डल
यस्याः सा ।

तया चक्राकार—नितम्बमण्डल्या प्रियया वियुतो विरहितः मनोरथाना
शतैर्बहुभिरभिलाषैः वृतः युतोऽय रथो रथवान् पृच्छति । अत्रजुप्रासच्छटा
दृष्टव्या । राजा रथी, पक्षी रथाङ्गनामा, प्रिया रथाङ्गश्रोणिरित्येव परस्परस्नेह
सम्बन्धः सुव्यक्त एव । रथाङ्गश्रोणिबिम्बेत्यत्र धर्मलुप्तोपमा अनुष्टुप्
वृत्तम् । १८।

अय कः कः इत्याह । चक्रवाकः कः क. इत्येवं विरौति । राजा च तद्
विरुत् प्रश्नवाचीति मत्वाऽयार्थे संयोजति । मा तावत् न खलु विदितोऽभिज्ञातो-
ऽहमस्य । अतएव अयं ‘कस्त्व’मित्यनुयुङ्क्ते अह पुनः—

सूर्याचन्द्रममाविति—यस्य मातामहपितामहौ मातामहश्च मातुः पिता,
पितामह. पितु. पिताचेति सूर्यश्च चन्द्रमाश्चेति सूर्याचन्द्रमसौ । ‘देवता द्वन्द्वे चे’
ति (६-३-२६) सूत्रेण सूर्यस्य । यञ्च उर्वस्या भुवा च पृथिव्या च
द्वाम्यामपि स्वयं पतिवृतः पतिरूपेण स्वीकृतः । एवभूतोऽहमस्मि । पुरुरवा-
बुधस्य पुत्र आसीद् बुधश्च चन्द्रमसः । एवं चन्द्रमास्तस्य पितामहोऽभूत् ।

चलो, इन मानमोत्सुक पक्षियों के तालाब से उड़ जाने से पहले ही हमसे प्रिया का हाल जान लेना चाहिये । (पास जाकर) अरे जलीय पक्षियों के राजा !

उम मानम सरोवर की ओर याद में चले जाना । मार्ग का सम्बल यह कमलनाल रख दो । इने याद में ले लेना । मेरी प्रिया का समाचार देकर मुझे शोक से यात्रा निवाल दो । सज्जन के लिये याचको का वाम अपने काम से अधिक बड़ा होता है । १५।

तुम जो मुँह ऊपर उठाकर देख रह हो इससे यह बात कह रहे हो कि मानम के प्रति उत्कण्ठित हाने के कारण मैंने (प्रिया को) नहीं देखा ।

मूल पाठ—यदि हंम गता न ते नतभ्रूः

मरसो रोधमि दर्शनं प्रिया मे ।

मदस्तेलपद वयं नु तस्याः

सकल चोरगत त्वया गृहीतम् ॥१६॥

अन्तश्च—हून प्रच्छ मे वान्ता गतिरस्यास्त्वया हृता ।

विभावितैवदेशेन देय यदभियुज्यते ॥१७॥

(विरस्य) एष चोरानुशासो राजेतिमयादुत्पतितः

अय ! अयमिदानीं प्रियामहापरचक्रवाकस्निष्ठति । तावदेनं प्रच्छामि ।

रथाङ्गनामन् वियुतो रथाङ्गश्रोणि विम्बया ।

अय एवा वृच्छति रथो मनोरथशनेकृतः ॥१८॥

कथं वा इत्याह । मा तावद् न गतुं विदितोऽहमप्य—

मूर्धावन्द्रमसौ यस्य मातामहृषितामही ।

स्वयं वृत्तः पतिद्राव्यागुर्वेद्या न भुवः च यः ॥१९॥

गतमिति गम घातोर्नंपुंसके भावे क्तः । अर्थापत्तिरलङ्कारः । औपच्छन्दसक
छन्दः ।

अतोऽस्माद्धेतोश्च—हस इतिश्च—हे हस मे कान्ता प्रयच्छ मह्यं देहि ।
वक्षस्यागतित्स्वया हृता चोरिता इति तु स्पष्टमेव । विभावितः एकदेशः दृष्टः
चौरित्तस्यास यस्मिन् स विभावितैकदेशस्तेन एतादृशेन चोरेण यद् अभियुज्यते
स्वामिना चोरे चौरित्तत्वेन यदादरोप्यते तत् चोरेण देय भवति । दशरूपककारेणाय
श्लोकोऽसत्प्रलाप नाम्नो वीथ्यङ्गस्योदाहरणरूपेणोद्घृतः । असत्प्रलापश्च
“असद्वक्त्रया प्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः” इति । अत्र चोरत्वकल्पेन उत्तरा-
र्धस्य वस्तुतो हेतुत्वान् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । अनुष्टुप् वृत्तम् । १७।

(विहस्य उत्पतन्त हस दृष्ट्वा विहस्य) एष राजास्तेनान् चोरान् अनुशास्ति
दण्डयति इति मयाद् उत्पतितः उद्गीनः (परिक्रम्य) अये अयमिदानी प्रिया-
सहायः प्रियासहाया सहचरी यस्य स चक्रवाकस्तिष्ठति । तावदेव पृच्छामि ।

रथाङ्गति—हे रथाङ्गनामन् रथस्य अङ्ग रथाङ्ग चक्रं नाम यस्य त
चक्रवाकः तत् संबुद्धौ रथाङ्ग चक्र तद्वद् (वर्तुलं) श्रोणिबिम्बं नितम्बमण्डलं
यस्याः सा ।

तथा चक्राकार—नितम्बमण्डलया प्रियया विद्युतो विरहितः मनोरथाना
शतैर्बहुभिरमिलार्पः वृतः युतोऽय रथी रथवान् पृच्छति । अत्रानुप्रासच्छटा
दृष्टव्या । राजा रथी, पक्षी रथाङ्गनामा, प्रिया रथाङ्गश्रोणिरित्येव परस्परस्नेह
सम्बन्धः सुव्यक्त एव । रथाङ्गश्रोणिबिम्बेत्यत्र घर्मलुप्तोपमा अनुष्टुप्
वृत्तम् । १८।

अयं कः कः इत्याह । चक्रवाकः कः कः इत्येवं विरोति । राजा च तद्
विरुत प्रश्नवाचीति मत्वाऽयार्थं संयोजति । मा तावत् न खलु विदितोऽभिज्ञातो-
ऽहमस्य । अतएव अयं ‘कस्त्व’मित्यनुयुङ्क्ते अहं पुनः—

सूर्याचन्द्रममाविति—यस्य मातामहपितामही मातामहश्च मातुः पिता,
पितामहः पितुः पिताचेति सूर्यश्च चन्द्रमाश्चेति सूर्याचन्द्रमसौ । ‘देवता द्वन्द्वे चे’
ति (६-३-२६) सूत्रेण सूर्यस्य । यञ्च उर्वस्या भुवा च पृथिव्या च
द्राम्यामपि स्वयं पतिवृतः पतिरूपेण स्वीकृतः । एवमूतोऽहमस्मि । गुरुरवाः
बुधस्य पुत्र आसीद् बुधश्च चन्द्रमसः । एवं चन्द्रमास्तस्य पितामहोऽभूत् ।

अत्रेय भविष्योत्तरपुराण कथाऽनुसन्धेयः—पूरा किल उमया सह निविध्नं
 विहर्तुमिच्छन् शिव स्वविहारवने पुरुष-प्रवेश न्यपेक्षयत् । शशाय च य कोऽपि
 अत्रागमिष्यति स श्रोत्र प्राप्स्यतीति । कृता युगारम्भे सूर्यस्यमनोः पुत्रः
 सुद्युम्नापरनामधेयः इलः मृगयावशात्तमागतः स्त्रीत्व च भजत् बुधस्ता
 रमणीयाकृति स्त्रिय दृष्ट्वाऽऽसवतस्ता स्वाभ्रममानीय तस्या विक्रमापरनामान
 पुरुरवस नाम पुत्रमुत्पादयामास । बुधश्च चन्द्रमस, पुत्रः । एव सम्बन्धेन
 सूर्यचन्द्रमसो पुरुरवसो मातामहापितामही । कथं न जाने केन कारणेन
 तूष्णीमुत्तरमदत्वा । मीन स्थितः । भवतु । एवमुशालप्लेये अधिसेप्स्यामितावत ।

अनुवाद—हे हंस यदि तुमने इस तर के किनारे मेरी तिरछी भीहो वाली
 प्रिया को नहीं देखा है तो चोर ! उसकी मस्ती और आनन्द से भरी लटपट
 चाल सारी की सारी तुमने कैसे पा ली है ? । १६।

इसलिए, इस मेरी कान्ता दे दो । उसकी चाल तुमने चुराई है । जिसके
 पास चोरी के माल का एक हिस्सा भी देख लिया जाता है उसे मालिक का
 बताना सारा माल देना पडता है । १७।

(हंसकर) यह चोरो को दण्ड देने वाला (राजा) है । इम डर से (हंस)
 उड गया । (इधर-उधर घूमकर) अरे यह तो चक्रवाक् अपनी प्रिया के साथ
 बैठा है तो इससे पूछूँ—

अरे चक्रवाक् ! चक्र जैसी नितम्ब विम्बो वाली प्रिया से विपुक्त होकर
 सँकडो मनोरथो से घिरा हुआ यह रथी तुमसे पूछ रहा है । १८।

अरे यह तो कः (कौन) क (कौन) कह रहा है । ऐसा मत कहो ।
 निश्चय ही यह मुझे जानता नहीं है—

सूर्य जिसके नाना और चन्द्रमा जिसके बाबा हैं और उर्वशी और पृथ्वी
 दोनों ने स्वयं होकर पति के रूप में जिसका वरण किया है, (वह मैं पुरुरवा
 हूँ) । १९।

चुप होकर क्यों बैठ गया ? खंर, मैं इससे शिकायत करूँगा—

नतम्बुः—नते ध्रुवो यस्याः सा । तिरछी भीह नारी-सौदर्य का अंग मानी
 जाती है ।

मदखेलपदम्—मदेन खेलानि पदानि यस्मिन् तत् । अथवा मदेन खेला
येषु तानि पदानि यत्र ।

गतम्—गम् + क्त 'नपु रुके भावे क्तः' = गमनम् ।

विभावितैक देशेन—विभावितः एकदेशो यस्मिन् तेन—चोरेण ।

देयंयदभियुज्यते—जनि + युज् + कर्मवाच्यलट् = स्वामी के द्वारा चोर
पर जो भी आरोपित किया जाय वह देय होता है । देखिये, याज्ञवल्क्य स्मृति-
(२-२०) निह्निनुतेऽभिहित नैकमेकदेशविभावितः दाप्यः सर्वं नृपेणार्यं न
ग्राह्यस्त्वनिवेदितः । दशरूपक में यह अक्षयप्रलाप का उदाहरण दिया हुआ है ।

रथाङ्गनामन्—रथस्य अङ्गं रथाङ्गम् (चक्रम्) नाम यस्य स
रथाङ्गनामा = चक्रवाक् ।

सूर्यचन्द्रमसौ—सूर्यश्च चन्द्रमाञ्च इति सूर्यचन्द्रमसौ । 'देवता द्वन्द्वे च'
(६-२-२६) से सूर्य शब्द के आगे आन्ड् हो जाता है जिनमें 'आ' शब्द
रह जाता है ।

मूल पाठ—सरसि नलिनीपत्रेणापित्वमावृत-विग्रहा,

ननु सहचरी दूरे मत्वा विरोपि समुत्सुकः ।

इति च भवतो जाया स्नेहात् पृथक् स्थितिभीरुता,

मयि च विधुरे भावः कान्ता-प्रवृत्ति-परङ्मुखः ॥२०॥

सर्वथा मदीयानां भागधेयानां विपर्ययेण प्रभाव-प्रकाशः ।

यावदन्वमवकाशमवगाह्ये । (पदान्तरे स्थित्वा)

भवतु न तावद् गच्छामि ।

इदं रुग्णद्वि मा पद्ममन्तः कूजित-पट्पदम् ।

मया दृष्टाधरं तस्याः सत्सीत्कारमिवाननम् ॥२१॥

भवतु अस्मिन्नेव कमलाध्यासिनि मधुकरे प्रणयित्वं करिष्ये इतो
गतस्यानुशयो मा भूदिति ।

मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्ति-

(विभाव्य) वरतनुरयवाऽसौ नैव दृष्टा त्वमे ।

यदि मुरभिमवाप्यस्तन्मुखोच्छ्वास-गन्धं

तव रतिरभविष्यत् पुण्डरीके किमस्मिन् ॥२२॥

व्याख्या—सरसीति—त्व सरसि हृदे नलिन्याः कमल-लतायाः पत्रेणापि आवृत्तो विग्रहः, करीर यस्याः ता सहचरतीति सहचरी वा प्रिया दूरे मत्वा ज्ञात्वा समुत्सुक्चिन्तितः सन् विरोपि श्रन्दसि । इति अनेन हेतुना च यद्यपि जायाया स्नेहस्तस्मात् प्रियानु रागवशाद् भवतः पृथक् स्थितिः स्व स्थान तस्मात् भीरुता कातरतामपि विधुरे च तथापि प्रिया विरहिते मयि भवान् कान्तायाः प्रवृत्तिः वार्त्तावर्णेन तस्मात् पराङ्मुख विमुखः । भवास्तु तथा प्रियः यामनुरक्तो येन कमलपत्रान्ताहतामपि तामपश्यन ऋन्दितुमारभसे पर प्रियाहीनस्य मन सन्तोषाय तद् वृत्तान्तमपि कथयसि । हरिणिवृत्तम् । २०।

सर्वथा मन इमानि मदीयानि तेषा भागधेयाना देवाना विपर्ययेण विरुद्धत्वेन प्रभावस्य प्रकाशप्रकटनम् । मदीय भाग्य विरुद्धरूपेण प्रभाव प्रकटयति । यावत् कञ्चित्तकालम् अन्यम् अवकाश स्थानम् अवगहिष्ये गमिष्यामि (पदान्तरे पदभेद गत्वेव स्थित्वा विरम्य) भवतु स्यादेव तथापि न गमिष्यामि इतः स्थानान्न यास्यामितावत् ।

इदमिति—इदम् अन्तर्भव्ये कूजित गुञ्जन् पदपदो भ्रमरः यस्मिन् तत् एवभूत पद्म कमल मया दष्टः अधरः ओष्ठ यस्मिन्तत् तस्याः सीत्कारेण सहित ससीत्कारमाननमिव मा रुणाद्धि निवारयति । पद्म गुञ्जद् भ्रमर ससीत्कार-मुवंशी—मुखमिव प्रतिभाति सीत्कारश्च भ्रमर शब्द इव लक्ष्यते । सीत्कारश्च वृष्टामिव्यञ्जक—दन्तघटनाजनित शब्द । स च कामिना कामोद्दीपकः । अधर देशस्य वर्णन कविनाऽयत्रापि बहुधा कृतम् । “हसन्ति नोञ्चेर्दशनाप्रभितान् प्रपीड्यमानानधरानपेक्ष्य” (४-६) इति च । २१।

भवतु अस्मिन् कमलमव्यास्ते इति कमलाध्यासी तस्मिन् कमलोपरि स्थितवती मधुकरे भ्रमरे प्रणयित्वमयित्व करिष्ये । इतो याचयिष्ये येन इतः अस्मात् स्थानात् गतस्य मेऽनुशयः पश्चात्तापो मा भूदिति ।

मधुकरेति—हे मधुकर भ्रमर तस्या मदिरेऽक्षिणी यस्याः सा मदिराक्षी तस्याः मत्त नयनायस्तस्याः प्रियायाः प्रवृत्तिमुदन्त शस कथय । अथवा स्वया मे चरा तनुः शरीरं यस्याः सा सुन्दरी नैव दृष्टा । (विभाव्य ध्यानपूर्वकं दृष्ट्वा) यदि त्व तस्याः मुखस्य उच्छ्वासः तन्मुखोच्छ्वासस्तस्य गन्धः यस्मिन्, एतादृश मुरीभि सुगन्धमवाप्तयः अलप्ययाः तदाऽस्मिन् पुण्डरीके कमले । तव रति-

रनुरागः कथमभविष्यत् । मम प्रियाया मुखगन्धः कमलगन्धाद् वरीयानोति भावः । अत्र व्यतिरेकालङ्कारो व्यङ्ग्य । मालिनी छन्दः । २२।

अनुवाद—सरोवर में जब कमलिनी के पत्तों से भी तुम्हारी सहचरी का शरीर ढक जाता है तो तुम उसे दूर समझ कर चिन्तित होकर चीख उठते हो । पत्नी-प्रेम के कारण तुम तो उससे पृथक् होकर रहने से इतना डरते हो और मैं जब प्रिया से वियुक्त (विधुर) हो गया हूँ तो तुम मेरी प्रिया का हाल-चाल बताने से भी मुँह मोड़ रहे हो । २०।

सब तरह से मेरे ही भाग्य उलटे होकर अपना प्रभाव दिखला रहे हैं । तो अब दूसरे को चलू (दूसरे ही उग पर हककर) जाने दो, नहीं आऊँगा—

यह कमल जिसके भीतर भौंरा गुंजार कर रहा है, भेरे द्वारा ओठ के काटे जाने पर सी-सी करने हुये प्रिया के मुख-जैसा सुन्दर (लग रहा है) । यह मुझे (अपनी ओर आकर्षित कर) रोक रहा है । २१।

खैर ! इस कमल पर बैठे हुये भौरे से ही याचना कर्हूँ जिससे यहाँ से जा कर फिर पश्चात्ताप न हो ।

हे मधुकर ! उस नशीली आँखों वाली प्रिया का हाल-चाल बतलाओ । अथवा तुमने मेरी उस सुन्दरी को देखा ही नहीं है । यदि तुम्हें मुख के उच्छ्वास की सुगन्ध मिल गयी होती तो फिर इस पुण्डरीक पर तुम्हारा प्यार क्योंकर होता । २२।

टिप्पणी—देखिये शाकुन्तल (चौथा अंक) नलिनीपत्रामात्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्ती चक्रवाकी आरदति ।

भागधेयम्—भाग एव भागधेयम् । भागं शब्द से स्वार्थं (बिना अर्थ परिवर्तन) में धेय प्रत्यय लगता है 'भागरूप नामभ्यो धेयः' इस वार्तिक से ।

अन्तः क्लृजितः—अन्तः क्लृजितः षट्पदः यस्मिन् तत् ।

मयि दष्टाधरम्—देखिये ऋतुसंहार (५-६) हसन्ति नोच्चैर्दशनाप्र भिन्नान् प्रवीऽवमानानघटानवेक्ष्य ।

मदिराक्षी—मदिरे (मदयुक्ते) अक्षिणी यस्याः सा ।

तन्मुखोच्छ्वास गन्धम्—तस्या मुख तन्मुखम् । तस्य उच्छ्वासः । तस्य गन्धः यस्मिन् सा । तम् ।

मधुकर—इस २२वें श्लोक में व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है और मालिनी छन्द है ।

मूल पाठ—साधयामस्तावत् (परिक्रम्यावलोक्य च) एम नीप-स्कन्ध-निषण्णा-हस्त-करिणी-सहायो नागराजस्तिष्ठति । अस्मात् प्रियोदन्त-मुपलप्स्येव । (विलोक्य) भवतु न त्वरा कार्या—

अयमचिरोद्गत—पल्लवमुपनीतं प्रियकरेणु—हस्तेन ।

अभिलपतु तावदासव—सुरभि—रसं सल्लकी—भङ्गम् ॥२३॥

(क्षणमात्रं स्थित्वा) हन्त कृता हिनकः संवृत्तः भवतु पृच्छामि ।

मदकल युवति शशिकला गजयूथप यूथिका—शयलकेशी,

स्थिरधीवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका ॥२४॥

(सहर्षम्) अहह अनेन स्निग्धमन्द्रेण गजितेन प्रियोपलम्भ शंसिना समाश्वासितोऽस्ति । साधर्म्याच्च त्वयि मे भूयसो प्रीतिः ।

मामाहुः पृथिवी भूतामधिपति नागाधिराजो भवान्

अव्युच्छिन्न—प्रथु प्रवृत्ति भवतो दान ममाप्यर्थिषु ।

स्त्रीरत्नेषु ममोवंशी प्रियतमा यूथे तवेयं वशा

सर्वमामनु ते प्रियाविरहिजा त्वं तु व्यथा मानुभूः ॥२५॥

व्याख्या—साधयामो गच्छामस्तावत् । नाटकेषु प्रायेण निजन्तः साधु गमनार्थं प्रयुज्यते । (परिक्रम्यावलोक्य च) नीपो वृक्ष-विशेषः (नीव इति मराठी भाषायाम्) तस्य स्कन्धे विटपे निषण्णः । हस्तोक्तःशुण्डा दण्डो वा यस्याः सा एव भूता या करिणी तस्य प्रिया सा सहाया यस्य सः अथवा नीपस्कन्धे निषण्णो निहितः करो यस्य एव भूतश्चासौ करिणी सहायः नागराजो गजराजः तिष्ठति । अस्मात् प्रियायाः उदन्त प्रवृत्तिमुपलप्स्ये प्राप्स्यामि । (विलोक्य) भवतु त्वरा शीघ्रता न ।

अममिति—अय गजः प्रिया या करेणुः हस्तिनी तस्याः हस्तेन उपनीतं समीपमानीतं । कार्या—अचिरोद्गतः नूतनोत्पन्नः पल्लव यस्य तम्, आसवो मर्षं तदिव सुरभिः सुगन्धिः रसो यस्य तम्, सल्लकी गज प्रियो वृक्षविशेषस्तस्याः भङ्गो नवपल्लवः त अभिलपतु आस्वादयतु । आर्याच्छन्दः ।

(क्षणमेव इति क्षणमान स्थित्वा) हन्तेति हर्षे .. नैतिक कर्मभोजनादिकम् । कृतमाहितक येन स कृत भोजनः सबृत्त जात । भवन्तु पृच्छामि—

मदकलेति—हे गज-यूथपः गजाना यूथो वृन्दम् । त पाति रक्षति इति गज यूथपः गजसमूहस्य नायकस्तःसबुद्धौ मदेन कल. मधुराः या युवतयः मदोत्कटा युवतयः तामु राशिकला इव अन्या युवतयस्तारिका इव सा च चन्द्रस्रग्मिव निष्कलङ्का । यूथिकाभिर्युथिकापुष्पैः शबलाः चिनाः केना यस्याः सा स्थिरमविनाशि यौवन यस्याः सा, सुख. प्रीतिजननः आलोको दर्शन यस्याः सा ते दूरे दूरतोऽपि आलोके दृष्टिपथे स्थिना किं । त्वया दूरतोऽपि दृष्टा किम् ? अनुप्रासः, मदकलेत्यन परम्परित रूपक च । आयावृत्तम् । २४।

(सहर्षम्) अ ह ह इति हर्षे, अनेन स्निग्धः मधुरः कर्णप्रियश्चासौ मन्द्रो गम्भीरस्तेन प्रियाया. उपलम्भः प्राप्तिः त शसति कथयतीति प्रियोपलम्भ शसती तेन गर्जितेन समाश्वासितः सन्तोषितः अस्मि ! “मन्द्रस्तु गम्भीरे” इत्यमरः । साधर्म्यात् समानो धर्मो यस्य स सधर्मस्तस्य भावस्तस्मात् सादृश्यात् त्वयि मे भूयता अधिकतरा प्रीति. स्नेह भावः ।

मामाहुरिति—गजे नृपे च सामर्थ्यमिति दर्शयति—मा पुरुरवत् पृथ्वी विध्रतीति पृथ्वीभृतस्तपा भूगलानाम् अधिपति स्वामिनमाहुः भवाश्च नागानामधिराजः स्वामी । अधिः राजाऽधिराज, अधिक. पतिरित्याधिपतिः । भूभृताग शब्दयोः वृत्तार्थे पर्यायवाचित्वे तेनोभावपि सदृशो एकस्यैव वस्तुनोऽधिपतित्वादिति सङ्केतः । भवत. आसिषु भ्रमरेषु अब्युच्छिता निरन्तरा पृथुः विपुला च प्रवृत्ति गतिर्वस्य तद् एत दृश दान मदजः प्रवाहः, ममाऽपि अविषु याचकेषु अब्युच्छित प्रयु-प्रवृत्ति सन्तत विपुल च । प्रसारशील दान द्रव्यस्य । स्त्रीरत्नेषु रत्नतुङ्गामु स्त्रीषु मम प्रियतमा उर्वशी, यूथे करिणीना यूथे समूह इय वशा करिणी तव प्रियतमा । ते सर्वं माम् अनुमत्सहसामस्ति पर त्व मम तुल्या प्रियाया विरहज्जाता प्रिया विरहजा व्यया षोडा भा अनु भूः ज्ञाष्टी तव मम च सर्वं समानम् । पर त्व प्रियासनायोऽङ्ग च प्रिया-विद्युक्ताः । “जानौ जाती यदुत्कृष्ट तद्रत्नमिति कथ्यते” इत्यनुसारेण स्त्रीरत्नेषु इत्युचितः । “वशा योषा सुता धन्व्या स्त्री गुर्वी करिष्वपि” इति विश्वलोचनः प्रवृत्तिर्गजपक्षे प्रवाहार्थ, नृपपक्षे च प्रसारार्थः । सङ्कृत “प्रवाहे कृत कृत्ताप्ते प्रसारो दन्तयो-
वि० ३०—१४

रपि प्रवर्तने च वार्ताया प्रवृत्तिः समुदीरिता ।” इति । घादूल विक्रीडित छन्दः ।२५।

अनुवाद—अच्छा मैं जाता हूँ (इधर-उधर चल कर और देख कर) यह मजराज खड़ा है जिसके साथ उसकी करिणी भी है जो नीप वृक्ष के तने पर अपनी सूंड रखे हुये है । इससे प्रिया का समाचार प्राप्त करूँगा (देख कर) खैर जल्दी नहीं करनी चाहिये ।

यह अपनी प्रिया करेणु (हथिनी) द्वारा अपने हाथ से लाकर दी हुई सल्लकी की उस डाल को आनन्द से खाये जिसमे अभी शीघ्र ही पल्लव निकले हैं और जिसका रस मद्य के समान सुगन्धित होता है ।२३।

(क्षण भर ठहर कर) अब तो इसने दोपहर का भोजन कर लिया । लो पूँछता हूँ—

हे हाथियो के समूह ! क्या कभी तुम्हारी दूर तक देखने वाली दृष्टि के भीतर वह स्त्री आयी है जो मस्ती के कारण मनोहर लगने वाली युवतियो मे चन्द्रकला जैसी है, जिसके केशा मे जूही के फूल गुंये हैं, जिसका यौवन सदा एक-मा रहता है, और जो देखने मे भली लगती है ।२४।

(प्रसन्नता के साथ) आ हा ! इस मधुर और गम्भीर गर्जन से जो इस बात का द्योतक है कि तुम्हे मेरी प्रिया मिली है, मुझे सन्तोष प्राप्त हुआ है । दूसरे हम दोनो की बातें प्रायः मिलती-जुलती होने के कारण तुम पर मेरा और अधिक प्यार है ।

मुझे लोग राजाओ का अधिपति कहते हैं और आप हाथियो के अधिराज हैं । मेरा दान याचको के लिये निरन्तर और अधिक चलता रहता है, और आपका भी दान (मदजल) भ्रमरो के लिये निरन्तर और अधिक बहता रहता है । थंष्ट स्त्रियो के बीच मेरी प्रियतमा उर्वशी है और झुण्ड में तुम्हारी प्रिया यह वशा (हथिनी है) तुम्हारी सारी बातें मेरे अनुसार हैं किन्तु तुम प्रिया के विरह से पैदा होने वाली व्यथा का अनुभव मत करो ।२५।

टिप्पणी—साधयामः—साप् (णिजन्त) धातु का प्रयोग 'जाता' अर्थ मे नाटकों में होता है । “प्रायेण प्यन्तः साधिर्गमेः स्वाने प्रवृज्यते” (साहि० २० ६-१४४)

सल्लकी भङ्गम्—सल्लकी एक वृक्ष का नाम है। हाथी इसके पत्तों को बहुत रुचि से खाता है। इसीलिये सल्लकी का दूसरा नाम 'गजभक्ष' भी है। भङ्ग=नये पल्लव।

आचिरोद्गत पल्लवम्—अचिराद् उद्गतः पल्लवः यस्य सः तम्।

मदकल युवति—मदेन कलाः युवतयः इति मदकरु-युवतयः। तामु शशिकला इव इति मद.....कला।

यूथिका शवल केशी—यूथिकाभिः (जूही के फूलों से) शवलाः केशाः यस्याः सा। इस श्लोक में अन्य युवतियों को नक्षत्र और उर्वशी को शशिकला बतलाया है। देवता होने के कारण उसे स्थिर-यौवना कहा है।

अव्युच्छिन्नम्—अव्युच्छिन्ना पृथुः प्रवृत्तिः यस्य तत्। नम् (अ+वि+उत्+छिद् घातु+क्त) प्रवृत्ति शब्द के दो अर्थ हैं—(१) प्रवाह (गज पक्ष में), (२) प्रसार या फैलाव (नृप पक्ष में)

साधर्म्यात्—पमानो धर्मो यस्य स सधर्मस्तस्य भावः साधर्म्यम्, तस्मात्।

मूलपाठ—सुखमास्ता भवान्। साधयामस्तावत् (पार्श्वतो दृष्टि दत्त्वा) अये सुरभि कन्दरो नाम विशेष रमणीयः सानुमानालोक्यते। प्रियञ्चायमप्परसाम्। अपि नाम सुननुरस्वोपत्यकायामुपलभ्यते। (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त मदीयैर्दुरनि-परिणामैर्मेघोऽपि शतहृदाशून्यः संवृत्तः। तथाऽपि शिलोच्चयमेतमपृष्ट्वा न निर्वनिष्ये।

अपि वनान्तरमल्प कुचान्तराश्रयति पर्वत पर्वसु संनता।

इदमनङ्ग-परिग्रहमङ्गना पृथुनितम्ब नितम्बवती तव ॥२६॥

कयं तूष्णीमास्ते। शङ्के विप्रकृष्टो न शृणोतीति। समोपेऽस्यं गत्वा पुनरन पृच्छामि। (परिक्रम्य)

सर्वं क्षितिभृता नाथ दृष्ट्या सर्वाङ्ग सुन्दरी।

रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ॥२७॥

(आकर्ष्य सहस्रम्) कथं यथाक्रमं दृष्टेत्याह। भवानपि अतः प्रियतरं शृणोतु। कं तस्मिन् प्रियतमा। (नेपथ्ये तद्देवाकर्ष्यं) हा धिक्! ममैवायं कन्दर विसर्गं प्रनिरादः! (विरादं रुरापितृणां श्रान्तोऽस्मि अस्यास्तावद्

गिरिनिधास्तीरे स्थितस्तरङ्गवातमासेविस्ये । इमां नवाम्बुकलुपामपि
स्रोतोवहां पश्यतो मे रमते मनः ।

तरङ्ग-भ्रूमङ्गाशुभित-विहग श्रोणि-रसना,
विकर्षन्ती फेन वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं यान्ती स्खलितमभिसन्धाय बहुशो,
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥२८॥

व्याख्या—सुखमानन्देन आस्ता तिष्ठन्तु भवान् । साधयामस्तावन् ।
(पार्श्वंतउभयतो दृष्टि दत्त्वा निरीक्ष्य) अये सुरभयः सुगन्धमय्यः कन्दराः
गुहाः यस्य स सुरभिकन्दरो नाम विशेषेण रमणीयोऽतिशय मनोहारी सानवः
सन्ति यस्मिन् स सानुमान पर्वतोऽज्ज्योस्य ते दृश्यते । प्रियञ्च अय पर्वतो-
ऽश्ररसाम् । अपि नाम इति वितर्कं शोभना तनुर्यस्याः सा सुतनु सुन्दरी अस्य
पर्वतस्य उपत्यकायाभासन्न भूमी उपलभ्येत प्राप्यते । “उपाधिभ्यात्वकतासप्त-
ऽऽहृदयोः (५-२-३४) रिति उपात् त्यक्त्वा प्रत्ययः । (परिक्रम्य अवलोचय
च) हन्त इति खेदे मदीयंमामकीर्तुं रिताना पापाना परिणामैः पापैः भेषोऽपि
शतहृदया विद्युता सून्य इति शतहृदा सून्यः सवृत्तो जातः । मम
पापानामप परिणामो यत्र वेवलोऽहमरितु भेषोऽपि विद्युती विप्रयुक्तो जानः ।
शत हृदाः अर्चीपि गजं शब्दा वा यस्या सा शतहृदा विद्युत् । तथापि एत
पुरोवर्तमान शिलोच्चय पर्वतमदृष्ट्वा न निर्वातप्ये परावृत्तो न भविष्यामि ।

अपि वनान्तरेति—हे पृथुः नितम्बाः प्रान्तभागे यस्य तल्लब्धो पृथु-
नितम्ब पर्वत । अपि विमर्षे । अपि अन्य कुचयोः (मध्ये) अन्तरमवनासा
मुस्याः सा पीनस्तनी, पर्वसु गुल्फादिसन्धिषु सनना निमग्ना निगूढप्रतिविरिति
यावत् मातृत्वादस्थि ग्रन्थीनामानघ्रा वा प्रशस्तो नितम्बो यस्याः सा
नितम्बवनी, एव पर्वतः सा पर्वसु सनता एव वनान्तरवान् साऽप्य कुचान्तरा,
तत्र प्रदेशोऽज्ज परिग्रह साऽङ्गना । एतेन साधर्म्येण तस्यास्तत्र यत्नते जातः
गुणकः । द्रुतविलम्बिन वृत्तम् ॥२९॥

अथ तूर्णोमार्ते, न ददानि मम प्रशम्यात्तरम् दष्टं यत् विप्रहृष्टा
दूरस्थ एतेन न शृणोति । अथ एमीये गत्वा पुत्रेव पृच्छामि ।

मर्वेति—हे सर्वेषां स्थिति विभ्रति ते क्षितिभृतस्तेषां सर्वपर्वतानां नाथ स्वामिन् किं त्वया मया विरहिता विमुक्ता सर्वैरङ्गैः सुन्दरीति सर्वाङ्गसुन्दरी रामा मे कान्ता अस्मिन् वनोद्देशे वनमूमौ दृष्टा ? अनुष्टुप्कृतम् । अयं इच्छाकोजनेनैव रूपेण रामायणेऽरण्यकाण्डे उपलभ्यते । तेन कालीदामोऽपरि बाल्मीके. प्रभाव. स्पष्ट एव । अयं तु सर्व एव प्रसङ्गः रामायण प्रेरितो लक्षणः । अत्र त्रिगत नाम वीथ्यङ्गमुक्तं भवति । तल्लक्षणं तु साहित्यदर्पणे (६-२५७) त्रिगतं स्यादनेकार्थं योजनं श्रुति साम्यतः । २७।

(आकर्ष्यं सहर्षम्) कथं यथा क्रमं क्रममनतिक्रम्य तेनैव क्रमेण दृष्टा इत्याह । राज्ञा स्वकरनमेव प्रतिचरन्ति गिरिभूमौ श्रुतम् । तस्यायंस्तेनोत्तर-रूपेण गृहीतः । यथा हे सर्वं क्षितिभृता सर्वनृपाणां नाथ अस्मिन् वनोद्देशे स्वयां विरहिता रामा मया दृष्टा । प्रतिध्वनी त्वया मया चैत्यनयोः विषययेणात्वय । भवानपि अतः अस्माद् वृत्तादपि प्रियतरं श्रुणोतु इति मङ्गलाशंसा । पुनरुर्वंश्या विषये जिज्ञासु पृच्छति नृप —इवर्ताह मे प्रियतमा, यदि त्वया दृष्टा तत्तस्या स्नानं निर्दिश । (नेपथ्ये तदेव द्वितीयं प्रश्नं प्रतिध्व-नितमाकर्ष्यं) हा विगिति खेदे । मम एवायं कन्दरे विसर्पति प्रसरति इति कन्दरविस्र्पति प्रतिशब्द. प्रतिध्वनिः । (विषाद दुःख रूपयित्वा दर्शयित्वा) श्रान्तोऽस्मि । अस्यास्तावद् गिरिणद्याः पर्वतसरितस्तीरे स्थितं तरङ्गवातं नदीतरङ्ग—सस्पर्शं—शीतलं वातं वायुमासे विष्ये । इमा नवेन अम्बुना जलेन कलुषामाविला मलिना वा स्रोतोवहा नदी स्रोतसा बहति तां मे मनो रमतं विनोदितो भवति ।

तरङ्गेति—यथा यस्माद् इयं स्रोतोवहा तरङ्गा एव भ्रुवो मङ्गा यस्याः सा तरङ्ग—भ्रु मङ्गा । उभयेषामपि कुटिलत्वात्तरङ्गाणां प्रियाया भ्रुमङ्गैः सह साम्यं निरूपितं भवति । क्षुभितानां नयत्रशेनोत्पत्तनां विहगानां श्रणि पक्तिरेव रसना मेखला दाम यस्या सा । नदीतटे जलस्रोमभीता पक्षिण उडडयमानाः शब्दं कुर्वन्ति, प्रियाऽपि क्षुब्धा सती सहसा व्रजति तदा मेखला घण्टिकाः शब्दं कुर्वन्ति । एवमत्र शब्द साम्यं मेखलाया अयताया जलविहगपर्वतया च रूपसाम्यम् । सारम्भेण क्रोधेन शिथिल वसनं वस्त्रमिव फेनं कर्पन्ती आत्मवा सह यती । वस्त्रफेनयोः शौक्ल्यं, कर्पणं च समानम् । फेनोऽपि सिलामिस्तटेव

या सघातादेव जायते । स च सघातः स्त्रीणां गरम्भ इव भवति (‘...’पक्षे स्खलितं मार्गंगताः धाधा अभिसन्धाय मनसि विचार्यं अविद्धमनुजु मार्गंगं यान्ती मम स्खलित दौपम् अभिसन्धाय मनसि चिन्तयन्ती अविद्ध वृद्धि वचचिन्मन्द वचचिच्चक्षिप्र यान्ती) इयमसहना न सहते एवं नीला । सहना नदी भावेन नदीरूपेण परिणता परिवर्तिता । अत्र उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् । २८।

अनुवाद—आप आराम से रहिये । मैं जाता हूँ । (दोनों और नजर डालकर) धरे, यह अत्यन्त सुन्दर सुरभि बन्दर नाम का पर्वत दिखायी देता है । यह अफसरानों को प्यारा भी है । शायद वह सुन्दरी इसकी उपत्यका में मिल जाय (इधर-उधर घूमकर और देखकर) ओफ ! मेरे पापों का परिणाम कि मेघ तक विद्युत् से रहित हो गया । फिर भी इस पर्वत से बिना पूछे नहीं लौटूंगा ।

हे बड़े-बड़े नितम्बों (ढालों) वाले पर्वत क्या तुम्हारे इस वन प्रदेश में जिस पर कि काम का अधिकार है, वही वह स्त्री रहती है जिसके नितम्ब बड़े-बड़े हैं, जिसके दोनों स्तनों के बीच में बहुत कम अन्तर है और जिसकी सभी सन्धियाँ (जोड़) ठीक मूड़ी हुयी हैं । २९।

चुप क्यों हो ? सम्भवतः दूर होने से सुन नहीं पाते हो । इसके पास जाकर इससे फिर पूछता हूँ । (घूम-फिर कर) हे सब क्षितिभृता (पर्वतों) के स्वामी तुमने इस रमणीय वन प्रदेश में एक सर्वाङ्ग सुन्दरी रमणी को मुझसे विरहित देखा है ? २७।

(सुनकर आनन्द के साथ) अरे (यह तो) उसी क्रम से 'देखा है' ऐसा बह रहा है । इसलिये आप को भी प्यारी बात सुनने को मिले । फिर है कहीं मेरी प्रियतमा ? (नेपथ्य में वही अपनी बात को सुनकर) अरे घत् ! यह तो मेरी ही मुफा में बिखरी हुयी प्रतिध्वनि है । (बुख प्रदर्शित करके) थक गया हूँ । इस पहाड़ी नदी के किनारे बैठकर लहरों की वायु का सेवन करूँगा । यद्यपि यह नदी नये जल के आ जाने से मलिन है फिर भी इसे देख मेरा मन आनन्दित होता है ।

इसकी तं ज्ञे भ्रूमङ्गियाँ हैं, डर कर उड़े हुये पक्षियों की पक्ति बरधनी हैं, कुछ शोध के कारण डीला पड़ा वस्त्र है जिसे यह खींचती जा रही है,

बहुत-सी रुकावटों को बचा-बचा कर टेढ़ी-तिरछी चल रही है। निश्चय ही वह असहनशीला इस नदी रूप में बदल गयी है। २८।

टिप्पणी—उपत्यका—पर्वत के समीप की निचली भूमि। उप (समीपे) भवा उपत्यका। “उपाधिबयात्यकनासन्ना रूढयोः” (५-२-३४) सूत्र से त्यकन प्रत्यय होता है।

शतहृदा—शतं हृदाः। (चमक या किरणें) यस्याम्। विजली।

अल्पकुचान्तरा—कुचयोः अन्तरं कुचान्तरम्। अल्प कुचान्तरं यस्याः सा।

नितम्बवती—प्रशस्तो नितम्बो यस्याः सा। नितम्ब पर्वत का ढालू भाग तथा कटि के नीचे का पिछला भाग।

क्षुभित...रसना—विहगान्त श्रेणिः। क्षुभिता चासौ विहगश्रेणिः इति क्षुभित-विहगश्रेणिः। सैव रसना यस्याः सा।

सर्वक्षितभृतां—यह २७वां श्लोक रामायण के अरण्यकाण्ड (६४-२९) में इसी प्रकार मिलता है। सम्भवतः पुरुरवा का यह विलाप रामायण के राम-विलाप से ही प्रेरित है। इस श्लोक में राजा का प्रश्न और प्रतिध्वनि के रूप में पर्वत का उत्तर दोनों आ गये हैं। नाटक में इसे त्रिगत नामक वीथ्यङ्ग कहते हैं। “त्रिगत स्यादनेकार्थं भोजन श्रुति साम्यतः” (साहि० द० ६-२५७)।

तरङ्ग भ्रू-भङ्गा—इस २७वें श्लोक में उर्वशी और नदी का साम्य पाँच बातों में बतलाया गया है (१) तरङ्ग भ्रू-भङ्गा, (२) क्षुभित विहग, (३) विकर्पन्ती फेनम्, (४) आविद्ध यान्ती, (५) खलितमभिसन्धाय।

मूलपाठ—भवतु याचिष्ये यावदेनाम्। (अञ्जलिबध्वा)

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणय-भङ्ग-पराङ्मुखचेतसः

कमपराधलवं मम पश्यति त्यजति मानिनि दासजनं यतः ॥२९॥

अथवा परमार्थं सरिदेवैषा। न खलूर्वशीं पूरूर्वसमपहाय समुद्राभि-सारिणी भविष्यति। भवतु अनिर्वेद प्राप्याणि श्रेयासि। यवद् ममेव प्रदेशं गच्छामि यत्र मे नयनयोः सुनयना तिरोभूता। (परिक्रम्यावलोक्य) हन्त दृष्टमुपलक्षणं तस्या मार्गस्य।

नयने यस्या सा मे नयनयोः दृक्त्रयात् तिरोहिताऽन्तर्भूता । (परिक्रम्य
-अवलोक्य) हन्त दृष्टं प्राप्तमुपलक्षणं चिह्नं तस्याः मार्गस्य ।

रत्नाकदम्बेति—अयं स रत्नाकदम्बः एतन्नामको वृक्षः घर्मान्तसि घर्मस्य
श्रीष्मतीः अन्तः तं शसतीति श्रीष्मावसानं सूचकं असमग्रैरसम्पूर्णैः केशरैर्विपन-
नम्रोत्तममप्रतया अविकसितत्वान्नतोत्तमपि एकं कुसुमं प्रियया शिखाया-
श्चूडया आभरणं कृतम् । रत्नाकदम्बः प्रथमत्रयेदिविन्दुभिः सिक्तः सन्
विकसति । अयं वपरिम्भ एव । तेन तत्पुष्पं न सम्यक् फुल्लिनमासीद् । तदुक्तं
शेषदत्ते (१-२५) “त्वत्-मम्पकात् पुलकितमिव प्रोढ़ं पुष्पं कदम्बैः” । स्मरण-
लङ्कारः । अर्याछन्दः ॥३०॥

(विलोक्य) इमं तावन् आसनं सारङ्गं सारं चित्रमङ्गं यस्य सः । पररूप-
सन्धिः, “सारङ्गः पशुपक्षिणोः । सारङ्गोऽन्यः” सि० कौ० प्रियायाः प्रवृत्ते-
निमित्तं प्रियोऽन्तं ज्ञानुमन्मयंवे प्राथंये ।

कृष्णेति—कृष्णा च सारा (शारा ?) शवला च दृष्णसारा सा
छविर्यस्य याऽसौ सारङ्गं भृगुः काननश्रिया वनलक्ष्म्या वन-शोभाया
अवलोकाय दर्शनाय पातिनः कटाक्ष इव कृतो दृष्टिपात इव लक्ष्यते प्रतीयते ।
दृष्णभूतमिच्छविर्यस्यो वनश्रियो दृष्टिपातेनोत्प्रेक्ष्यते । वनश्रियो दृष्टिरपि
श्यामश्चेत्तैप । वन श्रो च वनाविष्टाता देवता वने निवसतीति वविपु रूढिः ।
उत्प्रेक्षालङ्कारः । अनुष्टुप् वृत्तम् । ३१ ।

(विलोक्य) किं नु खलु इत्याश्चर्यं मिश्रे खेदे माम् अवधीरयन् विडम्बयन्
अत्रार्थनामवमन्यमानः अन्यतोमुखं यस्य सोऽन्यतोमुखः अन्यस्या दिशि दत्तं
दृष्टिं सवृत् । दृष्ट्वा अस्यान्तिकमिति—अस्य अन्तिकं समीपं आयान्ती
आगच्छन्ती मृगी स्तनपिवतीति स्तनपायी तेन स्तनवयेन शिशुना रुद्धा मार्गं एव
निरुद्धा । अयं भुक्ता मृगी वा यस्य सोऽयं सारङ्गोऽन्यं दृष्टिरकाशेक्षणः सन् ता-
मृगीमवलोकयति । भुक्तेनि भुजकौटिल्य इति घातोः क्त प्रत्यये रूपम् । आर्या
छन्दः ।

हहो यूथपते ! हहो इत्यामन्त्रणे—

अपिदृष्टवानिति—अपित्वं ममप्रिया दृष्टवानसि । ते तुम्यं तस्या
अवलक्षणं प्रत्यभिज्ञानं चिह्नं कथयामि तन् श्रुणु अवधारय । यथैव ते सहचरी

रवन-इदं च सोऽय प्रियया घर्मान्तगति यस्यैकम् ।

कुसुम ममग्र केसर-विपममपि कृत शिखाभरण ॥३०॥

(विलोचय) इय प्रायत् त्रिया-प्रवृत्ति निमित्त मारङ्गमानोमन्त्रयैः ।

कृष्ण मारच्छत्रियोऽपी दृश्यते वानने त्रिया,

वनशोभादलोकाय कटाक्ष इव पातित ॥३१॥

(विलोक्य) किं न खलु मामवधीरयन्निव अन्यतो मुख सवृत्तः ।

(दृष्ट्वा)

अस्यान्तिकमायान्ती शिगुना स्ननपायिता मृगी रुद्धा ।

तामग्रमनन्य दृष्टिभुङ्ग ग्रीवो विलोकयति ॥३२॥

हो यूपने ।

असि दृष्टवानसि मम प्रिया वने

कदयामि ते तदुपलक्षण श्रुणु ।

पृथुलोचना सहचरा यथैव ते

सुभग तथैव खलु साऽपि वीक्षते ॥३३॥

व्यारया—भवतु थाचिष्ये पृच्छामि तावदेना स्तोत्रवहा । (अञ्जलि

वद्ध्वा)

त्वयीति—हे मानिनि त्वयि निबद्धा निवेशिता रतिरनुरागो यस्य तस्य,

प्रिय वदति एव शील प्रियवादी तस्य चादृक्त्तिभि प्रसादयत, प्रणयस्य

प्रार्थनाया भङ्गस्तस्मात् पराङ्मुख विपरीत चेतो यस्य तस्य तदा तवेच्छानुकूल-

मेव कार्यं कुर्वतः मम् वम अपराधस्यलव दोषस्य लेशमपि पश्यति यत कारणाद्

दासजन सेवक त्यजसि ? परिक्करालङ्कारः । द्रुतविलम्बित वृत्तम् । २९।

इद पद्य मम्मटेन अनभिहित वाच्यत्वदोषस्योदाहरण रूपेणोद्धृतम् अपिर-

ज्ञानभिहितः स चावश्यकः ।

अथवा एषा परमार्थेन वस्तुतः सारिदेव ननु म प्रिया । नैषा खलु उर्वशी ।

यतो पुरुषंसमपहाय ध्यक्त्वा वदापि समुद्रमभिसरति प्रियारूपेण गच्छति सा

समुद्राभितारिणी न भविष्यति उर्वशी । इयन्तु समुद्रमभिरतितेन नदी एवंपा ।

भवतु, श्रेयासि शुभानि अनिर्वेदन प्राप्याणि शोकोद्दिग्नेन मनसा श्रेयसा

प्राप्तिर्न सम्भवति । यवदमुमेव प्रदेश स्थान गच्छामि यत्र सा गुणवता सुन्दरे

नयने यस्या सा मे नयनयोः दृक्शब्दात् तिरोहिताऽन्तर्भूता । (परिक्रम्य
त्रयलाक्य) हन्त दृष्ट प्राप्तमुपलक्षण चिह्न तस्या भागस्य ।

रक्तकदम्बेति—अथ स रक्तकदम्बः एतन्नामको बृक्षः घर्मान्तरासि घर्मस्य
श्रीष्मर्तोः अन्तः त रासतीति श्रीष्मावसान सूचक असमग्ररसम्पूर्णः केसरैर्विषम
नन्नोनत ममप्रतया अविस्मितत्वान्नतोनतमपि एक कुसुम प्रियया शिखाया-
श्चूडया आभरण इतम् । रक्तकदम्बः प्रथमवपेदिदिन्दुभिः सिक्तः सन्
विक्रमनि । जव वपरिम्भ एव । तेन तत्तुष्प न सम्यक् फुल्लिनमासीद् । तदुक्तं
श्वेदूते (१-२५) “त्वत्-मम्पर्कात् पुलकितमिव प्रीढ पुष्पै वदम्बैः” । स्मरण-
लङ्कार । अ र्याछन्दः ॥३०॥

(विलोक्य) इम तावत् आसन सारङ्ग मार चिनमङ्ग यस्य सः । पररूप
सन्धिः, “सारङ्गः पशुपक्षिणोः । सारङ्गोऽन्यः” सि० कौ० प्रियायाः प्रवृत्ते.
निमित्त प्रियोदन्त ज्ञानुमम्यवयवे प्रार्थये ।

कृष्णेति—कृष्णा च सारा (शारा ?) शबला च वृष्णसारा सा
छत्रियस्य योऽसौ सारङ्गः मृगः वानश्रिया वनलक्ष्म्या वन-शोभाया
अवलोक्याय दर्शनाय पातिनः कटाक्ष इव कृतो दृष्टिपात इव लक्ष्यते प्रतीयते ।
वृष्णभूतमिश्रच्छविमृंगो वनश्रियो दृष्टिपातेनोत्प्रेक्ष्यते । वनश्रियो दृष्टिरपि
अयामश्वेतैव । वन श्रो च वनाधिष्ठाता देवता वने निवसतीति वविपु रुढिः ।
उत्प्रेक्षालङ्कारः । अनुष्टुप् वृत्तम् । ३१ ।

(विलोक्य) किं नु खलु इत्याश्चर्यमिश्रे खेदे माम् अवधोरयन् विडम्बयन्
अप्रार्थनामवगम्यमानः अन्यतोमुख यस्य सोऽन्यतोमुखः अन्यस्या दिशि दत्त
दृष्टि सवृतः । दृष्ट्वा अस्यान्तिकमिति—अस्य अन्तिक समीप आयान्ती
आगच्छन्ती मृगी स्तनपिबतीति स्तनपायी तेन स्तनवधेन शिशुना रुद्धा मार्गो एव
निरुद्धा । अथ भुग्ना श्रोवा यस्य सोऽय सारङ्गोऽन्य दृष्टिरेकाप्रेक्षणः सन् ता
मृगीमवलोकयति । भुग्नेनि भुजकौटिल्य इति घातो क्त प्रत्यये रूपम् । आर्या
छन्दः ।

हहो यूयपते ! हहो इत्यामन्त्रणे—

अपिदृष्टवानिति—अपित्व ममप्रिया दृष्टवानसि । ते तुभ्यं तस्या
उलक्षण प्रत्यभिज्ञान चिह्नं कथयामि तत् श्रुणु अवधारय । ययैव

प्रियतमा पृथुलोचना पृथुनी लोचने यस्याः सा दीर्घनेत्रा तथैव खलु इति विनिश्चये सा मुभगा सुन्दरी अपि वीक्षते अथवा मुभग मनोहर । पश्यति । साऽपि तव सहचरी विशालाक्षीति त्व ता प्रत्यभिज्ञातु शक्नोसि । मञ्जु-भाषिणीवृत्तम् । ३३।

अनुवाद—खैर, इससे याचना कहूँगा (हाथ जोड़ कर)

हे मानिनि ! मेरा प्रेम तुम्हीं में केन्द्रित है । तुम्हारे अनुकूल ही प्यारी बात बोलता हूँ, जिससे तुम्हारे प्रणय का भङ्ग हो ऐसी बात से अपना मन हटाये रखता हूँ । ऐसा छोटा सा भी कौन सा अपराध देखा है जिससे इस दास जन को छोड़ रही हो । २९।

अथवा यह सचमुच नदी है । उर्वशी कभी पुरूरवा को छोड़कर समुद्र का अभिसरण नहीं करेगी । अस्तु, खिन्नता और ग्लानि से कभी कल्याण की प्राप्ति नहीं होती । अब मैं उसी प्रदेश को जाता हूँ जहाँ वह सुनयना मेरी आँखों से ओझल हुयी थी । (इधर-उधर चल कर और देखकर) । वाह ! वाह, उसके मार्ग की पहिचान दिख गई ।

यह वह रक्त-कदम्ब है जिसके, ग्रीष्मावसान को सूचित करने वाले एक फूल को जब कि वह पूरे कैसर न निकल पाने के कारण खुरदुरा ही था, प्रिया ने आभूषण बनाकर चोटी में लगा लिया था । ३०।

(देखकर) अब प्रिया का समाचार पाने के लिये इस बैठे हुये मृग से प्रार्थना कहूँ ।

काली और कबरी छवि वाला यह (मृग) ऐसा दिलायी दे रहा है जिसे वनश्री ने कानन की शोभा देखने के लिये कटाक्षपात किया हो । ३१।

(देख कर) न जाने क्या इसने मेरी अबना करके दूसरी ओर मुँह कर लिया । (देखकर) इसके पास आती हुयी मृगी को उसके दूध पीने वाले बच्चे ने रोक लिया है । यह गर्दन को टेढ़ा करके एकाग्र दृष्टि से उसका देख रहा है । ३२।

अरे मृग के मालिक !

क्या तुमने मेरी प्रिया को वन में देखा है। मैं तुम्हें उसकी पहचान बताता हूँ, सुनो। जैसे यह बड़े-बड़े नेशों वाली है तुम्हारी साथिन प्यारे प्यारे ढग से देखती है वैसे ही वह भी देखती है। ३३।

टिप्पणी—प्रणय भङ्ग चेतस—प्रणयस्य भङ्ग इति प्रणय भङ्ग, तस्मात् पराङ्मुख चेतो यस्य स तस्य। २९वें श्लोक की प्रथम पक्ति के तीनों पद मम के विशेषण हैं जिनसे पता चलता है कि उवशी को मुझ (पुरूरवा) पर क्यो कृप नहीं करना चाहिये। यहाँ मम के ये तीनों विशेषण विनाप अमिप्राय से रखे गये हैं। अतः यहाँ परिकर अलङ्कार है। 'उक्ति विशेषणं सामिप्रायं परिकरो मत।'

अनिर्वेद प्राप्याणि०—देखिय रामायण अनिर्वेद श्रियोमूलमनिर्वेद पर सुखम।'

रक्त-कदम्ब—यह वृक्ष का नाम है। कदम्ब वर्षा के प्रारम्भ होने पर फूलता है। श्री वर्षा का आरम्भ है इसीलिये अद्यमत्र 'केसर'-तया 'एकम' य विनापण प्रयुक्त हुये हैं।

सारङ्गम्—सारम् (चिन्कवरा Spotted या विन्दकीदार) अङ्ग यस्य स सारङ्ग। पररूप सघि हुयी है।

भुग्न ग्रीव—भुग्ना (भुज्+क्त-टेढा होना) ग्रीवा यस्य स।

मूलपाठ—कथमनादृत्य भमवचन कलेत्राभिमुख स्थित। उपपद्यते। परिभवस्पद दशा विपर्यय। इती वयम् (परिक्रमितकैः) (अवलोक्य) अये किं नु खलु शिलामेदान्नरगत नितान्त-क्तमिदमालोक्यते।

प्रभालेपो नाय हरिहृत मृगस्याभिपलव,
स्फुलिङ्ग स्यादग्नेगगनभिवृष्ट पुनरिदम्।
(विभाव्य) अये रक्ताशोक स्तवक-समरागो मणिरय
यमुद्धतुं व्यवसित इवालम्बित कर ॥३४॥

हरित मे मन। आदास्ये तावदेनम्। अथवा—

मन्दारपुष्पैरधिवासिताया यस्या शिखायामयमपणीय।

सैवप्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे किमेनमस्त्रापिहृत करोमि ॥३५॥

(नेपथ्ये) वत्स गृह्यता गृह्यताम् ।

संगमनीय इति मणिः शैलसुता चरण-राग-योनिरयम् ।

आवहृनि धार्यमाण. संगममञ्जिरात् प्रिय जनेन ॥३६॥

व्याख्या—वयमित्याश्चर्ये नद् वचनम् अनादृत्य अवमत्स्य कलनाभिमुख
दयिताया सम्मुखे स्थितः । उपपद्यते युज्यते । दशा याः विपर्ययः विरुद्धता
विषो प्रतिशूले जन. परिभवस्य अधिक्षेपस्य आस्पद स्थान भवति । गमिष्यामो
वय इता जस्मान् स्थानान् । (परिभामितकेन परिभ्रम्येतस्ततः अवलोक्य च)
अये किं नु खलु विभिद शिलायाः भेदस्तत्रगत शिलान्तर चर्तमान नितान्त
रक्तं लाहितमालोस्यने—

प्रभालेपोति—प्रभया वीप्त्या लिम्नति व्याप्नोति इति प्रभा लेपी अय
हृदिना निहन हनस्य गजस्य जभिलपव. मामस्य शरल न । ययपीद प्रभया
दोष्यमान दृश्यते तदापीद गजमामखण्ड न । मत्वेऽपि तत्र लोहितवर्णस्य
दीप्तेरभावात् । यदि नेद मामखण्ड तदाऽग्ने स्फुल्लिङ्गः वषः स्यात् । पुनरिद
गगतभिवृष्टम् : (विनाश्र ध्यानपूर्वकं निरीक्ष्य) अये अय रक्तशपाती असौन
तस्य स्तववस्तेन ममो रागो यस्य स. एव भूतः असौव पुष्प गुच्छ सहस्र
रक्तवर्णः मणि पद्मरागः यमुद्धतुं दृष्टुं पूषा पुष्पातीति मूर्यः अयलम्बिताः
प्रनाग्निना बरा हस्ता. किरणा वा यन मोऽवलम्बित कर व्यवसित इव
(लक्ष्यत) वि+अव+पा+क्त । अत्र पूर्वार्धे समन्देह, उत्तरार्धे चोपदेशा ।
नित्यरिषी धृतम् । ३४।

रुस्पत्तिकारण यस्य सा पार्वती—चरणलौहित्य प्रसूतोऽय मणिः सगमनीय इति नामा शैलसुता उमा स्वचरणयोर्ष्यं लाक्षारागमाधारयन् स नव्या क्षालितः कपोश्चित् शिलाखण्डयोर्मध्ये निक्षिप्ता हरीभूतश्च मणिरूपे परिणतः । अयमणि-घर्षिमाणः—णिजन्तस्य धृ धातोः कर्मणि शानच्—अचिराच्छीघ्रं प्रियजनेन सगममावहति । एतावदावाशभाषितम् । आर्यावृत्तम् ।

अनुवाद—अरे यह तो मेरी बात की परवाह न कर अपनी पत्नी की ओर मुंह करके खड़ा हो गया । ठीक ही है । भाग्य की विपरीत दशा में (मनुष्य) अपमान का पात्र बन जाता है । जाता हूँ यहाँ से (इधर-उधर चलकर) (देखकर). अरे ! शिला की दरार के भीतर पड़ा हुआ यह खूब लाल लाल क्या दिखायी देता है ?

यह प्रभा से व्याप्त वस्तु शेर के द्वारा मारे हुये हिरन के मांस का टुकड़ा नहीं है । फिर क्या यह आग की चिनगारी होगी ? किन्तु अभी अभी ता आवाश से पानी गिर चुका है । (अच्छी तरह से देखकर) अरे ! रक्त अशोक के गुच्छे के समान लाल रंग की यह मणि है जिसे लेने के लिए ही सूर्य ने मानो अपने कर (हाथ और किरण) नीचे फैला दिये हैं ॥३४॥

मह मेरे मन को आकृष्ट कर रहा है । इसे ले लूँगा । अबवा—

जिस प्रिया की मन्दार के फूलों से सहवती हुयी चोटी में इस मणि को लगाना चाहिये था वह प्रिया ही आजकल मेरे लिये दुर्लभ हो गयी है तो फिर इसे आसुओं से भिगोकर क्या करूँगा ?

(नेपथ्य में) बेटा, लेलो, लेलो !

शैलपुत्री पार्वती के पैरों के महावर से पैदा हुयी यह सगमनीय मणि है । इसे पहन ले तो यह शीघ्र ही प्रियजन से सगम करा देता है ॥३६॥

टिप्पणी—प्रभालेपी—प्रभायाः लेपः इति प्रभा लेप सोऽस्यास्तीति प्रभालेपी ।

रक्ताशोक **रागः रक्ताश्रवासी अशोक*, तस्य स्तवकः इति रक्ताशोक स्तवकः, तेन समोरागा यस्य । यद्वा उत्प्रेक्षालङ्कार है । सूर्य की लाल किरणें मानो मणि को लेने के लिये उसके फँले हुये हाथ हैं ।

व्यवसितः—वि + अव + पो धातु (स) + क्त ।

शैलसुता • योनिः—शैल सुतायाः चरणौ इति शैलसुता चरणौ तयोः रागः योनिः (जन्मस्थानम्) ।

धार्यमाणः—घृ घातु (धारण करना) + णिच् + कर्मवाच्य मे शानच् ।
शैलपुत्री उमा के चरणो मे लगा हुआ लाक्षाराग (महावर) उनके स्नान करने के समय घुलकर दो शिलाखण्डो के बीच मे जाकर जम गया और धीरे-धीरे मणि के रूप मे बदल गया था ।

नेपथ्ये—नेपथ्य से प्रारम्भ कर ३६वें श्लोक के अन्त तक का भाग “आकाशभाषित” है ।

अस्रोपहृतम्—आस्रंः (अश्रुभिः) उपहृतः इति अस्रोपहृतः तम् ।

मूलपाठ—राजा (कर्णं दत्त्वा) को नु खलु मामेवानुशास्ति । (दिशोऽवलोक्य) अये अनुकम्पने मा कश्चिन्मृगचरी मुनिर्भगवान् । भगवान् अनुगृहीतोऽस्म्यहममुपदेशाद् भवतः । (मणिमादाय) हं हो संगमनीय—

तया विमुक्तस्य विलासमध्वया

भविष्यति त्वं यदि संगमाय मे ।

ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः,

शिखामणि वालमिवेन्दुमीश्वरः ॥३७॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अये कि नु खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यतो मे रतिरूपलङ्गा । अथवा स्थाने मनोरमा ममेयम् । इयं हि—

तन्वीमेघनाद्रं पल्लवतया धोनाधरेवाश्रुभिः,

शन्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्त पुष्पोद्गमा ।

चिन्ता मीनमिवास्थिता मधुलिहा शब्दैर्विना लक्ष्मणे,

खण्डोमामवधूय पादपतितं जातानुनापेव सा ॥३८॥

यावदस्याः—प्रियानुकारिण्याः परिस्रष्ट्वङ्ग-प्रणयी भवति । (इति लतामालिङ्गति)

(ततः प्रविशति तत्स्थाने एवोर्वशी)

राजा—(निमीलित्वाद्य एव स्पर्श रूपयित्वा) अये उर्वशी गाय एम्पदीदिव निवृत्तं मे शरीरम् । तथापि न पुनरस्ति विश्वासः । कु.३.—

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति-
क्षणैव तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा ।
अतो विनिद्रे सहसा त्रिलोचने
करोमि न स्पर्गं—विभावित—प्रियः ॥३६॥

(शनैश्चक्षुषी उन्मील्य) कथं मत्प्रथमेवोर्वशी ?

व्याख्या—राजा—(कर्णं दत्वा ध्यानपूर्वकं निराम्य) को नू खलु मामेव अनुशास्ति आदिनाति मणिं गृहीतुम् । (दिशोऽवलोक्य सर्वतो दृष्ट्वा) अये अनुकम्पते अनुगृह्णाति मा कोऽपि मृगचारी मृग इव चरति स तृण-फल-जल-वृत्तिः परित्राजकः मुनिमंगवान् पूज्यः । भगवन् अनुगृहीतोऽस्मि अहं भवत उपदेशात् । महतीय भवतः कृपा यद् भवान् मामेवमादिष्टवान् । (मणिमादाय) ह हो सगमनीय ।

तयेति—यदि त्व विलम्ब मध्यया विलम्बः क्षीणः विशेषेण लग्न मय्यः कटिभागोयस्याः सा तथा क्षीणकस्य प्रियया वियुक्तस्य विरहितस्य मे सङ्गमाय पुनर्मेलनाय भविष्यसि । तादर्थ्यं चतुर्थी, तदाऽहमीश्वरः शिवः बालभ्रातृौ चन्द्रस्त बालचन्द्रमिव आत्मनः स्वस्य सिखामणिं चूडामणिं करिष्यामि । शिरसि धारयित्वा परमादर प्रदर्शयिष्यामि । उपमालङ्कारः । वसत्य वृत्तम् । (परिक्रम्य अवलोक्य च) अये इत्याश्रयं हर्षं च, किं नू खलु कुतुमरहिना निष्पुणामपि इमा लता पश्यतो मे रति निर्वृत्तिरनुरागो वा उपलब्धा । मे इति कर्त्तरि पठ्यते । अथवा स्थाने युक्तमेव यत्रैषा मे मनोरमा मनः रमयति इति । इयं हि—

तन्वीति—तन्वी सुन्दरी मेघजलेन वर्षासिलिलेन आर्द्राः पल्लवा यस्या सा तस्या भावो मेघ जलार्द्रपल्लवता तथा अश्रुभिः धौतोऽधरो यस्याः सा धौताधरा इव । लता वर्षण जलेन आर्द्रपल्लवा प्रिया च प्रणिपात—ऽङ्गुलं—जात—पश्चात्तापा अश्रुभिः सिक्ताधरा । उभे च तन्वी । लता स्वैषा पुष्पाणा कालः प्रादुर्भाव समय. तस्य विरहोऽगमः तस्मात् स्वकालविरहात् पुष्पोद्गम कालव्ययात् विश्रान्ता विरति गतः पुष्पोद्गमो यस्याः सा विश्रान्त पुष्पोद्गमा । आभरणै-र्भूषणैः शून्या प्रिया इव । यथा लता पुष्पैः शून्या तथा स्त्रिय मानसा प्रिया आभूषणै र्हित्वा । भर्तृलहर्तीति भर्तृलहर्तेषा अमरणात् सत्यं किं किञ्चन

कृत मौनमिति चिन्ता मौनमास्थिता गृहीतवती लक्ष्यते । लता क्रमर-सद्व्या-
भावेन मौनवती प्रिया तु पश्चात्ताप-जनित-चिन्तया तूष्णी भूता । एवमेव
पादयोः पतित पाद पूतित कृतप्रणिपात मामवधूय तिरस्कृत्य जातोऽन्तापो
यस्या सा चण्डी क्रुद्धा उर्वशी इव (लक्ष्यते) । उ प्रेक्षालङ्कारः । शार्ङ्गलविक्री-
डित वृत्तम् । अत्र कार्यान्वेषणाद् विबोधन नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं भवति । ३८॥

यावदस्मात् प्रियामनुकरोतीति प्रियानुकारिणी तस्या प्रियानुगमिण्याः
उपर्युत्तरीत्या प्रियाचेष्टा विदग्धयन्त्या परिस्वङ्गे आलिङ्गेन प्रणयः इति
परिस्वङ्ग-प्रणयः । सोऽस्ति अस्थेति परिस्वङ्गप्रणयी आलिङ्गनात् । इक्षी
भवामि । (इति लतामालिङ्गति) अत्रालिङ्गनस्य उर्वशी प्राप्ति नाम सन्ध्यङ्ग
मुक्तं भवति ।

राजा—निमीलिते सवृते एवाक्षिणी नेत्रे यस्य स निमीलितः स इव स्पर्श
उर्वशीगात्रस्पर्शमिव रूपयित्वा (प्रदर्शय) अये मे शरीर उर्वशीगत्राणा सपर्वादिव
निवृत्त विश्रान्ति मतम् । यथा उर्वशी स्पर्शेन शरीर शान्तिम् लभते तथैवारायाः
स्पर्शेनालमत । तथापि विश्वासी पुनर्नास्तिः—

समर्थये इति—यत् नूपुर-रवादिक प्रथम पूर्वं प्रिया प्रति उर्वशीमनु-
सन्धाय समर्थये भावयामि तत् क्षणेन अन्यथाऽन्य प्रकारेण तद्विद्वारज्जस-रवादि-
रूपेण परिवर्तते । अतोऽनेन कारणेन साम्प्रतिमपि मे प्रिया लताद्यन्य रूपे
परिणता न भवेदिति स्पर्श-विभावित प्रिय, स्पर्शेन अङ्गस्पर्शेन विभावित
निरूपिता प्रिया येन स एवभूतोऽपि लोचने विनिद्रे उन्मीलिते न करोमि !
यस्य वृत्तम् । ३९॥

(सन्ध्यापणी नेत्रे उन्मील्य) कथमिति हर्षे सत्यमेव उर्वशी ।

३नुवाद—राजा—(कान लगाकर) यह वीन मुझे ही आदेश दे रहा है ।
(दिशाओं को देख कर) अरे यह कोई मृगयान जीदन विज्ञाने वाला पूज्य मुनि
मुझ पर अनुकम्पा कर रहा है । भगवान् आपसे आदेश से मैं अनुग्रहीत हूँ ।
(मणि को लेकर) अरे संगमनीय !

यदि तुम उम्र पतली कमर वाली (प्रिया) से वियुक्त हूँ तो मुझ (पुरुष) को
उससे मिला दोगी तो मुझे इस प्रकार अपनी शिरसामणि बना लूँगा जैसे
शिव ने बाल पत्र को बनाया है । ३७॥

(इधर-उधर घूमकर और देखकर) अरे पुष्परहित होने पर भी, न जाने क्यों, इस लता को देखकर रति की प्राप्ति हो गयी है। अथवा ठीक ही यह मेरी मनोरमा है। यह—

वर्षा के जल से पत्तों के भीगे होने के कारण लगता है कि, जैसे हमके अधरो का रंग आमुओ से धुल गया है। फूलने की ऋतु बीत जाने से इसका पुष्पोद्गम प्राप्त हो गया है, इससे यह आभूषण से शून्य (दिव्वाई देना) है। भौरों का मृञ्जन न होने से यह चिन्ना के कारण मौन बैठो हूयीं-भी दिख रही है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वह चण्डी (ऋषमयी) पैरा में पडने पर भी मेरा निरस्कार करके अब पदचात्तान-सा कर रही है। ३८।

अच्छा प्रिया का अनुकरण करने वाली इस लता से आलिङ्गन की प्रार्थना कर्हे। (लता का आलिङ्गन करता है) (तब उची स्थान पर उर्वशी प्रवेश करती है)

राजा—(आँखें बन्द किये-किये ही स्पर्श का प्रदर्शन करके) मेरे शरीर को इस प्रकार मुक्त मिल गया जैसे उर्वशी के शरीर के सपर्श से हुआ हो। फिर भी मुझे विश्वास नहीं होता, क्याकि—

पहले मैं जिस बात को प्रिया के प्रति समझता हूँ वह क्षण भर में बदल कर कुछ और हो जाती है इसलिये स्पर्श से प्रिया का समझ लेने पर भी मैं सहसा अपनी आँखें नहीं खोल रहा हूँ। ३९।

(धीरे से दोनों नेत्र खोलकर) अरे, सचमुच ही उर्वशी।

टिप्पणी—विलग्नमध्या—विशेषेण लम्बः मध्यः यस्याः सा। पतली कमर वाली।

शिखामणि...भीश्वरः—उपयुक्त उपमा है। जिस प्रकार शिव ने हलाहल को जलन को शांत करने के लिये बाल-चन्द्र को 'शिखामणि' बनाया था उसी प्रकार पुरूरवा विरह की जलन को शांत करने के लिये 'सगमनीय' को 'शिखामणि' बनाने का सवल्प करता है।

तन्वी मैघ०—राजा लता और उर्वशी में साम्य देखता है क्योंकि (१) लता के पत्तों वर्षा-जल से भीगे हैं जो उर्वशी को आँसुओ से भीगे अधर जैसे, लगते हैं, (२) लता पर पुष्प नहीं है, उर्वशी भी क्रियोग-शक्ति में आ,

धारण किये होगी । (३) लता पर (पुष्प न होने से) भौरे नहीं मँडरा रहे हैं अतः वह निःशब्द है, उर्वशी भी शोकमग्न होने से मौन होगी ।

‘लता कोपना उर्वशीव लक्ष्यते’ यहाँ कार्य के अन्वेषण के कारण ‘विवोधन’ नाम सन्ध्यङ्ग है ।

लतामालिङ्गति—यहाँ आलिंगन के उर्वशी प्राप्ति के कारण होने से ‘आदान’ नामक सन्ध्यङ्ग है ।

स्पर्श प्रिय—स्पर्शेन विभाविता (निरूपिता) प्रिया येन सः ।

मूलपाठ—उर्वशी (वाष्प विसृज्य) जेदु जेदु महाराओ । [जयतु जयतु महाराजः ।]

राजा—त्वद् वियोगेद्भवे तन्वि मया तमसि मज्जता ।

दिष्ट्या प्रत्युपलब्धाऽसि चेतनेव गतासुना ॥४०॥

उर्वशी—अभ्यन्तर करणाए मए पच्चख्खी किद-वुत्तन्तो खु महाराओ । [अभ्यन्तर-करणया मया प्रत्यक्षीकृत वृत्तान्तः खलु महाराजः ।]

राजा—अभ्यन्तर करणयेति न खलु ते वचनार्थमवैमि ।

उर्वशी—कह इस्त । इम दख पमीददु महागओ ज मए कोववसं गदाए एद अवच्छन्तर पाविदो महाराओ [कथयिष्यामि । एतन्तावत् प्रसीदतु महाराजो यन्मया कोपवश गतया एतदवस्थान्तर प्रापितो महाराजः ।]

राजा—वत्याणि ! न तावदह प्रसादयितव्यः । त्वदर्शनादेव प्रसन्नः सवाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा । कथय कथमियन्तं कालमवस्थिता मया विना भवती ।

उर्वशी—सुणादु महाराओ । मअवदा कुमारेण सासदं कुमारवदं गेण्णिअ अकलुसोणाम गन्धमादण कच्छो अइन्नासिदो किदोअ एम विही । [शृणोतु महाराजः । भगवता कुमारेण शाश्वत कुमारवत् गृहीत्वा अकलुपो नाम गन्धमादन कच्छो अभ्यासिता कृतश्चैव विधिः]

राजा—क इव ?

उर्वशी—जा इमं पदेशं इष्टिआ पविसदि सा लदाभावेप परिणमिस्सदि । गोरी चरण-संभवं मणि विणा तदो ण मुच्चिस्सदित्ति । साहं गुरु-साव संमूढ-हिअआ देवदासमअ विस्सुमरिअ अगहिदाणुआआ कुमारवणं पविट्ठा । पवेमाणन्तर एव्व वामन्तीलदा संवुत्ता । [यैतं प्रदेशं स्त्री प्रवेक्ष्यति सा लता भावेन परिणंस्थनि । गौरी-चरण-संभवं मणि विना ततो न मोक्ष्यत इति । साऽहं गुरुशाप-संमूढ हृदया देवता समयं विस्मृत्या गृहीतानुनया कुमारवनं प्रविष्य । प्रवेशानन्तरमेव वासन्ती-लता संवृत्ता ।]

व्याख्या—उर्वशी—(वाष्पमश्रु विमुच्य विसृज्य) जयतु जयतु महाराजः ।

राजा—हे तन्वि सुन्दरि तव वियोग इति त्वद्विगमसमादुर्भङ्गो यस्य तस्मिन् त्वद्विरहजग्ये तननि मञ्जता शोकावृत्तेन मया दिष्ट्या भाग्येन गताः असवो यस्य तेन निर्गत-जीवितेन जनेन चेत्ता इव त्वमुर्वशी प्रत्यागत्या पुनः प्राप्ताऽसि । यया मन्-वेनामवाप्य नूनः स्वस्व-मन् कारं क्तुं क्षरी त्रैः ।ऽह त्वा प्राप्य जातोऽसि । अनुप्लुवृतम् । ४० ।

उर्वशी—अभ्यन्तराणि करणानि इन्द्रियाणि यस्याः न, तत्रः अन्नगन्धेन्द्रिय वृत्तिक्रिया मया अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष कृतः इति प्रत्यक्षोक्तः वृत्तान्तो यस्य स प्रत्यक्षवद् दृष्टप्रवृत्ति खलु महाराजः । मया महाराजस्य सर्वमाचरित प्रत्यक्ष-वद् दृष्टम् ।

राजा—अभ्यन्तर करणया इति यदुक्तं भवत्या तस्य वचनार्थं तात्पर्यं न अवेमि ।

उर्वशी—कथयिष्यामि । एतत् तावत् प्रमादतु मनात्तार्थं मयंयतु यन्मया कोपवश क्रोधाधीनता गतया एतदत्रस्यान्तर प्रापिनो गमितो महाराजः ।

राजा—कल्याणि ! न तावद्दह प्रमादयिनञ्च, त्वं मा प्रमादयितुं नार्हसि । मम बहिर्भवानि वाचानि तानि च अन्तश्च अन्नगन्तानि च करणानि इति बाह्यन्त-करणानि तानि च चतुर्दश । तत्र बाह्यानि “श्रीश्च त्वक् चक्षुषी जिह्वा, नानिका चैव पञ्चमी-नायुषम्य हस्तपादं वाक्-चैव दशमी स्मृता” इति दश । अन्तःकरणानि च मनोबुद्धिश्च चित्तमहङ्कारश्चेति चत्वारि । आत्मा

चेतेषा सर्वेषामधिष्ठाता । तं बाह्यान्तःकरणैः सहति इति सबाह्यान्तःकरणः
 अन्तरात्मा त्वद्दर्शनादेव प्रसन्नो मुदितः । कथं केन प्रकारेण इयन्त दीर्घं कालं
 मया विना मद्द्विरहिता अवस्थिता भवती इति कथय । एतावान् विरहदीपः
 कालो भवत्या केन प्रकारेण व्यतीतः ।

उर्वशी—शृणोतु महाराज । भगवता पूज्येन कुमारेण कार्तिकेयेन
 शाश्वतमखण्डं कुमारव्रतं ब्रह्मचर्यं गृहीत्वा अक्लुषो नाम गन्धेन मादयति मत्तं
 करोतीति गन्धमादनः तस्य कच्छं जलप्रायः प्रान्तप्रदेशः अध्यासितः वासाय
 स्वीकृतः । नैष्ठिकं व्रतं गृहीत्वा कुमारः अक्लुषाक्ष्ये जलाशयेभ्यवसत् । कृतश्च
 एष विधिनिश्चयः ।

राजा—क इव, को विधि, व्रतं कुमारेण ?

उर्वशी—या स्त्री एतत् प्रदेशं प्रवेक्ष्यति सा लताभावेन परिणस्यति लता
 रूपे परिणता भविष्यति । गौर्याश्चरणौ ताभ्यां स भव उत्पत्तिर्यस्य त गौरी-
 पादोत्पन्नं मणिं विना ततो लताभावान् मोक्ष्यते मुक्तो न भविष्यति । साऽहं
 गुरो भरतस्य शापस्तेन समूढं हृदयं यस्यां सा भरतशापाज्जडत्वमापन्ना देवता-
 समयं कुमारं व्रतं विधिं विस्मृत्य आगृहीतानुनया न गृहीतः स्वीकृतोऽनुनय-
 प्रणिपातो मया सा उल्लङ्घित-प्रणिपाता कुमारव्रतं प्रविष्टा । प्रवेशानन्तरमेव
 वासन्ती वसन्ते पुष्पतीति वासन्ती कुन्दलता सवृत्ता “बालात्सापुष्पयत्-पच्य-
 मानेत्” (४-३-४३) इति अणः ।

राजा—कल्याणि ! मुझे मनाने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे दर्शन से ही बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों के साथ मेरी अन्तरात्मा प्रसन्न हो गयी। बतलाओ मेरे बिना इतने समय तक तुम किस तरह रही ?

उर्वशी—मुनिये महाराज ! पूज्य कुमार शाश्वत् ब्रह्मचर्य व्रत लेकर गन्धमादन के अकल्प नाम कच्छ में रहने लगे और उन्होंने यह नियम किया—

राजा—क्या नियम ?

उर्वशी—जो स्त्री इस प्रदेश में प्रवेश करेगी वह लता रूप में बदल जायगी और गौर के चरण से उत्पन्न मणि के बिना उसमें मुक्त नहीं होगी। सा में गुरु के शाप के कारण हृदय में विवेकहीन होकर देवता के नियम को भूल गयी और (आपके) अनुनय स्वीकार न करती हुई कुमार वन में पुस गयी। वस प्रवेश के बाद ही वासन्ती लता बन गयी।

टिप्पणी—गनानुना—गतः अश्वः यस्य स गतासु तेन मृत व्यक्तिना अमु—प्राण। मृत व्यक्ति के लिये चेतना का जो मूल्य है वही पुष्टरवा अपने लिये उर्वशी का मूल्य मानता है।

अभ्यन्तर करणया—अभ्यन्तराणि करणानि यस्या सा तथा। कण्ठ-इन्द्रियां (ज्ञान तथा कर्म सम्बन्धी "श्रीव त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी—गामूरस्य हस्तपाद वाक् चैव दशमी स्मृता।" साह्यदर्शन तीन अन्तरिन्द्रियां मन्ता है—बुद्धि, मनः और अहकार। वदन्त चित्त को चौथा मानता है।

मवाह्यान्त करण. —बहिर्भवानि बाह्यानि। बाह्यानि च अन्तर च त्तानि करणानि इति बाह्यान्त करणानि। तं सहितः।

गन्धमादन कच्छ—हिमालय के ओषधिप्रस्यनामक नगर के उपवन का नाम गन्धमादन है। कुमारसम्भव में शिव और पार्वती त्रिवाहोत्तरान्त रमण के लिये गन्धमादन पर जाते हैं।

मूलपाठ—राज —सर्वमुपपन्नम्—

- रति-स्नेह सुप्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवास गतम्।—

सा त्वं प्रिये सहेया. कथं मदीयं चिर वियोगम् ॥४१॥

चेतेषा सर्वेषामधिष्ठाता । तै वाह्यान्तःकरणैः सहति इति सवाह्यान्तःकरणः
अन्तरात्मा त्वद्दर्शनादेव प्रसन्नो मुदितः । कथं केन प्रकारेण इयन्त दीर्घं कालं
मया विना भद्विरहिता अवस्थिता भवतो इति कथय । एतावान् विरहदीर्घः
कालोभवत्या केन प्रकारेण व्यतीतः ।

उर्वशी—शृणोतु महाराजः । भगवतां पूज्येन कुमारेण कार्तिकेयेन
शाश्वतमखण्ड कुमारव्रत ब्रह्मचर्यं गृहीत्वा अक्लुषो नाम गन्धेन मादयति मत्तं
करोतीति गन्धमादनः तस्य कच्छः जलभायः प्रान्तप्रदेशः अव्यासितः वासाय
स्वीकृतः । नैष्ठिक व्रतं गृहीत्वा कुमारः अक्लुषाख्ये जलाशयेन्यवसत् । कृतवच
एष विधिनिश्चयः ।

राजा—क इव, को विधिः कृत कुमारेण ?

उर्वशी—या स्त्री एत प्रदेशं प्रवेश्यति सा लताभावेन परिणस्यति लता
रूपे परिणता भविष्यति । गौर्याश्चरणी ताम्या सभवं उत्पत्तिर्यस्य त गौरी-
पादोत्पन्नं मणिं विना सतो लताभावात् मोक्षयते मुक्तो न भविष्यति । साऽहं
गुरो भरतस्य शापस्तेन समूहं हृदयं यस्याः सा भरतशापाज्जडत्वमापन्ना देवता-
समयं कुमारं कृतं विधिं विस्मृत्य आगृहीतानुनया न गृहीतः स्वीकृतोऽनुनयं
प्रणिपातो मया सा उल्लङ्घित-प्रणिपाता कुमारवनं प्रविष्टा । प्रवेशानन्तरमेव
वासन्ती वसन्ते पुष्यतीति वासन्ती कुन्दलता सवृत्ता “कालारसाधुपुष्यत्-पद्म-
मानेषु” (४-३-४३) इति अण् ।

अनुवाद-उर्वशी—(आसू गिरा कर) जय हो ! महाराज की जय हो !

राजा—हे सुन्दरि ! तुम्हारे वियोग से पैदा होने वाले शोक में डूबते हुये
मुझे भाग्य से तुम इस तरह मिल गयी जैसे भरे हुये व्यक्ति को चेतना मिल
जाय । ४०।

उर्वशी—मैंने अपनी अन्तरिन्द्रियो से महाराज के हाल-चाल को प्रत्यक्ष
देख लिया है ।

राजा—अन्तरिन्द्रियो से तुम्हारी इस बात के तात्पर्य को नही समझ
पा रहा हूँ ।

उर्वशी—बतलाऊंगी । पहले आप इस बात के लिये नाराजी छोड़ दें कि
मैंने जोश के वश में आकर आपको इस परिचित दशा में पहुँचा दिया है

राजा—कल्याणि ! मुझे मनाने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे दर्शन से ही बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों के साथ मेरी अन्तरात्मा प्रसन्न हो गयी। बतलाओ मेरे बिना इतने समय तक तुम किस तरह रही ?

उर्वशी—मुनिये महाराज ! पूज्य कुमार शाश्वत् ब्रह्मचर्यं व्रत लेकर गन्धमादन के अकलुय नाम कच्छ में रहने लगे और उन्होंने यह नियम किया—

राजा—क्या नियम ?

उर्वशी—जो स्त्री इस प्रदेश में प्रवेश करेगी वह लता रूप में बदल जायगी और गौरों के चरण से उत्पन्न मणि के बिना उससे मुक्त नहीं होगी। सो मैं गुरु के शाप के कारण हृदय में विवेकहोन होकर देवता के नियम को भूल गयी और (आपके) अनुनय स्वीकार न करती हुई कुमार वन में घुस गयी। वस प्रवेश के बाद ही वासन्ती लता बन गयी।

टिप्पणी—गनासुना—गतः अपवः पथ्य स गतासु तन मृत व्यक्तिना असु—प्राण। मृत व्यक्ति के लिये चेतना का जो मूल्य है वही पुष्टरवा अपने लिये उर्वशी का मूल्य मानता है।

अभ्यन्तर करणया—अभ्यन्तराणि करणानि यस्या सा तथा। कण्य-इन्द्रियां (ज्ञान तथा कर्म सम्बन्धी “श्रीत्र त्वक् चक्षुषी जिह्वा नामिका चैव पञ्चमी—गयूपस्य हस्तपाद वाक् चैव दशमी स्मृता।” साह्यदर्शन तीन अन्तरिन्द्रियां मानता है—बुद्धि, मनन और अहकार। वेदान्त चित्त को चौथी मानता है।

सवाह्यान्त.करण.—बहिर्भवानि बाह्यानि। बाह्यानि च अन्तर च तानि करणानि इति बाह्यान्त करणानि। तं सहितः।

गन्धमादन कच्छ—हिमालय के ओषधिप्रस्थनामक नगर के उपवन का नाम गन्धमादन है। कुमारसम्भव में शिव और पार्वती विवाहोपरान्त रमण के लिये गन्धमादन पर जाते हैं।

मूलपाठ—राज—सर्वमुपपन्नम्—

रति-स्नेह सुप्तमपि प्रां शयने या मन्यसे प्रवास गतम् ।--
सा त्वं प्रिये सहेयाः कथं मदीयं चिर वियोगम् ॥४१॥-

इदं तद् यथा कथितं त्वं-संगम-निमित्तं मुनेरूपलभ्यं मणिप्रभादादा-
सदिता स्वमस्माभिः । (रमणं दर्शयति)

उर्वशी—अम्मो संगमणीओ । अदो खु महाराएण आलिङ्गिदिमेतव्व
पकिदिश्याह्मि सवुत्ता । [अहो संगमनीयः । अतः खलु महाराजेन
आलिङ्गितमात्रैव प्रकृतिस्थाऽस्मि संवृत्ता ।] (मणिमादाय मूर्धनि
बहति)

राजा—एवमेव सुन्दरि स्थीयताम्

स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मणेरललाट निहितस्य ।

श्रियमुद्वहति मुखं ते वालातप रक्त-कमलस्य ॥४२॥

उर्वशी—महन्तो खु कालो तुह पइट्टाणादो निग्गदस्य । असूअन्ति
मं पकिदोओ । ता यहि णिवुनह । [महान् खलु कालस्तत्र प्रतिष्ठाना-
भिर्गतस्य । असूयन्ति मह्यं प्रकृतयः तदेहि निवतविहे ।]

राजा—यदाज्ञापयति भवती ।

उर्वशी—कहं महाराओ गन्तुं इच्छउदि ? [कथं महाराजो
गन्तुमिच्छति ?]

राजा—अचिर-एभा-विलासितैः पताकिना,

सुरकार्मुकाभिनय-चित्र शोभिना ।

गमितेन खेलगमने विमानता

नय मा नत्रेण वसति पयोमुचा ॥

(इतिनिष्क्रान्ताः सर्वे)

चतुर्थोऽङ्कः समाप्तः

व्याख्या—राजा—मवंमुपपन्न स्वया यदुक्त तद्युक्तम् ।

रतिखेदेति—या एव क्षयने रत्या खेदः रतिखेदस्तेन सुप्त सुरतश्रमावाप्त-
निद्रा मा प्रवासगत दूरस्वप्निवम-यते । स्म प्रिये ! सा एव सदा वियोगभीता
मदीय चिर वियोग कथं सहेषा सोढवतीति भावः । आर्या जातिः ॥४१॥

इदं तद् यथाकथितं पूर्वोक्तानुसारेण स्वस्वगम-निमित्तं तत्र समागमे
हेतुभूतमुपाय मनेरूपलभ्यं प्राप्य मणिप्रभादात् स्वमस्माभिरासादिता, प्राप्ता
(मणि दर्शयति)

उर्वशी—अहो सगमनीय एतनामको मणिः अतोऽनेन कारणेन महाराजेन आलिङ्गता एव इत्यालिङ्गित माना एव प्रकृतिस्था स्वस्था पूर्वावस्थागमम् सवृत्ता जाताऽस्मि । (मणिमादाय गृहीत्वा मूर्धनि शिरसि प्रियाया भाले निवेशयति)

राजा—एवमेव अनयैव मुद्रया सुन्दरि ! क्षणमात्र स्यीयताम् ।

स्फुरतेति—ललाटे निहित इति ललाट निहितो भाले निवेशितस्तस्य मणोः सगमनीयस्य स्फुरता सवंतः प्रसरता रागेण प्रभया विच्छुरित ससक्तं ते मुख बालश्चासौ आतपः तेन रक्त यत् कमल तस्य बालार्कं किरण रञ्जितस्य पङ्कजस्य श्रिय शोभामुद्बहति धारयति । निदर्शनालङ्कार । आर्याजातिः । १४२।

उर्वशी—महान् खलु कालः तव प्रतिष्ठानात् राजघान्याः निर्गतस्य असूयन्ति मह्य प्रकृतयः प्रजा । प्रतिष्ठान गता नागरिका नगरे तवानुपस्थितौ मामेवापराधिनी मत्वा मह्य कृष्यन्ति । मह्यमिति 'कुधद्रुहेर्प्याऽसूयार्याना य प्रति कोप' इति चतुर्थी । तदेहि आगच्छ निवर्तामहे प्रतिगच्छाव ।

राजा—यदाज्ञापयति भवती ।

उर्वशी—कथं महाराजो गन्तुमिच्छति इत ।

राजा—अपि खेल सलील गमन यस्यः सा सम्बोधने ललितगतिके ! अचिरप्रभाया. विद्युत् विलसितानि अलोकास्तै पताकिना ध्वजयुक्तेषु, कर्मणे कर्मसु व प्रभवति तत्कामुक कर्मणि ठकम् "५-१-१०३" इति सुर-कामुकमिन्द्रधनु तदेवाभिनव चित्र तेन शाल्ते शोभते इति सुरकामुकाभिनव चित्र शालिता, अतएव विमानता विमानरूप गमितेन प्रापितेन नवेन पयोमुञ्च-तीति पयोमुक् मेघेन मा वर्णति वासस्थान नय प्रापय पयोदो विमानस्थानीयः, तदीया विद्युत्-पताका, इन्द्रधनुश्च विमाने आलिखितमिति कल्पना । (इति सर्वे निष्क्रान्ताः रङ्गभूमे. गता)

चतुर्थोऽङ्कः समाप्तः

अनुवाद—राजा—सब ठीक समझ लिया ।

प्रिये ! जो तुम रति श्रीडा मे थककर-दीप्या पर सो जाने पर मुझे परदेश गया-सा मान लेती थी उन्ही तुमने मेरे चिर वियोग को कैसे सहा होगा ? १४१।

अरे, यह जैसा तुमने बताया है, तुम्हारे मिलने की साधन मणि मुनि से पाकर उसके प्रभाव से मैंने तुम्हें पाया है। (मणि दिखाता है)

उर्वशी—अरे संगमनीय ! इसीलिये महाराज के आलिङ्गन करते ही मैं जैसी थी वैसी हो गयी। (मणि लेकर शिर पर रख लेती है)

राजा—सुन्दरि ! क्षण भर इसी तरह खड़ी रहो ! मस्तक पर रखी हुई मणि से फूटकर निकले हुए रग से विन्दुरित (मिलकर) होकर तुम्हारा मुँह प्रातः काल की धूप से रगिन (लाल) कमल की शोभा को धारण कर रहा है।

उर्वशी—प्रतिष्ठान से निकले तुम्हें बहुत समय बीत गया अब मुझसे नाराज हो रहे होंगे। इसलिये आओ, लौट चलें।

राजा—जो आपकी आज्ञा !

उर्वशी—महाराज किस प्रकार जाना चाहते हैं ?

राजा—विजली की चमन की पताका बनाकर, इन्द्र-धनुष के भीतर बनी हुई चित्रकारी का स्थान देकर, हृ मनोरम चालवाली प्रिये ! तुम मुझे वास्तव में विमान से मेर निवास-स्थान को ले चलो। ४३।

(सब चले जाते हैं)

चतुर्थ अंक समाप्त हुआ

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति हृष्टो विदूषकः)

मूलपाठ—विदू०—ही ही भो दिष्टिआ चिरस्स कालस्स उव्वसी-
सहाओ णन्दन-वण-प्पमुहेसु देवदारण्णेषु विहरिअ पडिणिवुत्तो पिअव-
अस्सो । दाणिं ससक्कारोवआरेहिं पकिदीहिं अणुरज्जन्तो रञ्जं करोदि ।
असंताणत्तण वज्जिअण किंवि से हीणं । अज्ज तिहिं विसेसोत्ति भअव-
दीणं गड् गा-जमुणाणं संगमे देवीहिं सह किदाहिसेओ संपदं उवआरिअं
पविट्ठो । ता जाव तत्तभवदो अलं करोअमाणस्स अणुनेवणमत्ते अगभागी
होमि । (इति परिक्रामति) [ही ही भो दिष्ट्या चिरस्य कालस्य उर्वशी
सहायो नन्दनवन-प्रमुखेषु देवतारण्येषु विहृत्य प्रतिनिवृत्तः त्रियवयस्यः ।
इदानीं ससत्-कारोपचारैः प्रकृतिभिरनुगृह्यमानो राज्यं करोति । असन्ता-
नत्वं वर्जयित्वा न किमप्यस्य हीनम् । अद्य तिथिविशेष इति भगवत्यो-
र्गङ्गायमुनयोः संगमे देवीभिः सह कृताभिषेकः साम्प्रतमुपकार्या
प्रविष्टः । तद् यावत् तत्रभवतोऽलंक्रियमाणस्यानुलेपनमाल्ये अग्रभागी
भवामि ।] (इति परिक्रामति)

(नेपथ्ये)

हृष्टो हृष्टो । दुकूलोत्तरच्छदे तालवेष्टाधारे निखिअविअणी-
अमाणो मए भट्टिणो अभन्तर-विलामिणी-मोन्निरअण जोगो मणी
आमिम-सङ्किणा तिध्धेण अखिअत्तो । [हा धिक् ! हा धिक् !
दुकूलोत्तरच्छदे तालवृन्ताधारे निक्षिप्य नीयमानो मया भर्तुरभ्यन्तर-
विलामिनी-मौलिरचन-योग्यो मणिरामिपशङ्किना गृध्रेणाक्षिप्य ।

विदूषक —(आकर्ष्य) अच्चाहिद । परं बहुमदोखु मो वअस्सस्स
संगमणीओणाम चूडामणिः । अदो खु अममत्तणेवछठो तत्तभवं
आसणादो उट्टिअ इदो एव्व आअछठदि । जावण उव्वसण्णामि ।
[अत्याहितम् । पर बहुमतः खलु सवयस्यस्य संगमनीयो नाम चूडामणिः ।
अतः खल्वसमाप्तनेपथ्यस्तत्रभवान्(सनादुत्यायेत) एवागच्छति ।
यावदेनमुपसर्पामि ।]

प्रवेशकः
पञ्चमोऽङ्कः

ठयाख्या—ःदानीं यथास्थान सन्निवेशितान् मुखमन्व्यादिरूपांतरान् समन्वेतु निर्वहणसन्निधगर्भं पञ्चममङ्क प्रारभते कविः । निर्वहणसन्निधलक्षणं च दशरूपके 'बीजवतो मुखारथविप्रकीर्णां यथाययम्-ऐकार्थ्यंमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' इति । तत्राभि म वृथोपन्यासार्थं विदूषक प्रवेश सूचयन्नाह ततः प्रविशतीति । हृष्टः प्रसन्नमनाः । हृप् घातोः क्तः ।

विदू०—ही ही भोः इति आश्चर्ये । दिष्ट्या सौभाग्येन चिरस्य बालस्य बहुकालेन उर्वशीसहाया यस्य स तथाविधउर्वशीसहायः नन्दनवन प्रमुख येषां तेषु नन्दनवनादिकेषु बहुषु देवतारण्येषु देववनेषु विहृत्य विहारं कृत्वा प्रतिनिवृत्तः गृहं प्रत्यागतः प्रियवयस्यः पुरुरवः । इदानीं प्रतिष्ठानागमनानन्तरं स प्रकृतिभिः प्रजाजनैः सत्कारोपचारैः सम्मान-सेवादिक्रियाभिरनुज्यमानः प्रसाद्यमानः राज्यं करोति राज्यकार्याणि पर्यवेक्षते । प्रजास्तस्य सत्कारादिभिर्मनी रञ्जयन्ति । असन्तानत्वं अपत्यहीनता वर्जयित्वा विहाय न किमपि अस्य हीनम् । न सन्तानाहृते कस्याप्यन्यस्य वस्तुनोऽभावः । अद्यनिधिविशेषः पर्वविशेषः कश्चिदिति कृत्वा भगवत्योर्गङ्गायमुनयोः सङ्गमे देवीभिः सह कृतः अभिषेकः स्नानं येन स एव भूत साम्प्रतम उपश्रियत इति उपकारी तस्या पटभवने (tent) प्रविष्टः । तद् यावत्तत्र भवतो वयस्यस्य अलङ्कयत इति अलङ्कयमानः तस्य भूष्यमाणस्य अनुलेपनं च माल्यं चेति अनुलेपनमाल्यं तत्र कुङ्कुमवस्तूरिकायुद्धवंतंद्रव्येषु माल्यादिषु च अप्रभागी प्रथमासोपभोक्ता भवामि । ब्राह्मणत्वाद् वयस्यत्वाच्च विदूषक राजोपभुज्यमानस्य वस्तुनः पूर्वंभागं लभते ।

नेपथ्ये—हाथिगिति कष्टसूचकम् । दुकूलम् उत्तरच्छदो यस्य तस्मिन् दुकूलावृत्ते तालवृन्ताधारे तालवृन्तपत्रे तन्निमित्तपेटियाया वा निक्षिप्य निषाय मया नीयमानः ऊह्यमानो भर्तुः स्वामिनः अम्यन्तर-विलासिन्याः परमप्रियायाः वागन्ताया उर्वस्या मौलिस्तत्र रचनयोग्योभूषणं स्थानीयः धारणयोग्यो धामणिः आमिषं मांसं शङ्कते इति आमिषशङ्की तेन गृध्रेणाक्षितः गृहीतः । रक्तं प्रभा विर्यपुरितःवाग्मांसमिति बुद्ध्या गृध्रेण गृहीतो ।

मानलङ्कारः ।

विदू०—(आकण्ड) अत्याहितम्हद् भय महान्त्यो वा । परबहुमतः
अत्यादरपान न वयस्यस्य सगमनीयो नाम चूडामणिः । अत एतु न समाप्त
नेपथ्य वेगरचना येन सोऽर्हृत्सबल परिधान तत्र भवान राजा आसताद्
उत्थाय इतोऽस्यादिसि एवागच्छति । यावद् एन उपसर्पामि अस्य निवट
गच्छामि । इतिनिष्प्रान्त । प्रवेशक लक्षण मूक्त प्रागेव ।

अनुवाद—(आनन्द मग्न विदूषक प्रवेश करता है)

विदू०—हा हा ! मेरा प्यारा वयस्य उर्वशी के साथ नन्दन आदि
देववनो में चिरकाल तक बिहार करके सौभाग्य से लौट आया है और
अब प्रजा द्वारा सम्मानसूचक उपहारो से अनुरजित हाकर राज्य कर रहा
है । एक सन्तानहीनता को छोड़कर उसके पास और किसी बात की कमी
नहीं है । आज विशेष पर्व होन के कारण भगवती गंगा-यमुना के सगम पर
रानियो के साथ स्नान करके इस समय रावटी (तम्बू) के भीतर चला गया
है । तो जब तक वे वस्त्राभूषण पहनते हैं तब तक मैं भी उनके (लिये तैयार
किये गये) अनुलेपन (मुगन्धित तेल आदि) और माल्य (पुष्पादि) में अग्रिम
भाग ग्रहण करूँ । (चलता है)

(नेपथ्य में) हाय हाय ! स्वामी की अन्तरग वाता के सिर पर सजाने
योग्य मणि को, जिसे मैं ताडपत्र की पिटारी में रेशमी बसन ऊपर से टक कर
लिये जा रहा था, एक गिद्ध ने मास समझ कर भपट लिया ।

विदू०—(मुन कर) बडा बुरा हुआ । उस सगमनीय नाम के चूडामणि का
तो मेरे प्रिय मित्र बडा आदर करत हैं । इसलिये व वस्त्राभूषण का पूरो
तरह बिना पहने आनन ने उठ कर इधर ही आ रहे हैं । तो इनके पास चलूँ ।
(यह प्रवेशक हुआ)

टिप्पणी—नन्दनवन प्रमुखेषु—नन्दयतीति नन्दनम् । 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो
ल्युणिन्यच्' सूत्र ने नन्द घातु के आगे ल्यु (यु) प्रत्यय हुआ और
"युवोरनाको" ने यु का अन् अदेश । नन्दन वन प्रमुख येषा तानि नन्दनवन
प्रमुखानि तेषु । यहाँ इन्द्रवन से नहीं, अपितु गन्धमादन पर्वत के उपवनो से
आशय है ।

दुकूलोत्तरच्छदे—दुकूलम् उत्तरच्छदो यस्य तस्मिन् । अम्यन्तर...योग्यः—
अम्यन्तर विलासिन्याः मौलिः । तस्मिन् रचने योग्यः । प्रियतम कान्ता के
मस्तक पर पहनने के योग्य ।

आमिपशङ्किता—आमिप शङ्कते इति आमिपशङ्की तेन । मास की शङ्का
करने वाला ।

अममाप्तनेपथ्यः—न समाप्त नेपथ्यं (वेशादि प्रस्तावन) यस्य सः ।

प्रवेशक.—प्रवेशक की परिमाया पीछे दी जा चुकी है ।

मूलपाठ—(तत प्रविशति सावेग परिजनो राजा)

राजा—आत्मनो वधमाहर्ता कामो विहृग तस्करः ।

येन तत्प्रथमं स्तेय गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥१॥

किराती—एनो एनो खु मुह कोडि-लग-हेम सुतेण मणिणा
आलिहन्तो विअभाभामं पडिभमदि । [एए एए खलु मुव कोटि लग
हेमसूत्रेण मणिना आलिख्निवाकाश परिभ्रमति]

राजा—पश्याम्येनम्—

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मणिना खग ।
अशोकस्तवकेनव दिङ्मुखस्यावतंसकम् ।३।

(प्रविश्य चापहस्ता यवनी)

व्याख्या—तत इति—आवेगेन क्षोभेण सहितः परिजनो यस्य तादृशो राजा प्रविशति रङ्गभूमौ । राज्ञः परिवारो मणिनाश-नदन्वेषणजन्य चिन्ता व्यग्रता युक्तः ।

राजा—आत्मनइति—आत्मनः स्वस्य वध मणिरूपन् आहर्ता बोद्धा असौ विहगश्चासौ तत्करोतीति तस्कर इति विहग तस्करः पक्षि चोरः क ? (अस्ति) येन तन् प्रथम यस्य तदिति तत्प्रथम बहुव्रीहिः यमास तत्पूर्वं स्तेय स्तेनस्य भाव. वमं वा, चौर्यं गोप्तुः वट्टमूल्यघन सरसवस्य ममैव गृह कृतम् । आहर्ता इति आपूर्ववाद् हृषातो. “तृन्” (३-२-१३५) इति “तद्धर्म तच्छल तत्पाधुकारिषु” (३-२-१३४) अर्थेषु तृन् प्रत्यस्तेन ‘कृत्’ कर्मणा कृति’ (२-३-६५) इति पठो न ‘नलावाध्यनिष्ठा खलर्यंतृनामि’ इति (२-३-६९) निषेधात् । वधस्य मणिनादात्म्यादत्र एकालङ्कारः तस्मिन् काल मणिचाराय मृत्युदण्डस्यविधिरासीदित्यपि स्पष्टम् । तत्प्रथम स्तेयमित्येन व्यज्यते यत् गृहण प्रथमवारमेवचौर्यं कृतमन्यथा राज्ञो दण्डस्या प्रतिहततया स पूर्वमेव वधमप्राप्तयत् । अनुष्टुब् वृत्तम् ।१।

किराती—एष एष प्रसक्त हृदयमानः खलु मुखस्य कोटिरग्रभागस्तत्र लग्नं हेमसूत्र सुवर्णसूत्र यस्य तादृशेन मणिना आकाशम् आलिखन् इव परिग्रमति । हेमसूत्र मुखेन धारयन् रागमयेन मणिना चित्रमिवाल्लिखन्नाकाशे पश्यंति ।

राजा—पश्याम्यैनम् । अमाविति—मुखे आलम्बित गृहीत हेमसूत्र कनक-मय डोरक यस्य त मणि विग्रन् धारयन् मण्डलेन चारः मण्डलाकारगमन तत्र शीघ्र त्वरितवेग. क्षिप्रगत्या मण्डलाकारमुत्पतन् अशौ विद्मः अलातस्य ज्वलत्काष्ठस्य चक्र तेन प्रतिमा उपमाज्यस्य सोज्ज्वाल चक्रप्रतिभः अमित-ज्वलत्काष्ठ सम प्रभः स, तस्यमणेः रागस्तद्भागस्तस्य रेखाः तासा तन्निमित्तो वा वलय’ इति तद्भागरेखा वलयस्त तनोति विस्तारयति । उपजाति वृत्तम् ।२।

किं नु खलुकर्तव्यं येन मणिनेप्यते ।

दुकूलोत्तरच्छदे—दुकूलम् उत्तरच्छदो यस्य तस्मिन् । अम्यन्तर...योग्यः—
अम्यन्तर विलासिन्याः मीलिः । तस्मिन् रचने योग्यः । प्रियतम कान्ता के
मस्तक पर पहनने के योग्य ।

आमिपशङ्किना—आमिप शङ्कने इति आमिपशङ्को तेन । मास की सङ्का
करने वाला ।

अममाप्तनेपथर.—न समाप्त नेपथ्यं (वेशादि प्रसाधन) यस्य सः ।

प्रवेशक.—प्रवेशक की परिभाषा पीछे दी जा चुकी है ।

मूलपाठ—(तत्र प्रविशति सावेग परिजनो राजा)

राजा—आत्मनो वधमाहर्ता कामौ विहग तस्करः ।

येन तत्प्रथमं स्तेयं गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥१॥

किराती—एनो एनो नु मुह-कोडि-लाग-हेम-सुतेग मणिणा
आलिहन्तो विअप्राभ्रामं पडिम्ममदि । [एए एए खलु मुव कोटि सग
हेममूत्रेण मणिना आनिग्गशिवावाश परिध्रमति]

राजा—पद्माम्येतम्—

अमी मुपालभ्येन हेम-मूत्रं
विध्रन् मणि मण्डल चार शीघ्र ।
अलाव-वृष्ट प्रनिमं विहृष्ट स
तद्राग रेणा उलयं तनोति ॥२॥

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मणिना खगः । -
अशोकस्तवकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम् ।३।

(प्रविश्य चापहस्ता यवनी)

व्याख्या—तत इति—आवेगेन क्षोभेण सहितः परिजनो यस्य तादृशो राजा प्रविशति रङ्गभूमौ । राज्ञः परिवारो मणिनाश-तदन्वेषणजन्य चिन्ता व्यग्रता युक्तः ।

राजा—आत्मनइति—आत्मनः स्वस्य वध मणिरूपम् आहर्ता वीडा असौ विहगश्चासौ तत्करोतीति तत्कर इति विहग तत्करः पक्षि चोरः क ? (अस्ति) येन तत् प्रथम यस्य तदिति तत्प्रथम बहुव्रीहिः समास तत्पूर्वं स्तेय स्तेनस्य भावः कर्म वा, चीर्यं गोप्तुः बहुमूल्यघन सरक्षकस्य ममैव गृहे कृतम् । आहर्ता इति आपूर्वकाद् हुधातोः “तृन्” (३-२-१३५) इति “तद्धर्मं तच्छील तत्साधुकारिणु” (३-२-१३४) अर्थेषु तृन् प्रत्यस्तेन ‘कृतं कर्मणो कृति’ (२-३-६५) इति पठौ न ‘नलाकाव्यनिष्ठा खलर्यंतृनामि’ इति (२-३-६९) नियेधात् । वधस्य मणितादात्म्यादत्र रूपबालङ्कारः तस्मिन् काले मणिचोराय मृत्युदण्डस्यविधिरासीदित्यपि स्पष्टम् । तत्प्रथम स्तेयमित्येन व्यज्यते यत् गृह्णेण प्रथमवारमेवचीर्यं कृतमन्यथा राज्ञो दण्डस्या प्रतिहततया स पूर्वमेव वधमप्राप्स्यत् । अनुष्टुप् वृत्तम् । १।

किराती—एष एष प्रक्ष दृश्यमानः खलु मुखस्य कोटिरग्रभागस्तत्र लर्गं हेमसूत्र सुवर्णसूत्र यस्य तादृशेन मणिना आकाशम् आलिखन् इव परिभ्रमति । हेमसूत्र मुखेन धारयन् रागमयेन मणिना चित्रमिवालिखन्नाकाशे पर्यटति ।

राजा—पश्याभ्यैनम् । असाविति—मुखे आलम्बित गृहीत हेमसूत्र कनकमय डोरक यस्य त मणि विग्रन् धारयन् मण्डलेन चारः मण्डलाकारगमन तत्र शीघ्र. त्वरितवेगः क्षिप्रगत्या मण्डलाकारमुत्पतन् असौ विहगः अलातस्य ज्वलत्काष्ठस्य चक्र तेन प्रतिमा उपमाप्रस्य सोऽलात चक्रप्रतिमः भ्रमित-ज्वलत्काष्ठ सम प्रभः त, तस्यमणेः रागस्तद्भागस्तस्य रेखाः तासा तन्निर्मितो वा वलयः इति तदागरेखा वलयस्त तनोति विस्तारयति । उपजाति वृत्तम् । २।

किं नु खलुकर्तव्य येन मणिर्लुप्यते ।

विदू०—(उपत्य राज्ञ समीपमागम्य) अलमत्रघृणया कृपया । अपराधी शासनीय दण्डनीय ।

राजा—नम्यगुचितमेवाह उक्तवान् भवान् । धनुषनुर्भे उपनीयता तावत् ।

(निष्क्रान्ता राज्ञो वचनमाकर्ण्य धनुरानेतु यवनी परिवारिका मन्त्राद् बहिगता ।)

राजा—वयस्य न दृश्यते विहङ्ग चोरपत्नी ।

विदू०—इतोऽस्मात् स्थानात् दक्षिणान्तेन दक्षिणदिशाया अगत पलायित स शासनीयो दण्ड्य कुणपभोजन कुणप शबोमृतशरीर भोजन यस्य स मत्तमासाद पक्षी शृणु ।

राजा—(परिवृ य दृष्टि परावृ य दक्षिणस्या दिग्निनिर्गन् अवलोक्य मणि हरत पणिणम्) दृष्ट इदानीम् ।

प्रभेति—असौ खग प्रभया सत्या पल्लवितेन विस्तृतेन अशोकस्य स्तवक गुच्छस्तेन इव मणिना दिग्मुक्तस्य शिगामुक्तस्य अवनसरु कगभूषण कराति । अगोक्तगुच्छवद रक्तवर्णेन मणिना दिक्त्वा मुखमवतसयतिव लक्ष्यतेऽप्य खग । अत्रनामक खा दिगा च वदू म गश्च कगभूषणम् । उ प्रक्षाण्डकार । अगोक्तस्तवकेन यत्राममा च । अनुष्टुब वृत्तम् । ३

(प्रविश्य चाप हस्त यस्या सा तादृशी यवनी परिवारिका)

अनुवाद—(घबराय से परिजनो के साथ राजा आता है)

राजा—स्वय अनी हया का बुलाने वाला वह चार पत्नी कहाँ है जिसने यह पहला पहला चोरी रक्षक के ही घर में की है ?

किराती—मणि (के पिराने) का सोने का घागा मुह क अगले भाग में गटकाय हुए मणि स आकाश में रेकारों की लावना का यह-यह घूम रहा है ।

राजा—रहा है इस—

यह मणि का जिसको घाने की जतीर इसके मुख में लटकी हुयी है लिये रूप जल्दी जल्दी चनाकार घूम रहा है और जन्ता हुयी लकड़ी के लूके

सा दिखने वाला, मणि के रंग की रेखा का (लाल) गोला-सा बना रहा है।
तो क्या किया जाय ?

विद्व०—(पास आकर) इस पर दया न कीजिये। अनराधी को दण्ड देना उचित है।

राजा—आपने ठीक कहा। धनुष, धनुष (तो लाओ) (धनुष पकड़ने वाली यवनी बाहर जाती है।)

राजा—मित्र ! पक्षी दिखाई नहीं देता।

विद्व०—वह दण्ड्यांग्य मुर्दाखोर दक्षिण की ओर निकल गया।

राजा—(मुडकर, देवकर) अब दिख गया।

फूटती हुई प्रभा से पल्लव-युक्त-सो दिवने वाली मणि लिये यह पक्षी ऐसा लग रहा है जैसे अशोक के गुच्छे के वर्णफूल दिशा के मुख में पहना रहा हो। (हाथ में धनुष लिये हुये यवनी प्रवेश करती है)

टिप्पणो—वधमाहर्ता—आ + ह + तृन् । 'तञ्जोल, नद्धर्म, त सा-चुकारिपु' इन अर्थों में हू घानु से तृन् प्रत्यय हुआ है। इसादिभ्ये 'कृ'कर्मणोः वृत्ति' सूत्र से डमकं कर्म 'वधम्' में पड़ी नहीं होती क्योंकि 'नलोकाभ्यय निष्ठा खल्यंतृनाम्' सूत्र से उसका निषेध हो जाता है।

विहगनन्करः—न करोतीति नस्वरः। त् को स् हो जाना है। विहग-श्चासौ तस्वर इति विहगनस्वः।

स्तेयम्—स्तेनस्य (चोरस्य) भाव. कर्मवा स्तेयन्।

आलिखन्निव—यहां उत्प्रेक्षालकार है।

मुखा...सूत्रम्—मुखे आलम्बित हेमसूत्र यस्य सः। तम्

मण्डलचारशीघ्रः—मण्डलेन चारः इति मण्डलचारः तेन शीघ्रः (क्षिप्रचारी)।

अलातचक्रप्रतिमम्—अलातस्य चक्रमिति अलातचक्रम्, तेन प्रतिमा यस्य। तद् यथा स्यात्तथा। न लात (गृहण) यस्य-तद् अलातम्।

धनुर्ग्राहिणी—धनुः गृह्णातीति धनुर्ग्राहिणी (यवनी) देखिये शाकु० (२) १५ चापहस्ताभियं वनीभिः।

प्रभापल्लवितेन—प्रभया पल्लवितः (विस्तृतः) इति प्रभापल्लवितः तेन।

कुणपभोजनः—कुणपं (मृत-मासम्) मूढक्ते इति ! घृणादोषक विरोपण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है ।

अवतंसकम्—अवतसयतीति अवतसवम् । कर्णाभूषण ।

मूलपाठ—यवनी—भट्टा एदं हृथ्यावाव-सहिदं सरासण । [भर्तः एतद् हस्तावाप-सहितं शरासनम्]

राजा—किमिदानी धनुषा । वाणपथमतीतः क्रव्यभोजनः । तथाहि—
आभाति मणिविशेषो दूरमिदानी पतत्रिजानीतः ।

नवतमिव लोहिताङ्गः पस्प-घनच्छेद-सयुक्तः ॥४॥

(कञ्चुकिन विलोचय) लातव्य मद्वचनानुच्यता नागरिकः । सायं निवास वृक्षाश्रयो विचोयता विहग दस्युरिति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

विदू०—उवविसदुभवं संपदं । कहि गदो रअण-कुम्भीलओ भवदो सासणादो मुच्चिस्तदि । [उपविशतु भवान् साम्प्रतम् । क गतः रत्नकुम्भीरको भवत. शापनान्मोक्षयते] (इत्युपविशतः)

राजा—वयस्य !

रत्नमिति नमे तस्मिन् मणौ प्रयासो विहङ्गमोत्क्षिप्ते ।

प्रियमानेनास्मि सखे संगमनीयेन संगमितः ।५।

विदू०—णं परिगदथ्यो हिम किदो भवदा । [ननु परिगतार्थोऽस्मि कृती भवता]

(ततः प्रविशति सशरं मणिमादाय कञ्चुकी)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः

अनेन निर्भिन्न तनुः स वध्यो

वलेव ते मार्गणता गतेन ।

प्राप्यापराघोचितमन्तरिक्षात्

समोलिरत्नः पतितः पतत्रौ ।६।

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति)

यवनी—भतं: स्वामिन् एतद् हस्तावापिन कररत्नकेन परिधानेन सहित सरा
बक्ष्मन्ने क्षिप्यन्ते अनन्तेति शरासन धनुः । उनीनसिति शेषः । हस्तावापस्तु
व्याघातवारण साधन धनुर्घोरिभिः हस्तेधारित भवति ।

कालिदानकाले यवन्य. (Iranian girls) परिचारिकाः अन्तःपुरे नियुक्त
भवन्ति च म । ताश्च राज्ञो धनुस्सनयनार्थं व्यापृताः शाकुन्तेऽशुपलम्यन्ते ।
“एष वागासन हस्ताभिर्यंत्रिभिः...” शाकु० २ । एता धनुर्घोरिभ्यः परि-
चारिका विन्सनमतेन तानारदेगोषा वैकिट्टयावासिन्यो वा आसन् ।

राजा—त्रिमिदानीं धनुषा । न धनुषा कोऽपिलाम इदानीं विलम्बो
चातः । तन्नमरु मास तद्मुहुने इति तन्न भोजनः पिसितादः क्षमः वाणस्य
पन्थाः इति वाणस्यस्य वागाघातभेदेतनीन. अतिक्रान्तवान् । “ऋहूरव्भू
ययामानसे” (५-४-७४) इत्यन्तादयवः अ प्रत्ययः । तथाहि—

आभातीति—पतत्रिणा पतत्रे पशौ स्त यस्य सप्तत्री तेन पक्षिणा इदानीं
दूर नीत मणिद्विजय उ कृ-शे मणि नक्तं रात्रौ पक्ष्याणा अवेरलाना घनाना
छेदेषु खण्डेषु सन्वृक्त. समुक्ता लोहिताङ्गः मगग्रह इवाभाति राजते ।
लोहितनङ्ग यन् स लोहिताङ्गो भौतः । भौतो रक्तवर्णं नक्षत्रम् मणिरपि
रक्तवर्णः । गृत्रस्य घनपक्षयोर्मध्ये मणिस्तथैवराति यथा परिणतमेघ मध्ये
मगग्रह शोभते । उनमालद्वारः । आर्याजातिः । ४।

(कञ्चुकिन विलास्य) लातन्य इति कञ्चुकिनाम मद्बचनाद् ममाज्ञया
उच्चता विज्ञाप्यता नागरिकः नगरे नियुक्त रक्षाविधानार्थं राग्नाधिकृतः
पुरुष नायनिवास वृक्षमाश्रयतीति निवासवृक्षाश्रयो वासाय वृक्षमाश्रितवान्
विहागश्चासौ दस्युरिति पक्षि चोरो विचोयतामन्विष्यताम् इति ।

कञ्चुको—यदाज्ञानयति देव स्वामी तथैव करिष्ये ।

विदू०—उपविशतु विश्राम्यतु भवान् साम्प्रतन् । कः गतः कुत्रात्मानं
सगोपयन् रत्नस्य कुम्भीरकः चोरः भवनः शासनाद् दण्डाद् आत्मान मोक्ष्यते
मोक्षयितुं शक्यते । अनेन राज्ञः सर्वत्राप्यन्वेलित शासन व्यप्यते । (इति
उपविशतः)

राजा—वयम् । रत्नमिति—विहङ्गमेव पक्षिणा उनीन ते उनीते तस्मिन्
मयो रत्न महार्थं वस्तु इति कृत्वा मे प्रयासा विचेतु प्रयत्नो न । सखे तेन

संगमनीयेन नाम्ना मणिना प्रियया रागमितो मेलितोऽस्मि । तेनैव मणिना सहायेन मे प्रियया सगमो विहित इति वारणेन मे तस्मिन्नादरः । आर्याजातिः । १५।

विद्व०—ननु परिगतः स्म्यज्ञात. अर्थो धरय स सादृशः कृतोऽस्मि भन्ता ।
(तत प्रविरति शरेण वाणेन सहित मणिम् आदाय वञ्चुकी लानयः)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः !

अनेनेति—यवमर्हतीति वध्य स पतत्री विहग मार्गणतावाणत्वत्तेन प्राप्तेन ते बलेन शकस्या निभिन्ना सनुयंस्य स भिन्नवेहः सन् प्राक्षत्रासी अपराधः इति प्राप्तापराधस्तत्र उचित योग्य यथास्यात्तथा मौलिरत्नेन संगमनीयेन मणिना सह इति समौलि रत्नः पतितः । अत्र च खगे वाणेन हृतेऽपि बलस्य तद्हेतुत्ववर्णनात् असम्बन्धेऽपि सम्बन्धदर्शनादतिशयोक्तिः लङ्कारः । आर्या जातिः । १६। (सर्वे विस्मयमाश्चर्यं रूपयन्ति प्रदर्शयन्ति)

अनुवाद—यवनी—स्थामिन्, यह रहा हस्त-वाण के सहित धनुष ।

राजा—अब धनुष से क्या लाभ ? वह मास-भोजी तो वाण की पट्ट के घाहर निकल गया और अब पक्षी द्वारा दूर ले जाया गया वह विशिष्ट मणि ऐसा दिखायी दे रहा है जैसे रात में घने मेघ रूण्डों से युक्त मगल नक्षत्र हो ।

(कञ्चुकी को देखकर) लातव्य, मेरी ओर से नगरपाल से वह दो वि सायकाल निवास-वृक्ष का आश्रय लेने पर उस चोर-पक्षी को पकड़ लें ।

कञ्चुकी—जो आप की आज्ञा (चला जाता है)

विद्व०—अभी तो आप बैठिये । वह रत्न का चोर कहीं जाकर आपके दण्ड से छूट सकेगा ? (दोनों बैठ जाते हैं)

राजा—मित्र ! पक्षी के द्वारा उड़ाये हुये उस मणि के विषय में मेरा यह प्रयास इसलिये नहीं है कि वह रत्न है । सखे ! उस संगमनीय ने मुझे प्रिया से मिलाया है ।

विद्व०—आपने वास्तविक बात से परिचित करा दिया ।

(तब कञ्चुकी वाण के सहित मणि को लेकर आता है)

कञ्चुकी—जय हो, जय हो महाराज की !

आपकी शक्ति ने ही वाप का रूप लेकर इस वष्य पक्षी की देह का वेष डाला है और यह पक्षी अपराध के योग्य (दण्ड) पाकर गिरो-रत्न के नाप अन्तरिक्ष से (नीचे) गिर गया है। ६। (सब आश्चर्य प्रदर्शित करते हैं।)

टिप्पणी—हस्तावापसहितम्—घनुष चटाने पर प्रत्यक्षा की रगड में उंगलियाँ छिल जाती हैं। उसमें रक्षा के लिये हाथ में हस्तावाप (arm guard) पहना जाता है।

शरासनम्—शराः जस्वन्नेजेन इति शरासनम् । जश्वा शरापान् आसनम् ।

वाणशयम्—वापस्य पन्थाः इति वाणशयम् । 'वृक्षूरु-धू-पथानान्ते' मूत्र में समागन्त अर् प्राप्य होकर टि का लोप होने में अवसरान् 'पय' बन जाता है।

पनत्रिणा—पन्न वाग्ने इति पनत्रम् । पनये जस्य म्नः इति पनत्रो (पक्षी)

लोहिताङ्ग—ओहित (रक्तवर्णम्) अङ्ग यस्य सः । मगल ग्रह ।
परप-धनच्छेद-समुत्तन.—परपः (पूरी तरह पिरा-भोटा) यः धनस्य छेद. (खण्ड) तेन समुत्तः ।

नागरिक—नगरे नियुक्तः (रक्षा-वायोर्धम्) इति । पुत्रिड का गहर बोनवाड ।

समीलिरत्न—सौत्री मां० वा रत्नम् इति मौलिरत्नम् । तेन सहितः ।

मूलराठ—वज्रुकी—अग्नि. प्रक्षालितो मणिः कस्मै प्रदीयताम् ।

राजा—किराति ! अग्निगुट्टमेयं कृत्वा पेटवं प्रवेशय ।

किराती—जं भट्टा आपवेदि । [यद् भतां आज्ञास्वनि] (इति मणि पृष्टीत्वा निष्चान्ता)

राजा—तानय ! अपि जानीने भवान् कस्यायं वाण इति ।

वज्रुकी—नामाद्धितो दृश्यते । न तु मे वर्गविचारक्षमादृष्टिः ।

राजा—तेन ह्युपनय शरम् ।

(वज्रुकी तथा वनोति । राजा नामाक्षराधनुषाच्च, नापत्यता ह्यस्वनि)

कञ्चुकी—यावन्नियोगमन्व्यं करोमि । (इतिनिष्क्रान्तः)

विदू०—किं भवं विधादेति । [किं भवान् विधास्यति]

राजा—शृणु तावत् प्रहृतुर्नामाक्षरानि । (वाचयति)

उर्वशीर्गर्भदायादमैतन्मूर्त्तुर्भूत ।

कुमारस्यापुपो बाल प्रहृतुर्द्विपदापुराम् ॥३॥

विदू०—(गपरितोषम्) दिष्टिआ मत्तानेन वडइदि भवं । [दिष्टिआ मत्तानेन कर्षंते भवान्]

राजा—सखे कथमेतत् । घञ्चन नैमिषेय मन्त्राद्विपुषांऽहमुर्वशा ।

न च मया गर्भंश्चित्ररासक्षिता । कुत एव प्रभूतिः । किं तु—

आविन पवोषरागुलवसोदल-यागदुराननवडायम् ।

स्तानि दिनानि यपरभून् केवलमलमेधना कम्पाः ॥५॥

व्याख्या—कञ्चुकी—कञ्चुकी संवत्सुते मीनेः कञ्चुः यत्र प्रधासितं सप्तमं वसु प्रदीयताम् ।

राजा—किराति ! किरं पर्यन्तमूमिभवीति किरति शरानिति वा किराती तत् संबुद्धौ एतं मन्त्रम् अभिज्ञता गृह्णन्तिरग्निगृह्णन् कृशा पेटव मञ्जुकी प्रवेक्ष्य ।

किराती—यद् भवति स्वामी भासायति तदनुकारेण पेटिका प्रवेक्ष्य विप्यामि । (मणि गृहीत्वा निष्क्रान्ता)

राजा—जानम्य अरि जानाते भवान् कथय बाल इति । कस्य वरोन निहतोऽयं पक्षी ।

कञ्चुकी—वाणस्तु नाम्ना अद्भुतश्चित्तितो दृश्यते पर वृत्तत्वात् मे इष्टिः वर्णानो विचारं विभावनं तत्र क्षमासक्तान् ।

राजा—तेन तत्र वर्णविचाराक्षमत्वेन शरम् उपनय ममक्षयीपनाय ।

(कञ्चुकी तथा करोति वाणमुपनयति । राजा नाश्रोत्रराशि अनुवाच्य पठित्वा आत्मनः सापरत्यता न पतन्ति पितरो येनेयस्य तेन अह इति सापरत्यस्तस्यभावस्ता रूपयति प्रकटयति)

कञ्चुकी—यावत्नियोगमाज्ञां असूय्य करोमि अनुतिष्ठामि । (इति-निष्क्रान्तः)

विदू०—राजान विचारमग्न दृष्ट्वा पृच्छति—भवान् किं विचारयति ?

राजा—शृणु तावत् प्रहर्तुः पक्षिण उपरि वाणस्य क्षेपुर्नाम्न अधराणि ।
(वाचयति वाणोत्कीर्णान्यधराणि पठति)

उर्वशीति—अय उर्वश्याः सभवो जन्म यस्य स तस्य उर्वशी जातस्य ऐतस्य
पुत्रवत्सः सूनु पुत्रस्तस्य घनुविभर्तीति घनुभृत् तस्य द्विपन्ति द्रुह्यन्तीति
द्विपन्तः तेषां आयूः पितृ इति तेषां शत्रुप्राणानां प्रहर्तुर्नामिवरय कुमारस्य आयुष
एतन्नामवरय वाणोऽस्ति । इला पुररदसो माताऽऽसीत् । अनुष्टुप्चतुष्टुम् । ७।

विदू०—(परितोषेण हर्षेण सहितम्) दिष्ट्या सौभाग्येन भवान् सतानेन
स तस्यते बृहस्पतेन सतनंति वा बृहस्पति सतानरतेन भवान् वधते । पूर्वत्र
दिदूषणे णोक्तमासीद् यद्वाज्ञा स्तानहीन इत्येव दुःस्वप्नम् । साम्प्रत सन्तान-
मभिप्रेत्य तस्य परितोषः स्वाभाविक एव ।

राजा—सखे कथमेतत् । कथमुर्वश्या सन्तानोत्पत्तिः सम्भवति । नैमिषेय
निमिषायामरण्याभ्यां भव नैमिषेयं सत्र तस्मादभ्यत्र तमृते अहमुर्वश्या
अधियुक्तः । एक नैमिषारण्यं सत्रवर्जयित्वा सर्वत्राह द्वियया भद्रैवासम् । न च
मया गर्भस्य व्यक्तिः उपस्थितिलक्षणानि उपलक्षिता दृष्टा कुत एव प्रसूतिः
प्रसवः । यदागर्भस्यैव चिह्नानि नादत्तं तदा प्रसवस्य तु का कथा ।

नैमिषं नामारण्यं पुरा ऋषीणां वासस्थलमासीत् । तत्र देहवो यज्ञाः प्रति-
पादिताः आसन् नृपतिभिः । अथैव शौतिराविरभधद् यो महाभारतं प्रोक्तवान् ।
सत्रं तु चतुर्दशदिनान्यारभ्य षण्मासान्तं भवति । यत्रशोधिनो यज्ञमानं पत्नी
विनैकाकी अश्वरथालया यागममाप्तिपर्यन्तं निवसति । तेन सत्रकाले राज्ञः
प्रियाविह्वित्स्थितिवर्णिता । साम्प्रतं किञ्चित् स्मरन् कथयति राजा-किन्तु ।

आविलेति—तानि दिनानि तेषु दिनेषु तस्या ययुः शरीरं आविले कृष्णे
पर्योपरयोरप्रे कोटीं चूचुबे यस्मिन् तत् कृष्णं चूचुक्म, लवलीलतां विरोष
रन्द् वत् पाण्डुरां सितां आननस्य मुखस्य छायां वासितः यस्मिन् तत् आपाण्डु
मुखसोभम् बेवलम् अलमे ईक्षणे यस्मिन् तत् शिथिलं दृष्टिः अभूत् । गर्भं
चिह्नान्येतानि ।

अनुवाद—कञ्चुकी—मणि का पानी से धा डाला है। यह किसे दे दिया जाय ?

राजा—किराति ! इसे आग में शुद्ध करने पेटी में डाल दो।

किराती—जो आपको आज्ञा। (मणि को लहर चली जाती है)

राजा—लातव्य ! क्या आपको मालूम है कि यह किसका वाण है ?

कञ्चुकी—नामालिङ्गित (नामालिङ्गा) दिखता है किन्तु मेरी दृष्टि वणों की पहचान नहीं कर पा रही है।

राजा—ता वाण मेरे पास लाओ।

(कञ्चुकी बैसा करता है। राजा नाम के अक्षरों को पढ़कर स्वयं को पुत्रवान् प्रदर्शित करता है)

कञ्चुकी—मैं तब तक आदेश-कार्यों को पूरा करूँ। (जाता है)

विदू०—आप क्या सोच रहे हैं ?

राजा—प्रहार करने वाले के नाम के अक्षर मुझे। (पढ़ता है)

शनुआ के जीवन पर प्रहार करने वाले, उर्वशी से उत्पन्न, ऐल के पुत्र धर्तुरी कुमार आयुष का यह वाण है। ७।

विदू०—(हृष के साथ) भाग्य से आप पुत्रवान बन गये हैं।

राजा—मित्र यह कैसे ? एक नैमिष के सत्र को छोड़कर और कहीं तो मैं उर्वशी से अलग नहीं रहा। मैंने उसने गर्भ के लक्षण नहीं देखे। सतान कहीं से होगी ? किन्तु—

उन दिनों उमरे शरीर में स्वता वः आज्ञा भाग ज्यादा काला पड़ गया था, मुख की कानि लवरी लता के रतो की तरह पाली हो गयी थी और आँखें अलसायी-अलसायी थीं।

टिप्पणी—किराती—किराती (पुत्रान् भूम्याम्) अन्ति इति किराती। अथवा किरति शरान् इति।

वण विचार-क्षमा—वर्णानां विचारः, तत्र क्षमा। अक्षरों को परखने या पहचानने योग्य।

सापत्यताम्—नरनन्ति (पितरा) येन तदा यम्। तत्र महितं सत्य-स्तस्य भाव सापत्यता ताम्।

विदू०--(विलोचय) किं ण खलु सो एसो तत्तभवं खत्तिअ-कुमारओ
जसस णामङ्कितो गिध्धलखरा-मेढो अध्धणाराओ । तह बहुकरं भवन्तं
अणुकरेदि । [किं न खलु स एप तनभवान् क्षत्रियकुमारको यस्य
नामाङ्कितो गृध्र-लक्ष्य-वेधो अर्धनाराचः । तथा बहुतरं भवन्तमनु-
करोति]

राजा--स्यादेवम् । अतः खलु--

वाप्पायते निपतितो मम दृष्टिरस्मिन्
वात्सल्यवन्धि हृदयं मनसः प्रसादः ।
संजात वेपथुभिरुज्जिन-धैर्यं-वृत्ति-
रिच्छामि चैनमदर्यं परिरब्धुमङ्गैः ॥६॥

ध्याख्या--विदू०--मा भवान् सर्वं मानुषीणां घर्मं गर्भचिह्नादिकं
दिव्यासु विवि भद्रासु संभावयतु । दिव्यारवात् तरया मानुषं दत्त्वं न संभवति ।
तासां दिव्यानां चरितानि कार्यणि प्रभावेण दिव्यशक्त्या निपूढानि अव्यक्तानि
भवन्ति । तेन गर्भव्यक्त्यभावेऽपि तस्याः प्रसव-संभवः ।

राजा--अस्तु तावदेवं यथा भवानाह । पुत्रसवरणे पृत्रजन्मगोपने किं
कारणं तत्र भवत्याः ।

विदू०--मा वृथा पुत्रजन्मना हृतयौवना राजा परिहरिष्यति उपेक्षिष्यते
इति कारणेन तया पुत्रजन्म न प्रकटितम् ।

राजा--परिहासेन कृत परिहासो न कार्यः । पुत्र सवरणे कारणं
किञ्चिच्चिन्त्यताम् ।

विदू०--को देवतानां रहस्यानि मर्माणि तर्कयिष्यति अनुमानेन ज्ञातुं
शक्यति ।

कञ्चुकी--जयतु जयतु देवः वर्तता देव सर्वोत्कृष्टोऽपि । देव च्यवनस्य
एतन्नाम ऋषेराश्रमात् कुमारं दृष्ट्वा तापसीं प्राप्ता समागता । च्यवनस्य
घर्षणं सर्वतः पूर्वम्-वदेः रिदने दृष्टे लभ्यते । अस्मिन्ना तरमपुनर्यौवनं प्रदत्तम् ।
महाभारतेऽपि च्यवन सुवन्ययोः कथा विद्यते । सादेवं भवतः द्रष्टुमिच्छति ।

राजा--उभय तापसी कुमार च अविलम्बित शीघ्रं प्रवेशय ।

कञ्चुकी—जदानापयति देवः । (निष्कम्ब बहिर्गत्वा चाप हस्ते यस्य
सेन दृष्टीतघनुप कुमारेण तापस्या च मह प्रदिप्सः पुनरागतः)
कञ्चुकी—इत इतो देवो अनेन मार्गोपाग द्यु । (सर्वे परिश्रान्ति गच्छन्ति)

विदू०—(विलोक्य) किम्ब स एव क्षत्रियकुमारो यस्य नान्ना अद्भुतः
लक्ष्य विध्यति एव शीलो लक्ष्यवेधी अर्धनागाचः । नराणा ममूहो नार तदा
चान्तीति नाराच । अर्धचन्द्रानारोऽप्रभागो यस्य सः अर्धनार च उच्यते । तथा
बहुतर भवन्तम् अनुकरोति आकृत्या भवत्सहसो हस्यते ।

राजा—स्याखम् सनवति । वन खलु

वास्पायत इति—अस्मिन् कुमारे निपतिता मनहृत्पिर्वाप्पमुद्वनतीति
वापायते । इम दृष्ट्वा मम नेत्रयोरश्रूणि प्रभवन्ति । हृदय वास्त यस्य बंधोऽस्मिन्
इति वासत्यवन्धि उद्गतवासत्यभव जायते । मनसश्चित्तस्य प्रसाद प्रीति-
भवति । धर्मस्य वृत्तिरिति धर्मवृत्तिः, उभिभता त्यक्ता धर्मवृत्तिरात्मनियन्त्रण
येन सोऽधीर स्वभावोऽह सजात. वेपथुर्मेघा तंः सक्म्पैः श्लैर्गन्त्रेण कुमारम् अदय
गाड परिरदधुमालिङ्गितुम् इच्छामि । वाप्पायते इत्यत्र “वाप्पे ऽमम्यामुद्वनने”
(३-१-१६) इति सूत्रेण व्यङ्ग्य प्रत्ययः । वेपथुरित्यत्र कम्पनार्थात् वेप्
षातोऽयुच् । माधुर्यप्रसादादह्यो गुणी । वसन्ततिल्का वृत्तम् । ११।

अनुवाद—विदू०—आप दिव्य स्त्रियो मे मानवियो के सारे लक्षणो की
सभावना मत क जिये । उनके कार्य दिग्दशवित के बल से प्रकट नही होने पाते ।

राजा—शायद जैसा आप कहते हैं वैसा ही हो किन्तु पुत्र को छिपाकर
रखने मे उसका क्या हेतु हो सकता है ?

विदू०—बुद्धी ही जाने से राजा मुझे छोड़ न दे ।

राजा—उपहाम रहने दीजिये । सोचिये ।

विदू०—देवताओ की भेदभरी बातों का अनुमान कौन करे ?

(प्रवेश करवे)

कञ्चुकी—जय हो, जय हो महाराज की । देव, यद्वान के आश्रम मे एव
कुमार को लेकर तपस्विनी आयी है । आप से मिलना चाहती है ।

राजा—दोनो को तुरन्त भीतर लाओ ।

कञ्चुकी—जो आप की आज्ञा (बाहर जाकर हाथ में धनुष यामे हुये कुमार तथा तपस्विनी के साथ प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—इधर से, भगवति इधर से । (सब चलते हैं)

विदू०—‘देवकर) क्या यह वही क्षत्रियकुमार तो नहीं है जिसके नामाङ्कित अर्धचन्द्राकार बाण ने मिद्ध का लक्ष्य वेधा है और आपसे बहुत अधिक मिलता जुलता है ?

राजा—ऐसा हो सकता है । इसीलिये तो—

इस पर दृष्टि पड़ते ही मेरी आँखों में आँसू आ रहे हैं, हृदय में वास्तव्य उमड़ आता है और मन में प्रसन्नता है । मैं अपना गम्भीर स्वभाव छोड़ कर कम्पभरे हुये अंगों से इसे कन कर छाती से लगा लेना चाहता हूँ । १।

टिप्पणी—च्यवनाश्रमात्—ऋग्वेद के अश्विन सूक्तों में च्यवन का बार बार उल्लेख हुआ है । उन्हें अश्विन देवों की कृपा से पुनर्जीवन की प्राप्ति हुई थी । महाभारत में च्यवन और मुवन्या की कथा मिलती है ।

अर्धनाराचः—नराणा समूह. नारम् । नारम् आचामतीति नाराचः । अर्धश्चासौनाराचः इति अर्धनाराचः ।

वाप्यायन—वाणम् (अधु) उद्वमति इति वाप्यायते । ‘वाणोस्मभ्यामुद्वमते’ ३-१-१६ सूत्र से उद्वमते अर्थ में वाण के आगे ‘वपङ्’ प्रत्यय होकर ‘वाप्याय’ यह आत्मनेपदी धातु धर्ता है ।

सजात वेद्युभिः—सजात वेद्यु. येषु तानि सजात वेद्युनि तैः ।

परिरव्युम्—परि + रव् + तुमुन् । आलिङ्गितुम् ।

मूत्रपाठ—कञ्चुकी—भगवति ! एव स्थीयताम् । (तानसीकुमारी स्थिनी)

राजा—अभ्य ! अभिवादनम् ।

तानमी—महाभाग सोमयज्ञ-विद्यवार इत्तमी ह्यं हि । (आत्मगतम्) अहो अनायासि तदो वि विष्णादो इमस्त राएणिणो आउस्म अ ओरसो राबन्धो । (प्रकाराम्) जाद प्रथम दे गुरुं । [महाभाग सोमवरा विस्तारयिता

भव । (आत्मगतम्) अहो अनारत्रातोऽपि विज्ञातोऽस्य राजर्षेरायुपशर्वा
रस सवन्ध । (प्रकाशम्) जान प्रणम ते गुरुम्]

(कुमारश्चापगर्भमञ्जलि करोति)

राजा—आयुमान् भव ।

कुमार --(आत्मगतम्)

यदि हार्दमिद श्रत्वा पिता ममाय सुनोहमस्यति ।

उत्सङ्गर्वाधताना गुस्तु भवत् कीदृश स्नह ।।१०।

राजा—भगवनि । किमागमनप्रयोजनम् ।

तापसी—सुणादु महाराजो । एमो दोहाऊ आऊ जादमेतो एव्व
उव्वसीए किंवि णिमित्त अवेरिंअ मम दृश्ये णामीकिदो । ज खत्तिअ-
कुमारअस्स जादकम्मादि विहाण त स भअवदा चवणेन अमेम
अणुत्तिट्ठिद । गहिदविज्जो धणु वेदे अहिवितादो । [श्रुगोनु महाराज ।
एष दीर्घायुरायुर्जानमात्र एव उवंश्या किमपि निमित्तमवे-य मम हस्ते
न्यासीकृत । यन् क्षत्रियकुमारस्य जानकमाद विवात तदस्य भगवना
च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम् । गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनात]

राजा—यनाय बलु सवृत्त ।

तापसी--अञ्ज फुअ ममिदथ इमि कमार एहि सह गदेण इमिणा
अस्सम विरुध आरिदि । [अद्य पुण ममिदर्यमृषिकुमारकै सह
गतननानेनाश्रमविह माचरितम्]

विदू०--(माधगम्) किं विअ ? [किमिव]

तापसी - गहिदामिमा किल गिधो पादव निरे णिनीअमाणो अणेण
लस्सीकिदो वाणस्स । [गृहीतामिप किञ्च गृत्र पादप शिखरे निलोप
मानोऽनेन लक्ष्यीकृतोवाणस्य]

(विदूषक राजानमवलोकयति)

व्यारथा—कञ्जुको—भगवनि । आदरार्थं सम्बोधयन्मिदम् । एव स्थाय-
ताम । (उभो निष्ठन)

राजा—अम्ब । पूज्यात्वाद् वृद्धात्वाच्च सम्बोधनमिदं तापस्या । अभिवादे प्रणमामि ।

तापसी—महाराज सोमवशस्य विस्तारयिताऽभिवर्धको भव । (आम-गतम) अहो अनख्यातो मम कथनात् पूबमव अस्य राजर्षे आयुष कुमारस्य च औरस पितृपुत्र सम्बन्धो विनात आकृतिसाम्यात् समानलक्षणयोगाच्चानयात्र यजनरसम्बन्धोऽक्थितऽपि ज्ञायत एव । उरस अयमित्थौरस 'उरसाऽण्' (४-४-९४) इत्यण प्रत्यय । (प्रवागम) जातपुत्र प्रणम अभिवादाय ते गुरुम पितरम । (कुमार चापो गर्भे यस्य तादृगभञ्जलि करोति । साञ्जलि प्रणमन्नपि चाप न विवृजति)

राजा—प्रारतमायुस्य स आयुष्मान् चिरञ्जीवी भव ।

कुमार—(आमगतम) पदीति—यदि अयं पुरुषो मां पिता जनकः, अहं च अस्य मुनि इति श्रुत्वा इदमतादृग हाद हृदयस्य कम विलक्षण प्रम भवति तदा - मरु पितुरङ्के वधिताना पोपिताना गुरुषु पितृषु तादृग स्नहाभवत् । यदि पितृपुत्रयोः तादृगसम्बन्धव्यवधानमात्रेणापि अलौकिक प्रम प्रादुर्भवति तदा पितुरङ्के स्नात्ताना पुत्राणा जनकेषु कोदृग प्रम भविष्यति । (आयाजाति) ११०।

टिप्पणी—चापगर्भम्—चापः गर्भे यस्य स. तम् । धनुष हाथ में पकड़े-पकड़े हाथ जोड़ता है । यह अत्रियाचित प्रणाम पद्धति है ।

हार्दम्—हृदयस्य कर्म हार्दम् । हृदय को प्रिय लगने वाला ।

भगवति ।—तपस्विन्यो देवताश्च वाच्या भगवतीति च'—ना० शा० १९-२१ । नाटक में देवियों और तपस्विनियों को 'भगवती' कह कर सम्बोधित करने की प्रथा थी ।

किमपि निमित्तमवेक्ष्य—इमं कारणं से निम्नलिखित बातें ज्ञान हाती हैं—(१) सत्यवती के पास वालक विद्यासमाप्ति-काल तक के लिये रखा गया । (२) सत्यवती को इस बात का पता नहीं था कि वालक को उसके पास रखने का क्या कारण है ? वह बालक के दर्शन में जाने वाले उर्वशी वियोग से अनभिज्ञ थी । (३) स्वधन को बालक के माता पिता का नाम नहीं मानूँ या ।

यथाशास्त्रम्—शास्त्राणि अनतिशम्य इति । शास्त्रानुसूल ।

अभिविनीत. —अभि + वि + नी धातु + क्त प्रत्यय । शिक्षित किया ।

गृहीतामिप —गृहीतान् आमिप येन नः । मास का टुकड़ा पकड़े हुये ।

मलपाठ—राजा—ततस्ततः ।

राजा—(कुमारमवलोक्य) एह्येहि वत्स !

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेन मामुपगतेन
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ।११।

तापनी—जाद आणन्देहि पिदरं । [जात आनन्दय पितरम्]

(कुमारो राजानमुपगम्य पादग्रहण करोति)

राजा—(कुमारं परिष्वज्य पादपीठे चोपवेश्य) वत्स इतस्तव गितुः
प्रियसखब्राह्मणमशङ्कितो वन्दस्व ।

विदू०—किं ति सङ्कित्स्सदि । अस्मम-ग्राम परिचिदो एव्व
साहामिओ । [किमिति शङ्कित्स्सदि । आश्रमवास परिचित एव शाखा मृग.]

कृमारः—(मस्मितम्) तात वन्दे !

विदू०—सथिय भवदो । [स्वस्ति भवते] (ततः प्रविशत्युर्वङ्गी
कञ्चुकी च)

कञ्चुकी— इत इतो देवी ।

उर्वङ्गी—(कुमारमवलोक्य) को णु तु एमो सवाणासणो पादपीठे
सर्भ महाराएण सजमोअमाण-मिहण्डओ चिट्ठदि । (तापनी दृष्ट्वा) जम्मो
सच्चवदीसूइदो मे पुत्तओ आऊ । महन्तो खु संवुत्तो । [को नु खलु एष
सवाणासनः पादपीठे स्वयं महाराजेन संयम्यमान-शिखण्डकस्तिष्ठति ।
(तापसी दृष्ट्वा) अहो सत्यवती सूचितो मम पुत्रक आयुः । महान् खलु
संवृत्तः (परिक्रामति)

व्याख्या—राजा—नतस्ततः ? ततः किं वृत्तमित्युत्कण्ठया राजा तापसी
पृच्छति ।

तापसी—ततः उपलब्धः प्रायः वृत्तान्तः समाचारो येन स तेन भगवता
च्यवनेन अहं समादिष्टा आज्ञापिता, निर्वालय प्रतिदेहि हस्तान्यास न्यासरूपेण
शुद्धीत कुमारकम् । तत् तेन बारणेन देवीम् उर्वङ्गी प्रेक्षित द्रष्टुम् इच्छामि ।

राजा—तेनहि यथा उर्वङ्गी-दर्शनं कश्चित् कालमपेक्षते तस्माद् भगवती
आसनम् अनुग्रहणात् उपकरोतु । (तापसी उपनीते आनीय समीपे स्थापिते
आसने उपविशति)

राजा—लातथ्य ! आहूयतामावायंताम् उर्वङ्गी ।

अनुवाद—राजा—फिर ? फिर ?

तापसी—तब भगवान् च्यवन ने यह समाचार पाकर मुझे आदेश दिया कि हाथ की धरोहर को वापिस लौटा दो । इसलिये मैं देवी उर्वशी से मिलना चाहती हूँ ।

राजा—तो आप आसन ग्रहण कीजिये । (तापसी लामे हुये आसन पर बैठती है)

राजा—लातव्य ! उर्वशी को बुलाया जाय ।

कचुकी—जो आपकी आज्ञा । (जाता है)

राजा—(कुमार को देखकर) आओ, आओ बेटा ।

पुत्र का स्पर्श सारे अंगो (शरीर) को सुख देता है । इसलिये मेरे पास आकर मुझे आह्लादित करो जैसे चन्द्रमा की किरण चन्द्रकान्त मणि को आह्लादित करती है । ११।

(कुमार राजा के पास जाकर पाँव पकड़ लेता है)

राजा—(कुमार का आलिङ्गन करके और पाँव रखने के पीछे पर बैठाकर) बेटा, इधर अपने पिता के प्रियमित्र ब्राह्मण को निडर होकर प्रणाम करो ।

विदूषक—किसलिये ? आश्रम में रहने से ये वन्दर से तो परिचित ही हैं ।

कुमार—(मुसकरा कर) तात, प्रणाम करता हूँ ।

विदू०—आप का बल्याण हो ! (तब उर्वशी और कचुकी प्रवेश करती हैं ।)

कचुकी—इधर से, इधर से देवी ।

उर्वशी—(कुमार को देखकर) यह धनुष लिये हुये पादपीठ पर कौन बैठा है जिसके बालों का जूडा स्वयं महाराज बाँध रहे हैं ? (तापसी को देखकर) अरे, सत्यवती से पता चल रहा है कि यह मेरा पुत्र आयु है । खूब बड़ा हो गया है । (चलती है ।)

टिप्पणी—निर्याण—निर् + यत् + णिच् + लोट । वापिस कर दो । लौटा दो ।

सर्वाङ्गीण —सर्वाणि च तानि अङ्गानि इति सर्वाङ्गाणि । तानि व्याप्नोति स सर्वाङ्गीणः । 'तत्सर्वदिः पृथङ्गं कर्म पत्र पात्र द्युपाने' " इस सूत्र से ख

कचुकी—यदातापयति देव । (इति निष्कान्त)

राजा—(कुमारमायुपमालोचय) एहि एहि मत्समीपमागच्छ वत्स ।

सर्वाङ्गीण —सुतस्य स्पश पुनर्देहस्य सस्या सव च तद्भूमिति सवाङ्ग
त्तद् व्याप्नोति स सर्वाङ्गीण । तसर्वादे पथ्यङ्ग कमपर पात्र व्यप्नोति
(५-२-७) इति स प्रत्यय । पुत्रमात्र ससशञ्ज सुख सव देह व्याप्नोति किल
निश्चये । उपनतेन भाग्यवतात प्राप्तेन तेन सुखेन माम आह्लादयस्व सुखिन
कुरुष्व । अत्रोपमानमाह चन्द्रकर सूयकिरण चन्द्रकात मणिमिव । यया चन्द्र
किरण चन्द्रकातस्यान प्रविश्य स द्रावयति तवव तव स्पर्शो मे अत प्रविश्य
सवमङ्ग सुवयतु । ११।

तापसी—जात वत्स आनन्दय आलिङ्गनेन सुख्य पितरम् । (कुमारो
राजानमुपगम्य राज समीपेगत्वा पादग्रहण घरणस्पश करोति)

राजा—(कुमार परिष्वज्यालिङ्ग्यपादपीठ पात्याञ्जय स्थापिते आसने
उपवसयति) व म इतोऽस्मिन् पात्रे तव पितु प्रियश्चासौ सखा इति प्रियसख
स्त राजह सखिभ्यश्च (५-४-९१) इति समास नञ्च । ब्राह्मण विदूषक
मगद्धितो निभयो व दस्व ।

विदू०—राज्ञ अशङ्कित इतिवचन परिहसन् कथयति—किमिति केन
कारणेन गद्धिष्यते भेङ्गति । अह वधण गालामृग इव दृश्य अस्य चाश्रमवासे
गालामगा वानर परिचित एव ।

कुमार — (सस्मितम) तात वदे प्रणमामि ।

विदू०—स्वस्ति भवते भवत कल्याणमस्तु । नमस्वस्ती य दिनाचतुर्या ।
(तत प्रविगत्युवगी वञ्चुकी च)

कञ्चुकी—इत इता देवी भवता अनेन मार्गेण आयातु ।

उवशा—(कुमारमवलोकय) वो नु खलु एव वाणासनेन धनुषा सहित
इति सबाणसत पात्पीठे स्वय महाराजा सयम्यनात प्रताप्यमान गिलण्डक
दञ्चुडा यस्य स सयम्यमान गिलण्डक तिष्ठति । (तापसी दृष्ट्वा) अहो सख्यव या
सूचित तदुपस्थिय या ज्ञापितो मम पुत्रक आयु । महान् प्रबन्धित खलु सबुते ।
एतावता बालन ताटगी वृद्धि गत । (परित्रामति)

अनुवाद—राजा—फिर ? फिर ?

तापसी—तब भगवान् च्यवन ने यह समाचार पाकर मुझे आदेश दिया कि हाथ की धरोहर को वापिस लौटा दो । इसलिये मैं देवी उर्वशी से मिलना चाहती हूँ ।

राजा—तो आप आसन ग्रहण कीजिये । (तापसी लाये हुये आसन पर बैठती है)

राजा—लातव्य ! उर्वशी को बुलाया जाय ।

कंचुकी—जो आपकी आज्ञा । (जाता है)

राजा—(कुमार को देखकर) आओ, आओ वेद ।

पुत्र का स्पर्श सारे अंगो (शरीर) को सुख देता है । इसलिये मेरे पास आकर मुझे आह्लादित करो जैसे चन्द्रमा की किरण चन्द्रबान्त मणि को आह्लादित करती है । ११ ।

(कुमार राजा के पास जाकर पाँव पकड़ लेता है)

राजा—(कुमार का आलिंगन करके और पाँव रखने के पीछे पर बैठाकर) बेटा, इधर अपने पिता के प्रियमित्र ब्राह्मण को निडर होकर प्रणाम करो ।

विदूषक—किसलिये ? आश्रम में रहने से ये बन्दर से तो परिचित ही हैं ।

कुमार—(मुसकरा कर) तात, प्रणाम करता हूँ ।

विदू०—आप का कल्याण हो ! (तब उर्वशी और कञ्चुकी प्रवेश करती हैं ।)

कंचुकी—इधर से, इधर से देवी ।

उर्वशी—(कुमार को देखकर) यह धनुष लिये हुये पादपीठ पर कौन बैठा है जिसके वालो का झूठा स्वयं महाराज वाँध रहे हैं ? (तापसी को देखकर) अरे, सत्यवती से पता चल रहा है कि यह मेरा पुनः आयु है । खूब बड़ा हो गया है । (चलती है ।)

टिप्पणी—निर्यातय—निर् + यत् + णिच् + लोट । वापिस कर दो । लौटा दो ।

सर्वाङ्गीण—सर्वाणि च तानि अङ्गानि इति सर्वाङ्गाणि । तानि व्याप्नोति स सर्वाङ्गीणः । “तसर्वादिः पय्यङ्ग कर्म-पत्र पान व्याप्नोति” इस मूल से ख

प्रत्यय होकर ल को ईन हुआ है । "आयनेयेनीयियः फट्खट्वां प्रत्ययादोनाम्" सूत्र से ।

चन्द्रकान्तमिद—यह उपमा बहुत उपयुक्त है । चन्द्रमा की विरणों भी चन्द्रकान्त मणि का सर्वाङ्गीण स्पर्श करती हैं ।

पाठीठी—कुमार राजा के चरणों के पास बैठना है । इसलिये 'पाशीठ' उसे बैठने के लिये दिया ।

आश्रमवाम—त्रिदूषण के इस कथन में आत्मोपहास है । इसमें उसकी आकृति तथा वेश का भी परिचय मिलता है ।

सयम्पमान—शिल्पण्डकः—सयम्पमानः (सम् + यन् + कर्मणि शानच्) शिल्पण्डकः यस्य सः ।

सत्यवती—सूचितः—सत्यवत्या सूचितः । सत्यवती को उपस्थिति के कारण जिसका पता चल रहा है ।

पुत्रकः—ह्रस्वः पुत्रः पुत्रकः (छोटा बालक) । ह्रस्व अर्ध में क प्रत्यय हुआ है ।

संवृत्तः—सम् + वृत् + क्त ।

मूलपाठ—राजा—(विलोक्य) वत्स !

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकन-तत्परा ।

स्नेह-प्रसन्नव-निभिन्नमुद्वहन्ती स्तनाशुकम् ॥२॥

तापसी—जाद् एहि पञ्चुगच्छ मादर । [जात एहि प्रत्युद्गच्छ मातरम्]

(कुमार उर्वशी प्रत्युद्गच्छति)

उर्वशी—अम्ब ! पादप्रणामं करोमि । [अम्ब ! पादप्रणामं करोमि]

तापसी—बछ्छे भत्तुणो बहुमदा होहि । [वत्से भतुर्वहुमता भव]

कुमार.—अम्ब अभिवादये !

उर्वशी—(कुमारमुद्गमितमुख परिष्वज्य) बछ्छ पिदरं आराध-इत्तओ होहि । (राजानमुपेत्य जेदु-जेदु महाराजो) । [वत्स पितरमाराधयिता भव । (राजानमुपेत्य) जयतु जयतु महाराजः ।]

राजा—स्वागत पुत्रवत्यै । इत आस्यताम् । (अर्धासन ददाति)

(उर्वशी उपविशति । नर्वे यथोचिनमुपविशन्ति)

तापसी—एषो गृह्ण विज्ञो आज सपद क्व अहरो सवृत्तो । ता एदस्म दे भक्तुणो समरत्न णिजादिदो हृद्य-णिख्वेदो । ता विमज्जेदुं इच्छामि । उवरुद्रज्ञ इ मे अस्तम-यम्भो । [एष गृहीत विद्य आयु साम्प्रत क्वचहर सवृत्त । तदेतस्य ते भर्तुं नमस्य निर्यातिनो ह्मन्निक्षेप । तद् विमज्जयितुमिच्छामि । उपरुधने मम, श्रमधर्म]

उर्वशी—चिरम्य अज्ज देरे वअ अहिश्चर अविनिष्हम्हा ण सक्कुणोमि विमज्जिदु । अण्णय उवरोहिदु । गच्छदु अज्जा पुणोदनणाय । [चिरम्य आर्या दृष्ट्वा अविकनरम् अविनृग्गाऽस्मि । न शक्नोमि विसृष्टुम् । अन्याय्यमुपरोद्धुम् । गच्छत्वार्तापुनर्दर्शनाय]

राजा—अम्ब भगवते चरवनाय मा प्रणिगानय ।

तापसी—एव भोदु । [एव भवतु]

कुमार—आर्ये सत्य यदि निवर्तये तदा मामप्याश्रम नेनुमर्हसि ।

राजा—वत्त । उपित त्वया पूवस्मिन्नाश्रमे । द्वितीयम-वासितुं तवममय ।

तापसी—जाद गुहो वअग अगुचिदु । [जातं गुरोर्वचनमनुतिष्ठ]

पारया—राजा—(विलोक्त्वा) वत्त ।

इयमिति—इय स्नेहन य प्रत्नव अरत्तय इति स्नेह प्रत्नवः तेन निमित्तं निवृत्तं भिन्नं सान्त्वनं आर्यो भूतमिने यावत् भिन्नं वाच्यवदयै दारिते तगते स्फुटे” इति लोचन । स्तः, तु, क, नु, द, व, ह्, शी क्व, क्व, धाररन्ती तव अचोक्तं स्वदालोक्तं तस्मिन् तलरा उतुका तव जननी प्रतवितो प्राप्ता समागता । अनुष्टुप् १२२।

तापसी—जात पुत्र एहि मातर प्रःसुद्गच्छ अत्रे गत्वा अभिनन्द ।

(कुमार उव ती प्र सुदा उते त य । अभिनन्दाम उवावाये गच्छति)

उर्वशी—अम्बेनि सम्मानार्थम् । पादश्याम चरणस्पर्शं करोमि ।

तापसी—वत्ने भर्तुर्वहुमता अभिलषित्वा प्रिया भव । ईदृश एवासीवाँद-घाकृन्तकेरि (४-६) “यथातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्वहुमता भव” इति ।

कुमार.—अम्ब अभिवादाये प्रणमामि ।

उर्वशी—(कुमारमुन्नमित उर्ध्वीकृत मुख यस्य स परिष्वज्य परिभ्रम्य) ब्रह्म
पितरमाराधयित्वा पितृचरण-सेवा-परायणी भव । 'म लोराव्ययनिष्ठे' त्यतस्ति
पितरमित्यत्र पष्ठी प्रतिषेधः । (राजानमुपेत्य) जपतु जपतु महाराजः ।

राजा—स्वागत पुत्रवत्यै अभिनन्दाभि सपुत्रा एवाम् । इत आगने
व्यास्यताम् । (अर्घासिनं राजासनस्थार्घभाग ददाति । उर्वशी अर्घामिने उपविशति ।
सर्वे यथोचित मर्यादानुसारेण उपविशन्ति)

तापसी—एष गृहीतविद्योऽभ्यस्त-तास्त्र आयुः तव पुत्रः माप्रत वक्व
हरतीति वक्वचहरः कक्वधारणयोऽयो युक्वा सवृत्तो जातः । 'वयनिच'
(३-२-१०) इति सूत्रेण आयुषि गम्यमाने ह्यघातोऽरष् प्र-पय । तदेतस्य ते
भर्तु पुरुरवस समर्धं निर्यातित ममपितस्ते हस्तनिक्षेपः । तद् विमर्जयितुमनो
गन्तुमिच्छामि । मम आश्रम धर्मं आश्रमजनं याणि उ रक्ष्यते यावितो भवति ।

उर्वशी—चिरस्य बहो कालादनन्तरमार्या पूज्या एवा दृष्टा अधिकतर
अवितृष्णा दर्शनोत्कण्ठिताऽस्मि । न लघुना कालेन बहुकालजन्या दर्शन-
पिपासा शान्ति गता । अतोविमृष्टु गमनायानुमन्तु न शक्नोमि । उपरोद्धु-
मत्रावस्थानायग्रह कर्तुमप्यन्यायमनुचित न्यायादमेतम् । अतो गच्छतु
आर्या पुनर्दर्शनाय पुनरपि भवत्यादर्शनं देयम् ।

राजा—अम्ब ! भगवते पूज्याय च्यवनाय मा प्रणिपातय मे प्रणाम तस्मै
निदेश्यतु भवती ।

तापसी—एव भवतु निवेदयिष्यामि ते प्रणामम् ।

कुमारः—आर्यो यदि सत्यमेव त्व निवर्तसे आश्रम प्रतिगच्छसि तदा
मामपि त्वया सहश्रमम नय ।

राजा—वत्स उपित त्वया त्वमुपितवानसि पूर्वस्मिन्नाश्रमे ब्रह्मचर्यनाम्नि
प्रथमे आश्रमे । ते ब्रह्मचर्यचालोऽस्तीतः । माम्प्रत द्वितीय गृहस्थाश्रमं
अध्यासितु प्रवेष्टु तत्र निवसितुं ते समयः । साम्प्रतमतिक्रान्त ब्रह्मचर्यतपसा
त्वया गृहस्थाश्रमोऽध्यासितव्यः ।

तापसी—जात पुत्र गुरोः पितुर्वचनमाज्ञामनुतिष्ठ पालयस्व ।

अनुवाद—राजा—(देखकर) बेटा ! यह तुम्हारी माँ आ गयी है जो तुम्हें देखने में तल्लीन हैं और जिसकी पहनी हुई चोली तुम्हारे स्नेह के कारण टपकने लगे दूध से गीली हो रही है । १२।

तापसी—बेटा आओ और आगे बढ़ कर माता का स्वागत करो ।

(कुमार आगे बढ़ कर उर्वशी का स्वागत करता है)

उर्वशी—माँ चरणों में प्रणाम करती हूँ ।

तापसी—बेटी, पति का आदर तुम्हें प्राप्त हो ।

कुमार—माँ, प्रणाम करता हूँ ।

उर्वशी—(कुमार का मुख ऊपर उठाकर आलिंगन करके) बेटा, पिता की सेवा करने वाले बनो । (राजा के पास जाकर) जय जय हो, महाराज !

राजा—स्वागत है पुनर्वती का । इधर बैठिये । (अर्थात् आसन देता है)

(उर्वशी बैठती है । सब यथोचित स्थान पर बैठ जाते हैं)

तापसी—यह आयु विद्या प्राप्त कर चुका और अब कवच धारण करने योग्य (युवा) हो गया है । तो तुम्हारे पति के सामने यह तुम्हारे हाथ की धरोहर लौटा दी । अब विदा होना चाहती हूँ । मेरे आश्रम के कर्तव्य में उपरोध (बाधा) हो रही है ।

उर्वशी—बहुत समय के बाद आपको देखने के कारण और अधिक लृप्णा जाग गयी है । विदा नहीं कर पा रही हूँ । रोकना भी उचित नहीं है । आप जाइये, फिर दर्शन दीजियेगा ।

राजा—माई, मेरी ओर से भगवान् च्यवन को प्रणाम कहना ।

तापसी—ऐसा ही होगा ।

कुमार—आर्य, यदि आप सचमुच लौट रहो हैं तो मुझे भी आश्रम ले चलिये ।

राजा—बेटा, तुम प्रथम आश्रम में रह चुके हो । अब तुम्हारा समय दूसरे आश्रम में रहने का है ।

तापसी—बेटा, पिता की आज्ञा का पालन करो ।

टिप्पणी—स्नेह-प्रसवनिभिन्नम्—स्नेहेन प्रसवः इति स्नेहप्रसवः। तेन नितरा निन्नम् इति स्नेह... । स्नेह ते कारण टपकते (झरते) हृये दूष से गीला । भर्तुर्वंहुमता—कालिदास पत्नी के लिये इस आशीर्वाचन को सर्वश्रेष्ठ मानते थे । देखिये शाकु० (४-६) “यथातोरिव शमिष्ठा भर्तुर्वंहुमता भव”

पितरमाराधयिता—‘न लोकाध्यय निष्ठा खल्यंतृनाम्’ सूत्र से पितरम् में कर्तृकर्मण्य कृति की पंथी का निषेध हुआ है ।

मूलपाठ—कुमार—तेनहि

य सुप्तवान् मदङ्गे शिखण्डे कण्डूयनोपलट्यमुखः ।

त मे जात कलाप प्रेषय मणि कण्ठक शिखिनम् । १२३।

तापसी—(विहस्य) एध्वं करेमि । सथिथ भोदु तुम्हाण । [एवं करोमि । स्वस्ति भवतु युष्मभ्यम्] (इति निष्क्रान्ता)

राजा—कल्याणि !

अह हि पुत्रिणामभ्य सत्पुत्रेणामुना तव ।

पौलोमी—संभवेनेव जयस्तेन पुरन्दरः । १४।

(उर्वशी स्मृत्वा गेदिति)

विदू०—किं णु खु तत्तभोदी एवकवदे अस्सुमुही सबुत्ता । [किं नु खलु तत्र भवती एकपदेऽश्रुमुखी सबुत्ता]

राजा—(सावेगम्) किं सुन्दरि प्रहृदिताऽसि ममोपपन्ने

वशस्थितेरधिगमान्महति प्रमोदे

पीनोन्नत-स्तन-वसर्पिभिरानयन्ती

मुक्तावली-विरचना-पुनरुवितमस्त्रै ११५।

(वाष्पमस्याः प्रमार्ष्टि)

व्याख्या—कुमार—तेनहि—य इति—शिखण्डस्य वहंस्य कण्डूयनं खर्जनं तेन उपलब्धं मुखं येन सः एवभूतो यः शिखण्डी मया वहंस्य कण्डूयनेन प्राप्तमुत्तमं मदङ्गे ममोत्सङ्गे एव सुप्तवान् निद्रामुलभत त मे जातः कलापः पिच्छभारो यस्य त मणिकण्ठकमेतन्नामानं शिखण्डिनं

मयूर प्रेयस । “कलाप सहने बहूँ” इति कोप । एतेन कुमारस्य प्रवृत्ति
सौकुमार्यं व्यग्रते । आयांजातिः । १३।

तापसी—(विहस्य कुमारस्य बालस्वभाव निराभ्य प्रनता मनी) एव
करोमि प्रेषयिष्यामि मणिकण्ठकम् । स्वस्ति युष्मभ्यम् राजे, उर्वश्ये, कुमाराय
अन्येभ्यश्च । (इतिनिष्क्रान्ता गता)

राजा—तुन्दरि ! अहमिति—अह हि अमुनाजेन तत्र न पुत्रेण पुत्रिणा
पुत्रवतामग्रय प्रधानः । अग्रे साधुरग्र्य ‘तत्र साधुः’ (४-४-९८) इति यन्
प्रत्ययः । तत्रोत्तमानन्द-पुर नाम राक्षस दारयति स पुन्दर इन्द्र पुलोम
अस्य स्त्री पौलानी तस्या नमवा यस्य तन शची मनुना तयनेन उव । (उर्वशी
स्मृत्वा इन्द्रवचन स्मृत्वा रोदिति)

त्रिदो—किं नु खलु केन कारणेन भवती एकपदे तर्नैव अधुमुक्त्वा वाष्पा-
कुला सवृत्ता सजानः ।

राजा—(सावेगम् अत्रगेन क्षोभेण सहित यवाम्नात्तथा) किं मुन्दरीमि मम
वशस्य स्थितिप्रस्मात् तस्य वशाङ्कुरस्य अधिगनात् प्राप्ता करणात् स्फुरति
प्रकाशमाने प्रभोदे आनन्दे उपर्नने प्राप्ते सति पीनो मानलो यो स्तनो तयो
रुपरि निरतर्नानि पीनस्तनो गिरि निशतीति तं अर्चयिष्ये पुनहस्त द्वितीया-
मिव मुक्तावली-विरचना अर्पयन्ती परिदधतीव किं केन कारणेन प्ररदितासि ।
अधुविन्दवी मुक्ता इव प्रतिभान्ति । तेषा निरन्तर प्रवाहण वय स्वल् द्वितीया
मुक्तावली मौक्किकमाला विरचिनेव लक्ष्यने । एकानु उर्वश्ये, पूर्वमेव धारिता
आसीन् । पुनहस्तमिति त्रियाविरोपण तेन नपुसकलिङ्गत्वमेकवचनञ्च च ।
अथूणा मुक्तासोदृश्य प्रतिगदनात् व्यङ्ग्यापमा । विरचनाना नभावनात्प्रेक्षा-
लङ्कारः । वसन्तनिष्क्रा वृत्तम् । १५। (अस्पावापममृ प्रमाष्टः)

अनुवाद—कुमार—अच्छा ता, मरा ‘मणिकण्ठक’ मार जा शिखण्ड
(चोटी) के खुजलान से सुखमन होकर मेरी गोद में सा जाया करता था, उसके
जब पक्ष निकल आये तो उसे मर पास भेज देना । १३।

तापसी—(हँसकर) ऐसा ही बरुंगी । तुम दाना वा बन्धाप हा ।
(जाती है)

राजा—कल्याणि ! जिस प्रकार इन्द्र शची से उत्पन्न हुये जयन्त को पाकर पुत्रवानो में श्रेष्ठ है वैसे ही मैं तुम्हारे इस सुपुत्र पुत्रवान् लोगो में प्रथम हूँ १४।

(उर्वशी दाद करके रोती है)

विद्०—अरे ! आप अचानक ही रोने क्या लगी ?

राजा—(धवरा कर) हे सुन्दरि ! मेरे वश को स्थिर रखने वाले पुत्र के मिल जाने से जब मेरे लिये महान आनन्द प्राप्त हुआ है तब तुम ऊँचे और स्थूल स्तनो पर विखर-विखर कर उन्हे दोहरी मोतियो की माला पहनाते हुए-से आँसुओं से रो क्यों रही हो ? १५।

(उर्वशी के आँसू पोछता है)

टिप्पणी—कवचहर—यह पद इससे पूर्व के गद्य में आया है । कवच हरति स । ह्र घातु से 'वयसि च' (३-२-१०) सूत्र के द्वारा अच् होकर बना है । यह प्रत्यय आयु घोट न करने में होता है । अतः कवचहर का अर्थ है युवा—कवचधारण करने योग्य ।

शिक्षण्ड...सुख—शिक्षण्डस्य (मोरपत्र) कण्डयनेन लब्ध सुख येन स । मयूर का विशेषण है ।

युग्मम्भम्—'नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाऽल वपड्योगाच्च' सूत्र में स्वस्ति के यं ग म चतुर्थी ।

पुत्रिणाम्—पुत्र सन्ति येषान्ते पुत्रिण , तेषाम् ।

अग्र्य—अग्रे साधु इति अग्र्यः । 'तत्र साधु' ४-४-९८ सूत्र से यच् प्रत्यय । साधु = प्रवीण, योग्य ।

पौलोमी—पुलोमन् अपत्य स्त्री । इन्द्र की पत्नी शची पुलोमन् नामक दानव की पुत्री थी ।

पुरन्दर.—पुत्र (राक्षस का नाम) दारयति स इन्द्र । शकु० (७-२८) में भी ऐसा ही आशीर्वचन है—'आखण्डलसमोभर्ता जयन्तप्रतिभ. सुत—आशीर्भ्या न ते योग्या पौलोभ्या महशी भव ।' कालिदास की दृष्टि में इन्द्र, शची और जयन्त का परिवार गृहस्थो के लिये आदर्श था ।

पीनो... विसर्पिभिः—पीनो उन्नतो च ती स्तनो इति पीनोऽन्नतस्तनो तत्र विमर्शनीति तैः । स्तनो पर मोतियो को एक माला पहले ही विद्यमान है । आँसू उन पर दूसरी माला की मृष्टि कर रहे हैं ।

मूलपाठ—उर्वशी—सुणादु महाराओ । पडमं उण पुत्तदमणेण विमुमरिदम्हि । दाणिं महिन्द-मक्तिणेण समओ मह हिअअं आआसेदि । [शृणोतु महाराजः । प्रथम पुनः पुत्रदर्शनेन त्रिम्भृताऽस्मि । इदानीं महेन्द्र सकीर्तनन समयो मम हृदयमाघासयति]

राजा—कथ्यता समयः ।

उर्वशी—अहं पुरा महाराज-गहिद-हिअआ महिन्देण आणत्ता । [अहं पुरा महाराजगृहीतहृदया महेन्द्रेण आज्ञापिता]

राजा—किमिति ?

उर्वशी—जदा एसोमम पिअसहो राएपी तुइ समुप्पगगस्म वंनकरस्म मुहं पेखिवस्सदि तदा तुए भूओवि मम समीवं आअन्तञ्चनि । तदो मए महाराज-विओअ-भीरुदाए जादमेत्तो एअ विज्जागमणिमितं भअवदो चवणस्स अस्तमपदे अज्जाए सच्चवदोए हथ्ये अप्पआसं णिट्ठिवन्नो । अज्ज पिदुणो आराहण-समथ्यो सबुत्तोत्ति कलअन्नीए णिज्जादिदो मे दीहाऊ । ता एत्तिओ मे महाराएण संवासो । [पदैव मम प्रियसखो राजपिस्त्वयि समुत्पन्नस्य वंशकरस्य मुखं प्रेक्षिष्यते तदा त्वया भूयोऽपि मम समीपमागन्तव्यमिति । ततो मया महाराजविरोगभावनया जातमात्र एव विद्यागम निमित्तं भगवतश्चपवनस्थाश्रमपदे आर्यायाः सत्यवत्या हस्तेऽप्रकाशं निक्षिप्तः । अद्यपितुराधन समयः संवृत इति बलयन्त्या निर्यातितो मे दीर्घायुः । तदैतावान्मे महाराजेन संवानः]

(सर्व विषादं रूपयन्ति)

राजा—(ननिःश्वासम्) अहो सुख प्रत्ययिता दैवम्य !

आशवासितस्य मम नाम सुखोपलब्ध्या
सद्यस्त्वया सह कृशोदरि विप्रयोगः ।

व्यावर्तित, परुजः प्रथमाभ्रवृष्ट्या

वृक्षस्य वैद्युत इयानि कृतस्त्वनोऽयम् ११६।

व्याख्या—उर्वशी—शृणोतु महाराजः । प्रथम पुन पुत्रदग्नेन विस्मृताऽस्मि विस्मृतवती । इदानी महेश्वरस्य पुरन्दरस्य सकीर्तनेन नामरणनेन ममयः कालावधि मम हृदयम् आयासयति पीडयति ।

राजा—कथयता सूचयता समय. शपथ. कालावधिर्वा ।

उर्वशी—अहं पुरा पूर्वकाले महाराजेन गृहीत वशीकृत हृदय मस्याः सा महाराजवशीकृतचित्ता मन्त्रेण आज्ञापिता ।

राजा—किमिदं किमाज्ञापितवती ।

उर्वशी—यदा एष मम प्रियसख प्रियमित्र राजपि त्वयि समुत्पन्नस्य जातस्य वशकरस्य कुलप्ररोहस्य मुख प्रेशिष्यते द्रक्ष्यति तदा त्वया भूरोऽपि मम समीपमागन्तव्यमिति । तत तदन्तर मया महाराजस्य वियोगस्तस्माद् भीष्टा तया तव वियोगो मा भूदिति कारणेन जातएवेति जानमान एव विद्यायाः आगम प्राप्तिस्तस्य निमित्तं भगवतः पूज्यस्य च्यवनस्य आश्रमगते आर्यायाः सत्यवत्या हस्ते तत्सन्निध्येऽप्रकाश गुप्तरूपेण निक्षिप्तं निहितो न्यासरूपेण । अद्य पितु आराधने शमर्थं. तत्सेवायोग्यं. संबृत्त इति कलयन्त्या विचारयन्त्या निर्यासितो प्रत्यर्पितो मे दीर्घायु । तदेतावान् मे महाराजेन स वास एतावन्त काल यावन्मे भवता सह निवास । (सर्वे विपाद शोक रूपयन्ति प्रकटयन्ति)

राजा—(नि श्वासेन सहेति मनि श्वासेम्) अहो इति दुःखं, भिव्यञ्जम् । सुखस्य प्रत्यर्थीविरोधी इति सुखप्रत्यर्थी तस्य भाव. सुखप्रत्यर्पिता देवस्य । देव न कस्यापि सुखातिशय सहते ।

आश्वासितस्येति—कृश धीणमुदर मध्यभागो यस्या सा कृशोदरो तत्संबुद्धो । हे कृशोदरि सुतोपलब्ध्या पुनप्राप्तया आश्वासितस्य प्राप्त परितोपस्य नाम मम त्वया सह अयं विप्रयोग विरह प्रथमा चासी अत्र वृष्टि मेघवर्ष- तया नूतन मेघवर्षेण व्यावृत्ता दूरीकृता आतपस्य धर्मस्य एक कष्ट यस्यासी व्यावृत्तापरूपेण तस्य निवर्तित निदाघ पीडस्य वृक्षस्य विद्युतोऽयमिति बंधुतः विद्युत्सम्बन्धी अग्नि इव उपस्थितः । यथा नव मेघेन कृते ईषद् वर्षणे वृक्षस्य सूर्यातप कष्टो दूरी भवति पर तदंबोऽस्थित तद्विज्ज्याऽग्निस्त्रासाय कल्पते तथैव पुत्रप्रप्त्या मम अनन्यता कष्टे दूरीकृते तत वियोगो महते कष्टाय आपतितः । वसन्ततिलवावृत्तम् । १६।

धनुवाद—उर्वशी—सुनिये महाराज ! पहले तो पुत्र का फिर से देखकर भूल गयी थी। अब इन्द्र का नाम लने से वह वचन भरे हृदय को बरट दे रहा है।

राजा—वचन बतलाइये तो।

उर्वशी—महाराज, पहले जब मेरा हृदय आप में आमवत हो गया था तो महेन्द्र ने आज्ञा दी थी।

राजा—क्या आज्ञा ?

उर्वशी—जब यह मेरा प्यारा मित्र राजपि तुम में उ पत्र पुत्र का मुख देने तो तुम फिर से मेरे पास आ जाना। तो मैंने महाराज के वियोग के डर से पैदा होते ही इसे विशाग्रहण के लिए भगवान् च्यवन के आश्रम में आर्या सत्यवती के हाथ में चुपचाप सौंप दिया। पिता की सेवा के योग्य हा गया जानकर आज उन्होंने मेरा दीर्घायु लौटा दिया। तो मेरा आपके साथ इतना ही सहवास था।

(सब शोक प्रदर्शित करते हैं)

राजा—(लम्बी साँस छोड़कर) ओफ ! देव भी सुख का कितना विरोधी है !

हे कृशोदरि ! जब मैं पुत्र की प्राप्ति से आस्वास्तित हुआ तो तुरन्त ही तुम्हारे साथ वियोग (उपस्थित) हो गया। यह तो ऐना ही हुआ जैसे बादल की पहली वर्षा में वृक्ष का आतप (धूप) का कण्ट दूर हो जाय पर उस पर विद्युत् की आग गिर पड़े। १६।

टिप्पणी—महाराज गृहीतहृदया—महान् राजा, महाराज। 'राजाहं सक्तिम्यष्टच्' से टच प्रत्यय और टि लोप हा कर अकारान्त 'महाराज' बन जाता है। महाराजेन गृहीत हृदय यस्या सा।

सुख प्रत्यर्थिता—सुख प्रत्यर्थयते स सुखप्रत्यर्थी (सुख का विरोधी) तस्य भाव सुखप्रत्यर्थिता।

त्वया सह—विप्रयोग के साथ प्राय यो भी तृतीया का प्रयोग हाता है।

प्रथमाभ्रवृष्ट्या—अभ्राणा वृष्टि अभ्रवृष्टि। प्रथमा चासौ अभ्रवृष्टिः प्रथमाभ्रवृष्टिः तया।

व्यावर्तिना तपहज — व्यावर्तिता (वि + आ + वृत् + क्त + टाप)

व्यावर्तस्य ह्यक् यस्य स, तस्य ।

वैद्युत — विद्युत अयम वैद्यत ।

इस श्लोक में सुखापलाधि की प्रथमाभ्रवृष्टि से, आश्वासितस्य की व्यावर्तिता तपहज से और उवशी के वियोग की विद्युत की अग्नि से उपमा दी गयी है ।

मूलपाठ—विद ०—अअ सो अथ्यो अणथथाणवन्धो स वुत्तो । स पद तक्केमि तत्तभवदा वक्कल गेण्हअ तवोवण गन्दवति । [अय सोऽर्थोऽनर्थान्बन्ध स वृत्त । साप्रत तकयामि तत्रभवता वक्कल गृहीत्वा तपोवन गन्तव्यमिति]

उर्वशी—मपि मन्दभाङ्गि किदविणअस्म पुत्तस्स लाभान्तर सम्मारोहणेग अवसिदकज महाराओ समथ्येदि । [मामपि मन्दभागिनी कृतविनयस्य पुत्रस्य लाभान्तर स्वर्गारोहणेनावसितकार्या महाराज समर्थयत]

राजा—सुन्दरि ! मा मैवम्—

नहि सुप्रभवियोगा कतुं मात्मप्रियाणि
प्रभवति परवत्ता शासने निष्ठ भतुं ।

अहमपि तत्र भूनावागुपि न्यस्तराज्यो,

विचरित मृग यूथान्याश्रयिष्ये वनानि । १७।

कुमार — नार्हति तात पु गवधारिताया धुरि दम्य नियोजयितुम् ।

राजा—अपि वत्स ।

शमयति गजानन्यान् गन्धद्विप कलभोऽपिसन्,

भवति सुतरा वेगोदप भुजङ्गशिशोर्विषम् ।

भुवमधिरनिर्वाल्यावस्थोऽप्यल परिरक्षिनु,

न खलु वयसा जात्यैवाऽप स्वकार्यं सहोभर । १८।

सातस्य, मद्बननादमात्य परिपद ग्रूहि सन्निशनामायपो राज्या-
भिषेक इति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति दुःखितो निष्क्रान्तः)
(सर्वे दृष्टिप्रविधात रूपयन्ति)

व्याख्या—विदू०—अय स. अयं. सुतोपलिधिरूप अनर्थं त्वद्वियोगरूपम्
अनुबध्नातीति अनर्थानुबन्ध. सवृत्त. । साप्रत तर्कयामि चिन्तयामि तत्रभवत्त
वत्कल परिब्राजकवेप गृहीत्वा तपोवन गन्तव्यम् तपसे यातव्यम् ।

उर्वशी—मामपि मन्दमाग्नी हतमाग्या कृत-विनयस्य सम्पन्नदृष्टस्य
गृहीतविद्यस्य पुत्रस्य लाभान्तर प्राप्ते पश्चात् स्वर्गारोहणेन स्वर्गं प्रति
गमनेन अवसित समाप्त कार्यं यस्या साताम् महाराज नमयंयते मन्यते ।
सुनिश्चितस्य पुत्रस्य प्राप्तेरनन्तर कृतकार्याऽहं समान-सुख-दुखा स्वर्गं जिगमि-
पुरिति मन्यते महाराज किम् ? “विनय प्रणतौप्राहु शिक्षाया विनयोमत”
इति विश्वश्लोचन ।

राजा—ना मैवम् न। एव मस्याः । नहीति—नूलभ मुक्तर प्रतिक्षण
सभाज्यो वियोगोयस्या ना एवविधा परवत्ता पराधानता आ मप्रियाणि स्वमना-
जुक्त्वानि कायागि कर्तुं न प्रभवति पराधीनो जनो स्वमनोनुकूल कर्तुं
न पारयति । अनाज्नेन हेतुना त्व भर्तुरिन्द्रस्य शासने आज्ञाया तिष्ठ ।
तदाज्ञानुसारेण आचर । अहमपि तव सूती पुत्रे आयुषि न्यस्त नमपि न राज्य
शासनमारो येन न एवविधः मन् राज्यमारमायुषि आरोप्य विचरितानि
स्वैर भ्रमन्ति मृग मूषानि हरिणकुलानि येषु तानि तादृशानि वनानि
आश्रयिष्ये । प्रास,द त्यक्वाऽरण्येषु निवत्स्यामि । मालिनीवृत्तम् । १७।

कुमार.—नाहंति तान न युज्यते भवत. पुद्गवं श्रेष्ठः नृपेधारिताया
मूढाया धुरि दम्य वमत्त नवं वृषभ नियोजयितुम् । राज्यस्य धूमहोऽरेव
धारयितु योग्या न दम्ये. 'दम्योवत्तरो ममी' इत्यमर. । वान्य-सौवनयो-
मेष्ये वर्तमानो गडट-वह्नानुभवहीनो गौर्दम्य' बध्यते । दम दमन (गडटन्)
अहंनोतिदम्य । उक्तश्च रघुवने (६-७८) “गुर्वो धुरयोमुनस्य पित्रा धुर्येण
दम्यः सद्ग विनति ।”

राजा—अपि वरु ! शमयतीति—गन्ध प्रधानो द्वियोगन्धद्विपः गन्धजः
शमनापि पायकोऽपि मन् अन्यान् सामान्यान् गजान् शमयति परभवति ।

भुज वक्र गच्छति भुजङ्गः सर्वस्तस्य दिशुस्तस्य विष वेगेन उदग्रमिति सुतरा
 सहजतया वेगादय वेगः उदग्र भयङ्कर शीघ्र विसर्पि भवति । शिशोरपि
 सर्वस्थ विष मारणाय प्रभवति । शरीरे सप्तवातवः सन्ति । ते च "रसाऽगृहमास-
 भेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः । इति वाग्भटे वर्णिताः । तत्र "वातो घृत्विन्तर-
 प्राग्धिष्विवेग इति स्मृत ।" एव विषवेगादपि सर्पतं भवन्ति । सतमे चमृतिः
 यथावाल्लोऽपि गन्धगजोऽन्यान् गजान् पराजयते, यथा च बालस्यापि सर्वस्य
 विष भयङ्करेण वेगेण प्रसरति तथैव बालस्य अवस्था यस्य स बालवस्थो बाल्ये
 वर्तमानोऽधिपति राजा भुव परि रक्षितु पालयितुमल शक्नो भवति । अय
 भर एष अतिशय. 'अनिशयो भरः' इत्यनर अय । महिमातिनयः जात्यैव
 जन्मैव स्वकार्यं सहते इति स्वकार्यं सह आत्मकार्यक्षमो भवति न तु वयसा
 आयुषा स्वकार्यं सहो भवति । यथोक्तं रघुवक्त्रे (११-१) 'तेजसा हि न वयः
 न्माक्षयते" इति । अर्थात्तरन्यासोऽलङ्कारः उत्तरार्धे । पूर्वार्धस्य उत्तरार्धे
 प्रतिविम्बनाद् दृष्टान्तालङ्कारः । हरिणोवृत्तम् । तल्लक्षणतु "रस युग ह्ये स्तो
 म्प्रो स्तो मा यदा हरिणा तदा ।" इति । १८।

लातय्य वञ्चुकिन् मद वचनान्नम, जयाऽमात्याना परिपद त्रूहि सधियता
 सञ्ची क्रियताम् (सम्-म् + कर्मणिलोट्) आयुषो राज्येऽभिपेक् इति ।

(मर्वे मन्त्रस्या नृपादयो दृष्टेः प्रविधान अन्धत्वावस्था दर्शनाक्षमत्वं वा
 रूपमग्नि)

अनुवाद—विदू०—नो इस बात के साथ अनर्थ जुड़ गया । मैं साचना हूँ
 कि अब आपको बल्लल लेकर तरावन चले जाना चाहिये ।

उर्वशी—क्या महाराज समझते हैं कि मुनिदत्त पुत्र के मिल जाने के
 बाद स्वर्ग चढ़े जाने से मेरा भी काम समाप्त हो गया ?

राजा—सुन्दरि ! नहीं, ऐसा नहीं —

पराधीनता में मनुष्य मनचाहे काम नहीं कर सकता । उसने विवाह
 करलता से हो जाता है । तुम मालिक की आज्ञा का पालन करो । मैं भी
 तुम्हारे पुत्र आयुष् पर राज्य का भार छोड़ कर उन वनों में जाऊँ रूढ़्या जहाँ
 गया के मुण्ड विवरण करते हैं ।

कुमार—पिता जो, जिस धुरी को बड़े दौलो ने धारण किया हो उसमें बछड़े को जोड़ना ठीक नहीं है।

राजा—अरे बेटा—

गन्ध-हस्ती छोटा बच्चा होते दृये भी अन्य हाथियों को ठण्डा कर देता है। नाँप के शिशु के भी विप का वेग सहज ही भयकर है। राजा बाल्यावस्था का हो तो भी पृथ्वी का रक्षण करने में समर्थ होता है। अपने कार्य को पूरा कर सकने की यह शक्ति जन्म से मिलती है, आयु से नहीं। १८।

टिप्पणी—अयंसोऽर्थो...संवृत्तः—प्रमानभाव के लिये देखिये शाकु० (६४ अङ्क) “वयस्य रन्ध्रोपनिपातिनोऽन्या इति यदुच्युते तदव्यभिचारि यचः।”

तत्रभवता—इस कथन में विदूषक राजा का उपहास करता है यद्यपि उसका कथन असङ्गत नहीं है।

सुलभ-वियोगा—सुलभो वियोगो यस्याम् सा। परवृत्ता का (परवत्-पराधीन का-भाव.) विशेषण है।

विचरित-मृग-यूथानि—विचरितानि मृगयूथानि येषु तानि। द्वितीया विभक्ति बहुवचन का रूप है। ६ नानि का विशेषण है। अर्थात् वे वन जिनमें मृगों के झुण्ड विहार करते हैं।

पुंगवधारितायाम्—नुमाश्रासौ गो. इति पुगवः तेन धारिता। तस्याम्। दमनमर्हति स. दम्य.।

गन्धद्विपः—जिम हाथी की गन्ध को सूँघ कर विरोधी हाथी उसके सामने से भाग जाने हैं वह गन्धद्विप कहा जाता है।

वेगोदग्रम्—वेग से भयकर। विपवेग का लक्षण यह है—घातोर्धात्वन्तर-प्राप्तिविपवेग इति स्मृतः।

मूलपाठ—राजा—(आकाशमवलोक्य) किं नु खलु निरभ्रे विद्युत्-संपातः।

उर्वशी—(विलोक्य) अम्मो भअवं नारदो। [अहो भगवान् नारदः]

राजा—अये भगवान् नारदः । य एष—

गोरोचना-निकप-पिङ्ग-जटाकनारः

संलक्ष्यते शशिकना मलवीन सूत्रः ।

मुक्तागुणातिशय-संभृत मण्डनश्रो-

हम-प्ररोह इव जङ्गम-कलवृक्षः ।१६।

अर्घ्यमस्मै ।

उर्वशी—(यथोक्तमादाय) इअं भगवदे अरिहणा । [इयं भगवनेऽर्हणा]

(ततः प्रविशति नारदः)

नारदः—विजयता मध्यमलोकपालः ।

राजा—(उर्वशी हस्तादर्थ्यमादायावर्ज्यं) भगवन्नभिवादये ।

उर्वशी—भअवं पणमामि । [भगवान् प्रणमामि]

नारदः—अविहिनो दम्पती भूयास्ताम् ।

राजा—(आत्मगनम्) अपि नामैव स्यात् । (प्रकाशम् कुमारमाश्लिष्य)

यत्न, भगवन्नमभिवादयस्व !

उर्वशी—(विलोक्य) अये भगवान् नारदो न तु विद्युत्तपात् ।
तेजस्वितया स विद्युदिव भामते । एवमेव ।

राजा—अये इत्याश्रये भगवान् नारद । य एष —[शिमुनालववेजि
नारदस्य मनोरम वर्णन लभ्यते ।]

गोरोचनेति—गोराचनाया निरूप कपपापण लक्षणया तत्क्षारेखा,
तद्बन् पिङ्गो जटाकलापो यस्य सः । गोरोचना हि पीनोद्बला भवति नारदस्य
जटाजूटोऽपि पि एव । शशिन कला इव अमल बोनमून यतीनवीनं यस्य सः
सुग्रोपधीतघारी, मृत्तागुर्णं मौक्तिकमरेः अनिशयेन अत्यन्त समृता सनीवृता
मण्डनो भ्रूषणशामा यस्य स मौक्तिकैरनिशयेन भूपिन सर्वाङ्गः ! अय नारद.
हेम्न इव प्ररोहाः शाखा यस्य स एव विद्यो उद्गम गति गोल कृत्ववृक्षइव लभ्यते ।

अभ्यै अर्घ्यम् अर्घ्योर्मुदकम् दीयताम् । अर्घ्यं पूजा 'पादार्घ्या च'
(५-४-२५) इति यत् । गन्धमात्यादि सद्युक्तमुदकमर्घ्यं भवति । यथोक्तं
“वापः क्षीर कृशाग्र च दधिसपि सतपुलम्—यव सिद्धार्थन्दचंदाप्टाङ्गाङ्घ्रि-
प्रवीतितः ।

उर्वशी—(पथोक्तमर्घ्यमादाय) इय भगवते तुभ्यन् अहंणा पूजाविधिः ।
(सत प्रविशति नारद)

नारद —विजयता मध्यमरचासो लोकः पृथ्वी त पालयतीति मध्यमनोक्त-
पालः पृथ्वीपतिः ।

राजा—(उर्वशी हस्तादर्घ्यमादाय स्वहस्ते गृह्णत्वा आर्घ्यं समर्प्य च
तस्मै) भगवन् अभिवादये प्रणमामि ।

उर्वशी—भगवन् प्रणमामि ।

नारदः—प्रविरहितो अविमुक्तो दम्भता यूवा भूपासनाम् । अत्र अविरहितो
इत्यादि कार्यस्य सिद्धत्वान् कार्यं नाम पञ्चमी अर्थप्रकृति ।

राजा—(आत्मगतम्) अरि नाम एव स्यात् कदाचिद्वियोग- समवेत् ।
(प्रवासम् कुमारम् आश्लिष्य परिस्वग्य) वसु भगवन्त नारदम् अभिवादयस्व
प्रणम ।

कुमार.—भगवन् उर्वस्या अल्पमि योर्वसेजः आनूः प्रामति ।

नारदः—आयुष्मान् एषि विरहोवी भवितुं कथंस्व ।

वि० उ० १८

राजा—अथ भगवन् नारदः । य एष —

गोरोषता-निषय-रिङ्ग-त्रयावयावः

गंलदपने शशिन रा मलवीन मूरः ।

मुषनागुलातिशय-गंभूत मण्डनधो-

होम-प्ररोह इव जङ्गम-व्यावृत्तः । १६।

अर्घ्यमर्म्म ।

उर्वशी—(यवोषनमादाय) इभं भद्रवदे धरिहला । [इयं भगवतेऽर्घ्या]

(ततः प्रविशति नारदः)

नारदः—विजयता मध्यमलोषणामः ।

राजा—(उर्वशी हस्पादार्घ्यमादायावर्ज्यं, भगवन्नभिवादे

उर्वशी—भद्रव पणमापि । [भगवान् प्रणमापि]

नारद —प्रविहितो दम्पती भूषाम्नाम् ।

राजा—(आत्मगतम्) अपि नामैव म्यात् । (प्रकाशम् कुमारमागित्वा)

वर्ग, भगवन्तमभिवाद्यम्य ।

कुमारः—भगवन्नावशेय आयुः प्रणमति ।

नारदः—आगुप्मानेषि ।

राजा—अथ विष्टरोऽनुगृह्यताम् । (नारदस्तथोपविष्टः । सर्वे नारद-
मनूपविशन्ति)

नारदः—राजन् श्रयता महेन्द्रसन्देशः ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

नारदः—प्रभावदर्शी मधरा वनगमनाय कृत्वुद्धि भवन्तमनुशान्ति-

राजा—किमाज्ञापयति ।

नारद —श्रितालदाशिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरानुर नङ्कारोमात्री ।

भवाश्च सायुगानः महाद्यो न नत्र रत्वया शम्भ नन्पन्नन्म । इयं

चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति ।

व्याख्या—राजा—(अज्ञानमवलोक्य) किं नु खनु इत्याश्चर्ये निरभे
अभरहिते मेघविरहित आकासे विद्युत् सम्पात पतनम् । नहि निरभे आवासे

विद्यत् प्रकाशेताज्जपेदमाश्रयम् ।

उर्वशी—(विलोक्य) अये भगवान् नारदो न तु विद्युत्प्रपात ।
तेजस्वितया स विद्युदिव भासते । एवमेव ।

राजा—अये इत्याश्रय्ये भगवान् नान्द । य एष —[शिशुपालवधेऽपि
नारदस्य मनोरम वर्णनं लभ्यते ।]

गोरोचनेति—गोरोचनाया निकृप कृपपाप ण लक्षणयः तत्सवारिखा,
तद्वन् पिङ्गो जटाकलापो यस्य सः । गोरोचना हि पीतोद्गम्य भवति नारदस्य
जटाजूटोऽपि पिङ्गो एव । शशिन कला इव अमल दोतमूत्र यज्ञोपवीतं यस्य सः
शुभ्रोपवीतधारी, मृत्तागुणं मौक्तिकमरैः अतिशयेन अत्यन्त सभृता सजीवृता
मण्डनी भूषणशोभा यस्य स मौक्तिकैरतिशयेन भूषित सर्वाङ्गः । अयं नारद
हेम इव प्ररोहाः शाखा यस्य स एव विधो जङ्गम गति गिल कल्पवृक्ष इव लक्ष्यते ।

अन्मै अद्वयम् अर्घ्याः मुदकम् दीयताम् । अर्घ्यं पूजा 'पादाघाम्या च'
(५-४-२५) इति यत् । गन्धमाल्यादि समुक्तमुदकमर्घ्यं भवति । यदोक्तं
“आपः क्षीरं कुशाग्रं च दधिसर्पि सतप्लुलम्—यव सिद्धार्थं करचैवाण्डाङ्गोऽर्घ्यं
प्रवीतितः ।

उर्वशी—(यदोक्तमर्घ्यंमादाय) इयं भगवते तुभ्यम् अहंणा पूजाविधि ।
(तत्तं प्रविशति नारद)

नारद—विजयता मध्यमश्चासौ लोक पृथ्वी तं पालयतीति मध्यमलोक-
पालः पृथ्वीपतिः ।

राजा—(उर्वशी हस्तादर्घ्यंमादाय स्वहस्ते गृहीत्वा आवर्ज्यं समर्घ्यं च
तस्मै) भगवन् अभिवादनं प्रणमामि ।

उर्वशी—भगवन् प्रणमामि ।

नारदः—प्रविरहितो अवियुक्तो दम्भता यूवा भूयास्नाम् । अत्र अविरहितो
इत्यादि कामस्य सिद्धत्वात् कार्यं नाम पञ्चमी अर्थप्रकृति ।

राजा—(आत्मगतम्) अपि नाम एव स्यात् वदाद्विवियोगं समवेत् ।
(प्रकाशम् कुमारम् आश्लिष्य परिस्वज्य) वत्स भगवन्तं नारदम् अभिवादनं च
प्रणम ।

कुमार.—भगवन् उर्वश्या अत्यमित्योर्वशेयः आयुः प्रणमति ।

नारदः—आयुमान् एधि विरञ्जीवी भवितुं वर्षस्व ।

राजा—अयं विष्टरो अनुगृह्यताम् आसने उपविश्यताम् । (नारदस्तथा विष्टरे उपविष्टः । नारदमनु सर्वेऽपि उपविशन्ति) 'विष्टरः कृशमृष्टो स्यादाह,तेऽपि महोरहे ।' अनु इत्यञ्—

नारद—राजन् महेंद्रस्य पुरन्दरस्य संदेशं श्रूयताम् । धर्मं प्रवचनीयो नतूपसर्गः ।

राजा—श्रोतुम् अवहितं सावधानोऽस्मि ।

नारद—प्रभावेण दिव्यं शक्त्या पर्यनोति प्रभावदर्शी सर्वप्रत्यक्षकारी मधवा इन्द्र वनगमनाय कृता बुद्धियेन तम् वनं गन्तुं कृतनिश्चयं भवन्तं अनुशास्ति आदिशति—

राजा—किंमाज्ञापयति किं कर्तुं मामादिशति ?

नारदः—भयं कालं भूतं वर्तमानं भविष्यदात्मवा इति त्रिकालास्तान् पश्यन्तीति त्रिकालदर्शिनस्त्रैः मुनिभिरादिष्टः पूर्वतः सूचितः सुरामुर-सग्रामो देवामुरसङ्गरो भावी भविता । भवाश्च नोऽस्माकं सायुगोतं सयुगे युद्धे साधुरिति 'प्रतिजनादिभ्यः खञ्' (४-४-१९) इति खञ् । सहायः । तेन त्वया शस्त्रं सन्त्यस्तव्यं व्यक्तं यम् । सम् + नि + अत् + तस्य । द्वयं च उर्वशी यावदायुः जीवन्पर्यन्तं तव रहधर्मचारिणी धर्मपत्नी भवतु इति ।

अनुवाद—राजा—(आकाश को देखकर) अरे ! बिना बादल के यह बिजली का गिरना कैसे ?

उर्वशी—अरे ! भगवान् नारद !

राजा—अरे भगवान् नारद है ! इनका जट-जूट कसौटी पर खींची हुई गोरोचना की रेखा के समान पीला है । यज्ञोपवीत चन्द्रबला के सामान्य श्वेत है । मोतियों की मालाओं से इनका सौन्दर्य श्री और भी बढ़ गया है । ये सोने की शाखाओं वाले चलते-फिरते कल्पवृक्ष से दिखाई दे रहे हैं । इनके लिये अर्घ्य (पूजा-सामग्री) लाओ ।

उर्वशी—(यथोक्त अर्घ्य द्रव्य लेकर) यह रही भगवान के लिये पूजा-सामग्री । (तब नारद आते हैं)

राजा—(उर्वशी के हाथ से अर्घ्य लेकर भेंट करते हुये) अभिवादन करता हूँ, भगवन् !

उर्वशी—भगवन् प्रणाम करती हूँ ।

नारद—आप दोनों पति-पत्नी सदा अवियुक्त (एक साथ) रहें ।

राजा—(मन में) काश ऐसा होता ! (स्पष्ट कुमार का आलिङ्गन करके)
बेटा, भगवान को अभिवादन करो ।

कुमार—भगवन्, उर्वशी का पुन आयुष् प्रणाम करता है ।

नारद—फलो-फूलो आयुष्मान् ।

राजा—यह विष्टर (बैठने का आसन) है । कृपा कोजिये । (नारद विष्टर पर बैठ जाते हैं । नारद के बाद अन्य सभी बैठते हैं)

नारद—राजन् ! महेंद्र का सन्देश मुनिये ।

राजा—मैं सावधान हूँ ।

नारद—अपने प्रभाव से (सब कुछ) देखने वाले इन्द्र ने वन-गमन के लिये वृत्त-सकल्प जान कर आप को आदेश दिया है ।

राजा—क्या आज्ञा दी है ?

नारद—त्रिकालदर्शी मुनियो ने बतलाया है कि देवासुर संग्राम होने वाला है । आप युद्ध में हमारे सहायक हैं । अतः आपको शस्त्र नहीं छोड़ना चाहिये और यह उर्वशी जीवन-पर्यन्त आपकी सहघर्मचारिणी हो ।

टिप्पणी—गोरोचना...कलाप—गोरोचनाया. निक्पः; स इव पिङ्गः
जटाना कलापो यस्य सः ।

शशिकला...सूत्र—शशिन कला; सा इव अमल वीत सूत्र यस्य सः ।

सायुगोत—सयुगे साधुरिति सायुगीनः । “प्रति जनादिभ्यः खर्”
४-४-९९ से सयुग के आगे खर् प्रत्यय होता है ।

मूलपाठ—उर्वशी—(अपवार्यं) अम्महे सल्लं मे हिअ आदो अवणीदं
विआ [अहो शल्य मे हृदयादपनीतमिव]

राजा—परमनुगृहीतोऽस्मि देवेश्वरेण ।

नारदः—युक्तम्—

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टमाचरेः ।

सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा । २०।

(आकाशमवलोक्य) रम्भे उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमार-
स्यायुषो यौवराज्याभिषेकः ।

(प्रविष्टा यथोक्तहस्ता अप्सरसः)

अप्सरसः—भवं इमे अभिसे असंभाराः । [भगवन्नेतेऽभिषेक-
संभाराः]

नारदः—उपवेश्यतामायुष्मान् भद्रपीठे ।

रम्भा—इदो वच्छ । [इतो वत्स] (कुमारमुपवेशयति)

नारदः—(कुमारस्य शिरसि कलशमावर्ज्यं) रम्भे, निवर्त्यता
शोषोविविः ।

रम्भा—(यथोक्तं निवर्त्यं) वच्छ प्रणम भववत्त मादा पिदरे अ ।
[वत्स प्रणम भगवन्तं मातापितरौ च]

(कुमारो यथाक्रम प्रणमति)

नारदः—स्वस्ति भवते ।

राजा—कुलधुरन्धरो भव ।

उर्वशी—पिदुषो आराधइत्तओ होहि । [पितुराराधयिता भव]

व्याख्या—उर्वशी—(अपवार्यं एकान्ते) शल्य शङ्कुत्वि हृदयाद् अपनीत
निष्कासितम् ।

राजा—परमत्वयम् अनुगृहीत उपवृत्तोऽस्मि परमेश्वरेण महत्त्वता ।

नारदः—पुक्तम्—त्वत्कार्यमिति—वासव इन्द्रः तव कार्यमिति
त्वत्कार्यं कुर्यात् । त्व च तस्य इष्ट करोति इति इष्टकृत् भूयाः । स तवाभि-
लपित सम्पादयेत् त्व च तस्य । सूर्यं अग्निं सम्बर्धयति अग्निश्च स्वतेजसा
सूर्यं सम्बर्धयति "आदित्योवाऽस्त यन्नग्निमनुप्रविशति अग्निर्वाऽऽदित्य साय
प्रविशतीति" धृतिः । अत्र दृष्टान्तालङ्कारः । अनुष्टुप्वृत्तम् (आकाशमवलोक्य)
रम्भे उपनीयतामन्नानयता स्वयं महेन्द्रेण संभृतः सञ्जीकृत्य प्रदत्त
कुमारस्य । २० ।

आयुषयौवराज्याभिषेक. यौवराज्येऽभिषेकस्य सामग्री । (प्रविष्टा यथोक्त
हस्ता हस्तेन अभिषेकं सामग्रीमानयन्ती रम्भादयः अप्सरसः ।

अप्सरसः—भावनेते अभिषेकभाराः अभिषेकस्य साधनमूत्रानि
द्रव्याणि तानि च विल्व वल्मीकमृत्तिकाऽऽरसादीनि ।

नारदः—देवीपुराणेष्वुक्तम् “हैम च राजन ताम्र क्षीरवृक्षनम च वा
भद्रासन प्रवर्तव्य साधं हस्त समुच्छ्रितम्-समाद ह्यनमान च राज्ञो माण्डलि-
कान्तरात्” इति । एव परिमाणानुसारेण विरचिते भद्रपीठे शुभे आमने
उपवेश्यतामायुष्मान् ।

रम्भा—इतो वत्स, अत्रागत्य भद्रपीठे उपविश । (कुमारमुपवेशयति)

नारद —(कुमारस्यशिरसि कलश मन्त्रपूत तीर्थजलपुत्र घट आवर्ज्यं
(समर्प्यं) रम्भे निवर्त्यना पूर्णो क्रियता शेषोऽवशिष्टो विधिः शास्त्रोक्त
विधानम् ।

रम्भा—यथोक्त नारदवचनानुसारेण शास्त्रविहित विधि निर्वर्णं (सम्पद्य)
वत्स प्रणम भगवन्त नारद मातामित्री च । (कुमारो यमाक्रम कनसूर्वक
पूर्वं नारद ततो मातर ततः पितर प्रणमति)

नारद —स्वस्ति भवते तव कल्याण भूयात् ।

राजा—कुलधुरन्धरो भव, कुल-प्रतिष्ठा-मर्षादयो सरक्षको भव ।

उर्वशी—पितुराराधयिता सेवको भव ।

अनुवाद—उर्वशी—(एक ओर) मेरे हृदय से तो काँटा-सा निशाल दिया ।

राजा—देवेश्वर का बडा अनुगृहीत हूँ ।

नारद—ठीक है । इन्द्र तुम्हारा काम करें और तुम उनका इष्ट आवरण
करो । सूर्य अग्नि को प्रदीप्त करता है और अग्नि अपने तेज से उसे समृद्ध
करता है । २०।

(आकाश को देख कर) रम्भे ! स्वयं महेंद्र द्वारा प्रस्तुत की हुयी कुमार
आयुष् के यौवराज्याभिषेक की सामग्री लाओ ।

(अभिषेक सामग्री हाथो मे लिये अप्सरायें आती हैं)

अप्सरार्ये—ये रही अभिषेक की वस्तुयें ।

नारद—आयुष्मान् को भद्रपीठ पर बैठाओ ।

रम्भा—बेटा, इधर (बैठो) । (कुमार को बैठाती है)

उर्वशी—अं साधारणो एसो अभ्युदयो । (कुमार हस्ते गृहीत्वा)
एहि वच्छ जेठ मादर अभिवन्देहि । [ननु साधारण एषोऽभ्युदयः ।
(कुमारं हस्ते गृहीत्वा) एहि वत्स ज्येष्ठ मातरमभिवन्दस्व]

राजा—तिष्ठ । सममेव तत्रभवत्या समीपं यास्यामस्ताम् ।
(कुमारः प्रतिष्ठने)

नारद —आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्यने ।

अभिपिबत महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता ॥२३॥

व्यारया—(नेपथ्ये वैनालिको कालबोधको स्तुतिपाठको)

प्रथम—युवराजो विजयताम् । 'विजराभ्या जे' (१-३-१९) इति
विपूर्वकोजिघात्परात्मनेपदे प्रयुक्तः ।

नारद—(कुमार के सिर पर कलश (जल) डाल कर) रम्भे । शेष विधि पूरी करो ।

रम्भा—(नारद के कथनानुसार विधि पूरी करके) बेटा भगवान् (नारद) और माता पिता को प्रणाम करो ।

(कुमार क्रमानुसार प्रणाम करता है)

नारद—आपका कल्याण हो ।

राजा—कुल के घुरन्धर बनो ।

उर्वशी—पिता के आराधक बनो ।

टिप्पणी—सूर्याः समेधयति—ऐसी श्रुति है कि अस्त को जाता हुआ सूर्य सायंकाल में अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है और अग्नि आदित्य में । इस श्लोक में दृष्टान्तालङ्कार है । “दृष्टान्त पुनरेतेषा सर्वेषा प्रतिबिम्बनम् ।”

भद्रपीठे—धार्मिक कृत्यों के लिये सोने, चाँदी, ताँबे या क्षीरी वृक्ष (पीपल, वट आदि) की लकड़ी का बनाया हुआ सवा या डे' हाय ऊँचा आसन भद्रपीठ कहलाता है ।

मूलपाठ—(नेपथ्ये वैतालिकौ)

प्रथमः—विजयता युवराज

अमर मुनिरिवात्रिभ्रंहाणोऽत्रेरिवेन्दु-

बुध इव शिशिराशोर्बोधनस्येव देव ।

भवपितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोकवान्तै-

रतिशयिनि समाप्ता वंश एवाशिपस्ते ।२१।

द्वितीयः—तव पितरि पुरस्तादुन्नताना स्थितेऽस्मिन्

स्थितमति च विभवता त्वय्यनाकम्प्य-धैर्ये ।

अधिकतरमिदानी राजते राज्यलक्ष्मी-

हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गङ्गा ।२२।

अप्सरसः—(उर्वशीमुपेत्य) द्दिट्टिआ पुत्तस्स जुवराअ-त्तिरीए

मत्तुणो अविरहेण वद्धसि । [दिट्ट्या पुत्रस्य युवराजश्रिया भतुंरविरहेण उर्धसं]

उर्वशी—ण साहारणो एसो अम्भुदबो । (कुमार हस्ते गृहीत्वा)
एहि वच्छ जेठ मादर अभिवन्देहि । [ननु साधारण एषोऽभ्युदय ।
(कुमार हस्ते गृहीत्वा) एहि वत्स ज्येष्ठ मातरमभिवन्दस्व]

राजा—तिष्ठ । सममेव तत्रभवत्या समीप यास्यामस्ताऽत् ।
(कुमार प्रतिष्ठते)

नारद —आयुषो यौवराज्यश्री स्मारयत्यात्मजम्पते ।

अभिषिक्त महासेन सेनापत्ये भरुत्वता ॥२३॥

व्याख्या—(नेपथ्ये वैनालिका कालबोवकी स्तुतिपाठकौ)

प्रथम —युवराजो विजयताम् । 'विजयाम्या जे' (१-३-१९) इति
विपूर्वकोजिघातुरात्मनेपदे प्रयुक्त ।

अमरेत्यादि—सप्तब्रह्मण अमामुनिदेवपिरत्रिरिव, अत्र इन्द्रिव,
शिशिरा शीतला अश्व किरणा तस्य स तस्य शिशिरागारिदाबुधश्च,
बोधनस्य बुधस्य देव पुहरवा इव त्व लोकान्तं जनप्रियं गुणं पितुजनकस्य
अनुरूप पितुगुणानुवर्ती भव । ते अतिसयिनि सवाधिकोत्कृष्टशालिनि वश
सर्वाअशिष एव समाप्ता । तव पितरि सवगुण-समृद्धिप वनमानामु नाधिक
तराम्याज्जकाशो य अशीभि पूर्येत् । स म्प्रत सवश्रियोधि गमात्रिरवकाश। आशिष
पौनरुक्त्यमेव भजन्ते । तन त्वमपि पूवजवन् पितु सदृशाभवेत्येवाशी पर्याप्ता ।
अयमेव भावा रघुवशेऽपि लभ्यते— आशास्यमन्यत् पुनरुक्त भूत श्रयानि सर्वाण्य-
धिजम्पुपस्ते-पुत्र लभत्वात्मगुणानुरूप भव-मीडय भवत पितेव' इति ।
मालोपमालङ्कार । मालिनावत्तम् ॥२१॥

द्वितीय —उत्ततानाम् उच्चै गिरसा महता पुरुषाणा पृथस्तादत्र स्थिते
विद्यमानेऽस्मिन् एव पितरि, न आकम्पयितु शक्य धैर्यं यस्य तस्मिन् अविचल
स्यैव स्थितिमक्षि मर्यादापालके त्वयित्रिभक्ता राजलक्ष्मी त्मवति हिमालये
जलानि धीयन्ते यत्र सजलधिस्तस्मिन् च व्यस्त विभक्त ताय जल यस्या सा
व्यस्त तोया विभक्त जलप्रवाहा गङ्गा इव इदानीमधिकतर राजते शोभत ।
यया गङ्गा हिमवतो निघृता समुद्र च गच्छन्ती अधिक शोभते तयैव राज्यलक्ष्मा
तव पितरि त्वयि च स्थिता शोभते तराम । अत्र उत्तताना पुरस्तादिति पद

नारद—(कुमार के सिर पर कलश (जल) डाल कर) रम्भे । शेष विधि पूरी करो ।

रम्भा—(नारद के कथनानुसार विधि पूरी करके) बेटा भगवान् (नारद) और माता पिता को प्रणाम करो ।

(कुमार क्रमानुसार प्रणाम करता है)

नारद—आपका कल्याण हो ।

राजा—कुल के घुरन्धर बनो ।

उर्वशी—पिता के आराधक बनो ।

टिप्पणी—सूर्या. समेधयति—ऐसी श्रुति है कि अस्त को जाता हुआ सूर्य सायंकाल में अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है और अग्नि आदित्य में । इस श्लोक में दृष्टान्तालङ्कार है । "दृष्टान्त पुनरेतेषा सर्वेषा प्रतिबिम्बनम् ।"

भद्रपीठे—धार्मिक कृत्यों के लिये सोने, चाँदी, ताँबे या सीरी वृक्ष (पीपल, बट आदि) की लकड़ी का बनाया हुआ सवा या डे' हाथ ऊँचा आसन भद्रपीठ कहलाता है ।

मूलपाठ—(नेपथ्ये वैतालिकी)

प्रथम.—विजयता युवराज

अमर मुनिरिवानिद्रं ह्यणोऽत्रेरिवेन्दु-

बुध इव शिशिराशोर्बोधनस्येव देव ।

भवपितुरनुरूपस्त्व गुणैर्लोककान्तै-

रतिशयिनि समाप्ता वश एवाशिपस्ते ।२१।

द्वितीय—तव पितरि पुरस्तादुप्तताना स्थितेऽस्मिन्

स्थितमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्प्य धैर्ये ।

अधिकनरमिदानी राजते राज्यलक्ष्मी-

हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गङ्गा ।२२।

अप्परस.—(उर्वशीमुपेत्य) दिट्टिआ पुत्तस्स जुवराअत्तिरीए भत्तणो अविरहेण वद्धत्ति । [दिट्ट्या पुत्रस्य युवराजधिया भतुंरविरहेण यधंमे]

उर्वशी—णं साहारणो एसो अम्भुदधो । (कुमार हस्ते गृहीत्वा)
एहि वच्छ जेठ्ठ मादर अभिवन्देहि । [ननु साधारण एषोऽभ्युदयः ।
(कुमारं हस्ते गृहीत्वा) एहि वत्स ज्येष्ठ मातरमभिवन्दस्व]

राजा—तिष्ठ । सममेव तत्रभवत्या समीपं यास्यामस्तात् ।
(कुमारः प्रतिष्ठते)

नारद.—आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजम्पते ।

अभिपिवतं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता ॥२३॥

व्याख्या—(नेपथ्ये वैनालिको कालबोधको स्तुतिपाठको)

प्रथमः—युवराजो विजयताम् ! 'विजयाम्या जे' (१-३-१९) इति
विपूर्वकोविधानुरात्मनेपदे प्रयुक्त ।

अमरेत्यादि—स्रष्टुर्ब्रह्मण अमामुनिर्वैवपिरत्रिरिव, अत्रे इन्दुरिव,
शिशिरा शीतला अश्वः किरणा तस्य स तस्य शिशिराशारिन्दोर्बुधइव,
बोधनस्य बुधस्य देव पुरुरवा इव त्व लोकवान्तं जनप्रियं गुणं पितुर्जनकस्य
अनुरूप पितुर्गुणानुवर्ती भव । ते अतिशयिनि सर्वाधिकोत्कण्ठशालिनि वशे
सर्वाअशिष एव समाप्ता । तव पितरि सर्वगुण-समृद्धिपु वर्तमानासु नाधिक-
तराम्योज्वकाशो य अशीभि पूर्येत । सम्प्रत सर्वश्रियोधि गमात्रिखकाश आशिष
पीनरुक्त्यमेव भजन्ते । तेन त्वमपि पूर्वजवत् पितुः सदृशोभवेत्येवाशीः पर्याप्ता ।
अयमेव भावो रघुवशोऽपि लभ्यते—'आशास्यमन्यत् पुनरुक्त भूत श्रेयासि सर्वाण्य-
धिजन्मुपस्ते-पुत्र लभस्वात्मगुणानुरूप भवन्मीड्य भवत पितेव' इति ।
मालोपमालङ्कार । मालिनीवृत्तम् ॥२१॥

द्वितीय —उन्नतानाम् उच्चैः शिरसा महता पुरुषाणा पुरुस्तादग्रे स्थिते
विद्यमानेऽस्मिन् तव पितरि, न आकम्पयितु शक्य धैर्यं यस्य तस्मिन् अविचल-
स्थैर्ये स्थितिमति मर्यादापालके त्वयिधिभक्ता राजलक्ष्मी हिमवति हिमालये
जलानि धीयन्ते यत्र सजलधिस्तस्मिन् च व्यस्त विभक्त तोय जल यस्याः सा
व्यस्त तोया विभक्त जलप्रवाहा गङ्गा इव इदानीमधिकतर राजते शोभते ।
यया गङ्गा हिमवतो निःसृता समुद्र च गच्छन्ती अधिक शोभते तथैव राज्यलक्ष्मीः
तव पितरि त्वयि च स्थिता शोभते तराम् । अत्र उन्नताना पुरस्तादिति पद

राजपक्षे हिमवति च तथैव स्थितमतीति। कुमारपक्षे समुद्रे चान्वित भवति श्लेषण । मालिनीवृक्षम् । २२।

अप्सरस—(उर्वशीमुपेत्य) दिष्ट्या सौभाग्येन पुत्रस्य युवराजश्रिया यौवराज्य समृद्ध्या भर्तुं पत्युदच अविरहेण वर्धसे ।

उर्वशी—ननु साधारण समान एवास्माकम् एष अम्युदय उन्नति । यथाज्य मम तथा भवतीनामपि । (कुमार हस्ते गृहीत्वा) एहि वत्स ज्येष्ठ मातरम- भिवन्दस्व प्रणम काशीराजपुत्रीम् । (कुमार प्रतिष्ठते अभिवन्दितु प्रचलति)

राजा—तिष्ठ समभेव तत्रभवत्याः समीप यास्याम गमिष्यामस्तावत् । सर्वे वय सहैव गमिष्यामः ।

नारद—ते आत्मन जातइत्यात्मजस्तस्य पुत्रस्य आयुषः यौवराज्यश्री' युवराजलक्ष्मी महत्त्वता इन्द्रेण सेनापते कर्म इति संनापत्य तस्मिन् सेनाध्यक्ष- कार्ये अभिविक्त विनियुक्त महती सेना मस्यासी महासेन कार्तिकेयस्त स्मारयति स्मृतिभवतारयति । तव पुत्रस्य यौवराज्ये प्रतिष्ठा कार्तिकेयस्य देवसेनापतिभेदधिष्ठानस्य स्मारिका । 'कार्तिकेयो महासेन शरजन्मा पडानन' इत्यमर । अनुष्टुप्वृत्तम् । २३। अत्रभाषण नाम निर्वाहण सन्ध्यङ्गमुक्त भवति ।

अनुवाद—(निपथ्य मे दो बँतालिक गाते हैं)

प्रथम—जिस प्रकार ब्रह्मा के देवमुनि अत्रि हुये, अत्रि के इन्दु हुये, इन्दु के बुध हुये और बुध के महाराज पुहरवा । इसी प्रकार तुम लोक को प्रिय लगने वाले गुणो से अपने पिता के अनुरूप बनो । तुम्हारा वश हर तरह सर्वोत्कृष्ट है । उसमे सारे आशीर्वाद समाप्त हो जाते हैं । अर्थात् और आशीर्वाद देने के लिये अवकाश ही नहीं है । २१।

द्वितीय—इस समय उन्नत लोगो मे भी प्रथम स्थान पर तुम्हारे पिता और अविचल धैर्यशाली तुम, इन दोनो दृढ लोगो के बीच बँटी हुयी राज- लक्ष्मी इस प्रकार पहले से अधिक शोभित हो रही है । हिमालय और समुद्र दोना म अल के विभक्त हो जाने पर गंगा अधिकतर शोभित है । २२।

अप्सरार्यो—(उर्वशी के पास आकर) सौभाग्य से तुम पुत्र की युवराजश्री और पति के सयोग से समृद्ध हो ।

उर्वशी—यह अम्बुदय जैने मेग है वैसे ही तुम्हारा भी । (कुमार का हाथ पकड़ कर) आओ बेटा, वडों मां को प्रणाम करो । (कुमार चल देता है)

राजा—उहरो, सब लोग एक साथ ही उनके पास चलेंगे ।

नारद—तुम्हारे पुन आगुप की यह यौवराज्यश्री मुझे इन्द्र द्वारा सेनापति के पद पर अभिषेक किये हुये कार्तिकेय का स्वरग दिला रही है । २३।

टिप्पणी—वैतनिक—राजमन्त्र में राजा को समय की सूचना देने के लिये नियुक्त स्तुतिपाठक ।

अतिशयिनि...ते—तुम्हारा वन सबसे अधिक उत्कर्षशाली है । उसमें किसी ऐसी वस्तु को नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए आशीर्वाद दिया जाय । इसलिये तुम्हें आशीर्वाद देने में यही कहा जा सकता है कि तुम पिता के अनुष्ठान बनो क्योंकि किनों भी वान में उनसे आगे बढ़ने के लिये अवकाश ही नहीं है । इस श्लोक में मालोचना बलद्भार है ।

हिमवति जलघो च—इस श्लोक में 'उन्नताना पुरस्तान् स्थिते' यह पद श्लेष द्वारा 'भित्ति' और 'हिमवति' दोनों से अन्वित होता है और उसी प्रकार 'स्थितमति' और 'अनाकम्प्यैर्वै' ये पद 'त्वयि' और 'जलघो' इन दोनों से श्लेष द्वारा अन्वित होते हैं ।

अनाकम्प्यैर्वै—न आकम्पयितुं योग्यमिति अनाकम्प्यं वैर्यं यस्य सः, तस्मिन् ।

मूलपाठ—राजा—अनुगृहीतोऽस्मि मरुत्वता ।

नारदः—किं ते भूयः पाकशासनः प्रियं करोतु ।

राजा—किमतः परमिच्छामि । तथापि यदि मे भवता प्रसन्नतर्ही-
दमस्तु ।

(भरतवाक्यम्)

परस्पर-विरोधिन्योरेक संश्रय-दुर्लभम् ।

संगतं श्री-सरस्वयोभूतयेऽस्तु सदासताम् । २४।

अपि च—

सर्वंस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वं कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु । २५।
(इति निष्क्रान्तः सर्वे)

पञ्चमोऽङ्कः समाप्तः

समाप्तमिदं विक्रमोर्वशीय नाटकम्

व्याख्या—राजा—अनुगृहीतोऽनुकम्पितोऽस्मि मरुत्वताइन्द्रेण ।

नारद—किं ते भूय पुनरपि पाकशासन इन्द्र प्रिय करोतु इष्ट
सम्पादयतु ।

राजा—किमत पुत्रस्य राज्याभिषेकात् का तमा अविधोगात् च
परमधिकमिच्छामि । तथापि यदि मे भगवा इन्द्र प्रसन्नस्तहि इदमरतु ।
(भरतवाक्य नट-वाक्यम्) परस्परैति—परस्पर विरोधिभ्यो निसर्गं वंश्यो
थीसरस्वत्यो लक्ष्मीवाग्देवतयो एवस्मिन् सश्रयो निवासस्तेन रूपेण दुर्लभ
दुष्प्राप्य सगत सहवास स्ता सम्जनाना भूतये अभ्युदयाय भवतु । यत्र र्थं वंरुति
तत्र सरस्वती न तिष्ठति, यत्र च सरस्वत्या निवासस्तत्र श्रियो वासो न । उभ-
यारेवाश्रये स्थितिदुर्लभा । अत सा एकत्रस्थिति स्ता भवता वृद्ध्यै भवतु ।
अनुष्टुप्वृत्तम् ।

अपिच—सर्वं इति—सर्वं जन दुर्गाणि दु खानि तरतु तेषा फार गच्छतु
सर्वो भद्राणि शुभाविपदयतु । सर्वं कामान् इष्टानि धत्तूनि अवाप्नोतु
समताम् । सर्वं जन सर्वत्र त्रिलोक्या नन्दतु मादताम् । अन्'टुष्कृत् ॥ २५।

(इति निष्क्रान्ता रङ्गाद्बहिर्गताः सर्वे)

पञ्चमोऽङ्कः समाप्तः

समाप्तमिदं विक्रमोर्वशीय नाटकम्

अनुवाद—राजा—इन्द्र ने अनुग्रह किया है ।

नारद—इन्द्र और अधिक तुम्हारी प्रिय बात क्या करें ?

राजा—इससे अधिक और क्या चाहूँ ? तो भी यदि इन्द्र मुझ पर प्रसन्न
है तो यह हो—

(भरतवाक्य)

परस्पर विरोध रखने वाली लक्ष्मी और सरस्वती का एक स्थान पर कठिनाता में मिलने वाला निलाप सदा सञ्जनो के लिए समृद्धि-दायक हो ।

और भी—सब लोग कठिनाइयों को पार करें, सब लोग कल्याण प्राप्त करें । सब लोगों को यथानिलपिन वस्तुओं की प्राप्ति हो । सर्वत्र सब लोग प्रसन्न हों ।

(सब लोग जान हैं)

पाँचवाँ अंक समाप्त हुआ ।

टिप्पणी—अनुगृहीत —अनु + ग्रह् + क्त । क्त प्रत्यय होने पर 'ग्रह्' घातु के ट् को ऋ हो जाती है ।

पाकशासन —पाक शस्तीति । पाक नामन बगुर को वन में करने वाला इन्द्र ।

एकसश्रय-दुर्लभम्—एकश्चासौ सश्रयः इति एकसश्रयः । तत्र दुःखेन रुष्यु नक्षत्रमिति एकसश्रयदुर्लभम् । परस्पर विद्वेषनः इति परस्पर विरोधिन्यौ तयोः ।

विक्रमोर्वशीय नाटक समाप्त हुआ ।